अध्याय ८

# पुनरुत्थान

RESURRECTION

"अपने पुत्र यीशु मसीह हमारे प्रभु के विषय में, जो शरीर के अनुसार दाऊद के वंश से उत्पन्न हुए, और पवित्रता की आत्मा के अनुसार मृतकों में से जी उठने के कारण सामर्थ्य के साथ परमेश्वर के पुत्र ठहरे।" —रोमियों।

"परन्तु यदि मृतकों का पुनरुत्थान है ही नहीं, तो मसीह भी नहीं जी उठा। और यदि मसीह नहीं जी उठा, तो हमारा प्रचार भी व्यर्थ है, और आपका विश्वास भी व्यर्थ है; वरन हम परमेश्वर के झूठे साक्षी ठहरे, क्योंकि हमने परमेश्वर के विषय में यह साक्षी दी कि उसने मसीह को जिलाया, जिसे उसने नहीं जिलाया, यदि सचमुच मुर्दे नहीं जी उठते।" —संत पौलुस।

कुरिन्थियों को लिखी अपनी पहली पत्री में संत पौलुस, जो यीशु के प्रेरितों में सबसे अधिक दार्शनिक थे, बिना किसी हिचकिचाहट के सारे 'नए' सिद्धांत की नींव आत्मा की मृतकों में से जी उठने की शक्ति पर रखते हैं, क्योंकि यदि आकांक्षी जीव के अनुभव में मृत्यु पर विजय न हो, तो धर्म की शिक्षा व्यर्थ है, और उतने ही व्यर्थ हैं निर्वाण में अधिक भरपूर और चिरस्थायी जीवन के वचन। परन्तु मृत्यु पर यह विजय, जिसके बिना धर्म एक दयनीय प्रहसन बनकर रह जाएगा, इसका अर्थ क्या है? पौलुस हमें कोई विद्वत्तापूर्ण निबंध या प्रवचन नहीं देते, बल्कि अपने कथन के प्रमाण में केवल यीशु के उदाहरण का उल्लेख करते हैं। तथापि वे अपने स्वामी के लिए किसी विशेष अथवा दिव्य जन्म का अतिरिक्त श्रेय नहीं मांगते, बल्कि उन्हें शेष मानवजाति के समकक्ष रखते हैं, और उनके पुनरुत्थान के लिए किसी अन्य मनुष्य से अधिक औचित्य का दावा नहीं करते।

पौलुस का तर्क इस सरल कथन में संक्षिप्त हो जाता है:—"क्योंकि यदि मुर्दे नहीं जी उठते, तो मसीह भी नहीं जी उठा।" —(१ कुरिन्थियों १५:१६)अतः मृतकों का पुनरुत्थान ही विवाद का बिंदु है, और स्वयं यीशु का पुनरुत्थान उस निर्णय पर निर्भर करेगा जो इस पर पहुँचा जाए।

पौलुस के मन में इस विषय में कोई कठिनाई नहीं थी; उन्होंने 'पतन' के सिद्धांत और पुनरुत्थान के सिद्धांत के बीच के संबंध को स्पष्ट रूप से देखा। उन्होंने पुनरुत्थान के दावे को 'मनुष्य' की मृत्यु पर विजय पाने की शक्ति पर आधारित किया, और घोषित किया:—"क्योंकि

जैसा मनुष्य के द्वारा मृत्यु आई, वैसा ही मनुष्य के द्वारा मृतकों का पुनरुत्थान भी आया। क्योंकि जैसा आदम में सब मरते हैं, वैसा ही मसीह में सब जिलाए जाएँगे।" —(१ कुरिन्थियों १५:२१-२२)

अतः 'पतन' का सिद्धांत ही वह है जो पुनरुत्थान के सिद्धांत पर भी प्रकाश डालेगा, और पुनरुत्थान के यथार्थ अर्थ को समझने के लिए हमें उसी सिद्धांत की ओर लौटना होगा। हम अब मसीहा के जीवन में 'पतन' के प्रतीकवाद को पूर्ण करने के लिए आगे बढ़ेंगे, ताकि मानव जाति के लिए उसकी सार्थकता ज्ञात हो सके। हम ईसाई मत की योग्यता पर पृथक रूप से विचार नहीं करेंगे, बल्कि इस विषय पर अपने ही विचारों के साथ आगे बढ़ते हुए उसके दावों पर भी विचार करेंगे, और देखेंगे कि वे कहाँ तक सुस्थापित हैं।

आधुनिक विद्वत्ता का वह विचित्र दृष्टिकोण, जो प्राचीन कथाशास्त्र के वास्तविक आधार के रूप में प्रकृति की परिघटनाओं के प्रति 'आदिम' मनुष्य की केवल जंगली सरलता और बालसुलभ विस्मय ही देखता है, बिना किसी विशेष समारोह के अस्वीकार किए जाने योग्य है। इसकी असंगति पहले भी बताई जा चुकी है, और हमारे अन्वेषण के आगे बढ़ने पर यह और भी स्पष्ट होती जाएगी। यदि प्राचीन लोग पढ़ पाते कि आधुनिक विद्वान उनके मानसिक विकास के विषय में क्या कहते हैं, तो निःसंदेह उन्हें इस पर मनोरंजन होता। हम पाठक को यह निर्णय करने के लिए छोड़ते हैं कि श्री जोसेफ मैककेब के अन्यथा उत्कृष्ट ग्रंथ 'बैंकरप्सी ऑफ रिलीजन' (पृ. १६७) से लिए गए निम्नलिखित उद्धरण में निहित आधुनिक दृष्टिकोण का क्या मूल्य है:—

> "यहाँ इन [क्रूसारोपण और पुनरुत्थान] कथाओं के वास्तविक मूल और स्वरूप की जाँच करने का स्थान नहीं है। यह व्यापक रूप से माना जाता रहा है कि वे अंततः शीत ऋतु के आगमन के साथ सूर्य की वार्षिक मृत्यु (अथवा क्षीणता), संक्रांति पर उसके पुनर्जन्म, और वसंत में उसके पुनरुत्थान (जिसके पूर्व प्रायः मृत्यु का नाटकीय प्रदर्शन होता था) की ओर संकेत करती हैं। विभिन्न अक्षांशों में ऋतुएँ इतनी भिन्न होती हैं—उष्णकटिबंधीय और शीतोष्ण जलवायु में सूर्य को इतने भिन्न रूप में देखा जाता है—कि तिथियों का भ्रम सहज ही समझ में आता है। मिस्र में नील नदी का वार्षिक घटना-बढ़ना मुख्य कारक था। सर जे॰जी॰ फ्रेज़र, हालाँकि, यह तर्क देते हैं.....कि ये कथाएँ वनस्पति की आत्मा की वार्षिक मृत्यु और पुनर्जन्म की ओर संकेत करती हैं; अज्ञानी मन के लिए मृत्यु और पुनरुत्थान का यह कहीं अधिक प्रत्यक्ष उदाहरण है। संभवतः दोनों ही दृश्यों का इन कथाओं को प्रेरित करने और गढ़ने में योगदान रहा है....जो स्पष्ट है वह यह है कि आदिम मनुष्य का सरल दर्शन, सूर्य, फूलों और अन्न की वार्षिक मृत्यु

और पुनर्जन्म पर उसका बालसुलभ विस्मय ही उन कथाओं की वास्तविक जड़ है जो आज भी क्रिसमस और ईस्टर के अवसर पर हमारे लाखों पड़ोसियों को तल्लीन किए रहती हैं।"

आधुनिकों के इस दृष्टिकोण का वास्तविक औचित्य, यदि सार्थकता की समझ के इस लोप और ऐसे असीम अज्ञान के लिए कोई औचित्य हो भी सकता है, तो वह धर्मशास्त्री द्वारा प्रस्तुत प्रति-परिकल्पना की बौद्धिक तुच्छता और दिवालियेपन में ही खोजा जाना चाहिए, जो स्वयं भी प्राचीन परंपरा के आलोचक जितने ही आधुनिक हैं!

अपनी व्याख्या को आगे बढ़ाते हुए, पतन वाले अध्याय में यह देखा जा चुका है कि मनुष्य की दयनीय स्थिति आदर्श मनुष्य—आदम—की ओर से इंद्रिय-सुख की लालसा का परिणाम थी। स्मरण रहे कि मनुष्य को इसलिए दंड नहीं मिला था कि उसने विश्व के किसी सर्वशक्तिमान शासक की किसी मनमानी और सनकी आज्ञा का उल्लंघन किया था, बल्कि यह दंड इसलिए आया क्योंकि यह भले और बुरे के ज्ञान की इच्छा का अनिवार्य परिणाम था। परमेश्वर ने अपनी अनंत भलाई में, मानो पहले से ही अपराध के घातक परिणाम की ओर संकेत कर दिया था, परन्तु जब प्रलोभन आया तो उसकी मैत्रीपूर्ण सलाह पर ध्यान नहीं दिया गया। भले और बुरे के ज्ञान की प्यास के अनिवार्य दंड के रूप में मृत्यु को इंगित किया गया था, क्योंकि कहा गया था कि 'जिस दिन तू उसमें से खाएगा उसी दिन तू निश्चय मर जाएगा।' अपने पूर्व अध्याय में पहले से आच्छादित भूमि को दुबारा न दोहराते हुए, यह कहना पर्याप्त होगा कि आदम के पतन में मानव जाति के लिए अमूल्य रहस्य और शिक्षाएँ निहित हैं। यह विशुद्ध इंद्रिय-प्रधान अस्तित्व के विरुद्ध एक चेतावनी है; क्योंकि, यद्यपि विवेक-शक्ति का विकास आवश्यक और वांछनीय है, तथापि उसे केवल वस्तुओं का मूल्य इस आधार पर निर्धारित करने में लगाना कि वे इंद्रियों को कितना सुख दे सकती हैं, नितांत पागलपन के अतिरिक्त कुछ नहीं है। विवेक-शक्ति को इंद्रिय-तृप्ति की सेवा में लगाकर हम स्वयं को उस ज्ञान से वंचित कर लेते हैं जो उसके उचित प्रयोग से प्राप्त होता है। जो मनुष्य अमरत्व प्राप्त करने की आकांक्षा रखता है उसे अपने भीतर के परमेश्वर को अनन्य रूप से समर्पित हो जाना चाहिए; उसे अपने ध्यान पर अन्य सभी दावों को अस्वीकार करना चाहिए। उसे सभी परिघटनाओं में केवल एक ही सत्ता का बोध करना चाहिए, और इस कथन के बल को समझना और साकार करना चाहिए कि 'मैं और मेरा पिता एक हैं'; क्योंकि उपनिषद सिखाता है:—

> "यदि मनुष्य कुछ और नहीं देखता, कुछ और नहीं सुनता, कुछ और नहीं जानता (अपने अतिरिक्त), वह अनंत है; यदि वह कुछ और देखता, सुनता, जानता है, वह सांत है। अनंत ही अमर है, सांत नाशवान है।" (छान्दोग्य उपनिषद, अध्याय ७.२४)

जो मनुष्य इंद्रिय-जगत में निमग्न है, उसके लिए यह सब सदैव उतनी ही बड़ी बेतुकी बात बनी रहेगी जितनी यह धारणा कि चाँद हरे पनीर का बना है। उसे धैर्यपूर्वक तब तक प्रतीक्षा करनी चाहिए जब तक उसके भीतर का दिव्य तत्व उसे भीतर से न जगा दे, और इस बीच वह महर्षि नारद* की मनोवृत्ति अपनाने से बेहतर कुछ नहीं कर सकता, जिन्होंने समस्त वेदों तथा प्रायः अन्य सभी भौतिक विद्याओं को पढ़ लेने के बावजूद घोषित किया कि उनके पास यथार्थ का ज्ञान नहीं है, और वस्तुतः उसे सीखने के लिए सनत्कुमार की खोज में निकल पड़े। उसे यह भी स्मरण रखना अच्छा रहेगा कि अल्पज्ञान भयावह वस्तु है, और केवल उस विद्या से प्राप्त ज्ञान के बल पर, जिसकी परिधि पदार्थ से आगे नहीं जाती, धर्म की शिक्षा और उसके प्रवर्तकों की संतुलित बुद्धि को नकारना तेज़धार वाले औजारों से खेलना है।

अपने अन्वेषण को आगे बढ़ाते हैं। पूर्वज का इतिहास व्यक्ति का इतिहास है, और आदम का तथाकथित पाप हम में से प्रत्येक द्वारा दोहराया जाता है। यह कहना सत्य नहीं है कि आदम के फल खाने से किसी सर्वशक्तिमान परमेश्वर का क्रोध इतना भड़क उठा कि उसने न केवल अपराधी को, बल्कि उसकी समस्त संतति को अनंत काल तक दंड दिया। पितरों ने खट्टे अंगूर खाए और संतानों के दाँत खट्टे हुए, इसलिए नहीं कि किसी न्यायी और दयालु परमेश्वर ने ऐसा निर्णय किया, बल्कि इसलिए कि माता-पिता अपनी संतान को जो गलत संकेत देते हैं, वे ही उनके जीवन को गलत दिशा में ढालते हैं। यह जानकर संतोष होता है कि विश्व के तर्कशील विचारकों ने देवत्व पर ऐसी क्रूर, अपितृवत् और अ-ईश्वरवत् प्रतिशोध के आरोप की स्पष्ट रूप से भर्त्सना की है। रूढ़िवादी ईसाइयों में से भी प्रतिष्ठित पुरुष अब दिव्यत्व की अधिक यथार्थ और गरिमामय धारणा बनाने लगे हैं, और यह आशा करने का पूरा कारण है कि निकट भविष्य में सर्वशक्तिमान के अनियंत्रित क्रोध जैसी कथाएँ हमें अपने ही अज्ञान और भोलेपन पर हँसने के अतिरिक्त कुछ नहीं देंगी।

*यह आख्यान केवल जिज्ञासा की सच्ची मनोवृत्ति को सुझाने के लिए मूल्यवान है; इसे तथ्यों के आख्यान के रूप में पढ़ने का आशय नहीं है।*

जिस प्रकार निर्दोष को दंड देने का विचार परमेश्वर की गरिमा, न्याय और करुणा के हमारे विचारों के विपरीत है, उसी प्रकार यीशु के प्रायश्चित्तस्वरूप बलिदान का विचार भी अज्ञानी विश्वास का शुद्ध सिद्धांत है। इस विषय में हम श्री बर्नार्ड लूकस से सहमत हैं जब वे कहते हैं:—

"नैतिक क्षेत्र में दोषी के स्थान पर निर्दोष को प्रतिस्थापित करना एक ऐसी धारणा है जो नैतिक विचार को ही उलट देती है। अन्यायी के लिए न्यायी को दंडित किए जाने की कल्पना न केवल मानवता की नैतिक चेतना पर एक आघात है; यह परमेश्वर के नैतिक चरित्र का ही विपर्यय है। दोषी के लिए निर्दोष का दुख भोगना हमारे नैतिक स्वभाव और एक हितकारी परमेश्वर में हमारे विश्वास के लिए कठिनाइयाँ उत्पन्न करता है, परन्तु दंड के रूप में उसका मनमाना आरोपण एक ऐसी धारणा है जिसके विरुद्ध आधुनिक मन पूर्णतः विद्रोह करता है। जाति की एकात्मता की धारणा दुख की समस्या पर कुछ प्रकाश डाल सकती है, परन्तु वह ऐसे दुख पर कोई प्रकाश नहीं डालती जो दोषी को बचाने के लिए निर्दोष पर मनमाने ढंग से लगाया गया दंड हो। जो नैतिकता की दृष्टि से बुरा है वह अच्छा धर्मशास्त्र नहीं हो सकता। जिसे हमारे भीतर का सर्वोच्च और सर्वोत्तम तत्व अस्वीकार और भर्त्सित करता है, उसे परमेश्वर स्वीकृति और अंगीकार नहीं दे सकता। प्रतिनिधिक दंड मनुष्य के नैतिक विकास की उस निम्नतर अवस्था का द्योतक है, जिसमें यह नैतिक चेतना के लिए कोई कठिनाई प्रस्तुत नहीं करता था। आज के दिन यह सभ्यता के लिए एक आघात होगा। हमारा धर्मशास्त्र हमारी नैतिकता से परे जाना चाहिए, उससे नीचे नहीं गिरना चाहिए। अब कोई भी मसीह के दुखों को उस दंड के रूप में नहीं मान सकता जिसे उन्होंने इसलिए सहा कि हम बच सकें।" —(क्राइस्ट फॉर इंडिया)

"यीशु में हुए रहस्योद्घाटन ने," श्री लूकस कहते हैं, "हमें न केवल वह परमेश्वर दिखाया है जिसने मानव जीवन में स्वयं को प्रकट किया है; बल्कि उसने हमें वह मनुष्य भी दिखाया है जिसकी कल्पना दिव्य मन ने की है। उसने हमें दिखाया है कि मनुष्यता किस बात में सक्षम है जब उसका जीवन परमेश्वर से पृथकता या विरोध में नहीं, बल्कि उसके साथ सामंजस्य में जिया जाता है।" जिन्होंने इस ग्रंथ के पूर्व पृष्ठों का ध्यानपूर्वक अनुसरण किया है, उन्हें स्मरण कराने की आवश्यकता नहीं कि प्रत्येक मनुष्य के भीतर दो तत्व हैं, अर्थात् आत्मगत अथवा दिव्य, और वस्तुगत अथवा वैयक्तिक, अर्थात् निम्न स्व। इनमें से मसीह दिव्य तत्व के लिए खड़े हैं, जो पाप के विशाल ढेरों के नीचे गहरे दबा हुआ है। इस छिपी हुई दिव्यता को पाप की पकड़ से शुद्ध और मुक्त किया जाना है, तभी वह स्वयं को परमेश्वर के रूप में प्रकट करेगी।

यीशु ने न केवल अज्ञान को दूर करने और भीतर की छिपी हुई दिव्यता को प्रकट करने के लिए 'ज्ञान की कुंजी' के सिद्धांत का उपदेश और प्रचार किया, बल्कि उसे अपने ही जीवन में वास्तविक रूप से प्रदर्शित भी किया। और वे हमें आमंत्रित करते हैं कि हम खोए हुए स्वर्ग को पुनः प्राप्त करने के लिए उनके उदाहरण का अनुसरण करें, जिसका अर्थ वही है जिसे 'जीवन में प्रवेश करना' कहा गया है। क्योंकि किसी की दिव्यता उसी क्षण यथार्थ बन जाती है जब वह हृदय से सचेत और निष्ठापूर्वक कह सकता है, 'मैं और पिता एक हैं' (यूहन्ना १०:३०)। दूसरे शब्दों में, अस्तित्व के एक छोर पर ईश्वरत्व है और दूसरे छोर पर पशुता, तथा बीच का बिंदु—जो क्रिया की स्वतंत्रता, अतः मार्गों के चयन को सूचित करता है—मनुष्य द्वारा अधिकृत है। जीवन के इस हिंडोले में जब पशु-स्वभाव की प्रधानता होती है, तो परमेश्वर-तत्व नीचे चला जाता है, और इसका विपरीत भी सत्य है; और ठीक उसी अनुपात में जिसमें एक को नीचे दबाया जाता है, दूसरे की प्रधानता बढ़ती है। यही क्रूस का सिद्धांत है—इच्छाओं के अहं को क्रूस पर चढ़ाओ और तुम दिव्य बन जाओगे; यथार्थ स्व को दबाओ और तुम तत्काल पशुओं के स्तर पर गिर जाओगे, तथा पशु-अस्तित्व से संबद्ध दुर्दशा और दुख की समस्त विरासत के उत्तराधिकारी बन जाओगे।

यह शरीर को ही मनुष्य मान लेने की भावना है जो हमारे पतन का कारण है। योगवाशिष्ठ में देवों और अंधकार की शक्तियों के बीच एक युद्ध की कथा कही गई है। अंधकार के नेता ने एक दिन अपनी माया-शक्ति से बिना अहंकार के तीन असुर उत्पन्न किए, और उन्हें देवों से युद्ध करने भेजा। देवों ने उनके विरुद्ध कठोर युद्ध किया, परन्तु व्यर्थ। उनके अहंकार-रहित शत्रुओं को अहंकार के अभाव के कारण विनाश का कोई भय नहीं था, और वे अजेय सिद्ध हुए। तब देवों ने ब्रह्मा से परामर्श माँगा, जिन्होंने उन्हें बताया कि उनके शत्रु तब तक नहीं मारे जा सकते जब तक उनमें अहंकार उत्पन्न न हो जाए। जब पूछा गया कि वे शत्रुओं में अहंकार कैसे उत्पन्न करें, तो उन्होंने सुझाव दिया कि वे असुरों को निरंतर युद्धक्षेत्र में खींचें और फिर उनके सामने से पीछे हट जाएँ। युद्ध की इस विचित्र पद्धति का कारण यह बताया गया कि उनके निरंतर युद्ध का ढोंग करने और भाग जाने से भयभीत असुरों के मन में अहंकार की वासना कांच में परछाईं के समान प्रतिबिंबित होने लगेगी, और वे चूहों की भाँति अहंकार के जाल में फँस जाएँगे। देवों ने ब्रह्मा की सलाह का अक्षरशः पालन किया; और लंबा समय बीत गया जिसमें यह विचित्र युद्ध असुरों के अत्यधिक क्षोभ और खीज के साथ चलता रहा। धीरे-धीरे अजेय दानवों के मन में अहंत्व का भाव प्रविष्ट होने

लगा, और उनके हृदयों में भय ने अपना स्थान बना लिया। अब देवों को वे अजेय नहीं लगे, और उन्होंने शीघ्र ही उन्हें परास्त कर दिया।

इस कथा से जो शिक्षा सीखनी है, वह योगवाशिष्ठ में निम्नलिखित शब्दों में वर्णित है:

"तीनों लोकों में तीन प्रकार के अहंकार हैं। इनमें से दो प्रकार के अहंकार सदैव हितकर हैं और एक सदैव निंदनीय। वह ज्ञान जो विवेक के पश्चात हमें यह पहचानने में सक्षम बनाता है कि समस्त लोक और परमात्मा हम स्वयं ही हैं, कि स्व अथवा 'मैं' शाश्वत है और अपने स्व के अतिरिक्त ध्यान करने योग्य अन्य कुछ नहीं है, वह सर्वोच्च अहंकार है। वह ज्ञान जो हमें अपने स्व को धान की नोक से भी अधिक सूक्ष्म तथा सदैव विद्यमान, समस्त ब्रह्मांड के बाहर (अथवा ऊपर) प्रतीत कराता है, वह दूसरे प्रकार का अहंकार है। ये दोनों प्रकार के अहंकार जीवन्मुक्तों में अवश्य पाए जाएँगे और संसार को पार करने के पश्चात उन्हें मोक्ष प्राप्त करने में सक्षम बनाएँगे; परन्तु वे कभी उन्हें बंधन के अधीन नहीं करेंगे। वह निश्चित ज्ञान जो 'मैं' को हाथों, पैरों आदि से बने शरीर के साथ तादात्म्य करता है, तीसरे प्रकार का अहंकार है। यह संसार के सभी व्यक्तियों में सामान्य है और अपने परिणामों में भयावह है। यह पुनर्जन्मों के विषवृक्ष की वृद्धि का कारण है। इसे हर मूल्य पर नष्ट किया जाना चाहिए। इसके प्रभाव अत्यंत, अत्यंत भयावह हैं। जितनी शीघ्र तुम उपर्युक्त दो प्रकार के अहंकारों के माध्यम से इस अहंकार का नाश करोगे, उतनी ही शीघ्र तुम्हारे भीतर ब्राह्मिक तत्व का उदय होगा। तब यदि तुम उस आसन पर दृढ़तापूर्वक स्थित हो जहाँ ये दोनों प्रकार के अहंकार भी एक-एक करके त्याग दिए जाते हैं, तो ऐसी स्थिति ही परिपक्व ब्राह्मिक अवस्था है। दृश्य शरीर (अथवा दृश्यों) के साथ 'मैं' का अ-तादात्म्य ही वह निर्वाण है जिसकी घोषणा वेदों ने की है।"योगवाशिष्ठ की शिक्षा यही है। अब हम सहज ही समझ सकते हैं कि यीशु का क्या अभिप्राय था जब उन्होंने कहा:—

"जो अपने प्राण पाता है वह उसे खो देगा, और जो मेरे लिए अपने प्राण खो देता है वह उसे पा लेगा।"

सीधे शब्दों में इसका अर्थ यह है कि जो अपने जीवन का तादात्म्य निम्नतम, अर्थात् ऊपर वर्णित तीसरे प्रकार के अहंकार, से करता है, वह उसे खो देगा, परन्तु जो उच्चतर, अर्थात् मसीह-तत्व, के लिए निम्न अहंकार, यानी अहं-भाव अथवा अहंकार, का बलिदान करता है, वह (अपने भीतर) निर्वाण पा लेगा।

निम्न का बलिदान ही उच्चतर स्व को प्रकट में लाता है। यह सत्य है कि धर्म अपने अनुयायियों को शांति, अमरत्व और आनंद सहित समस्त वांछित शुभ प्रदान करता है, परन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि उसके वरदान केवल मूल्य चुकाने पर ही प्राप्त होते हैं। चुकाया जाने वाला मूल्य धन अथवा उसका समतुल्य नहीं है, न ही झूठी प्रशंसा, न ही दिखावटी भक्ति, बल्कि इसके अतिरिक्त कुछ नहीं कि निम्न व्यक्तित्व का विनाश हो, अर्थात् उस झूठे, वैयक्तिक स्व का पूर्ण विनाश जो यथार्थ मनुष्य के स्थान पर स्वयं को स्थापित करता है और उसे कठोर बंधन में रखता है। इस प्रकार, अपने ही निम्न स्वभाव का बलिदान, न कि किसी अन्य के जीवन का, मुक्ति का साधन बन सकता है।

बलिदान के यथार्थ अर्थ को समझने के लिए कितना भी परिश्रम करना उचित है। जैनधर्म को छोड़कर सभी धर्मों में हम प्रभु परमेश्वर को बलि चढ़ाने का आदेश पाते हैं। स्वयं वेद भी अज्ञानी और लोभी पुरोहित-वर्ग के हाथों में मूक और निरीह पशुओं के रक्तपात और वध का स्रोत बन गए हैं। पवित्र बाइबिल भी इस विषय में निष्कलंक नहीं है। प्रश्न यह है कि क्या ये शास्त्र वस्तुतः मानव जाति के गौरवीकरण और उद्धार के लिए निर्दोष पशुओं का रक्त बहाने का आदेश देते हैं?

हम यह मानने का साहस करते हैं कि नहीं। इस विषय पर उपलब्ध समस्त शास्त्रों की समालोचनात्मक परीक्षा करना अनावश्यक होगा। हमारा विचार है कि केवल पवित्र बाइबिल की शिक्षाओं की परीक्षा ही यह दिखाने के लिए पर्याप्त होगी कि ऐसे समस्त आदेशों का यथार्थ अर्थ मानव जाति द्वारा घोर रूप से गलत समझा गया है। हम व्यर्थ ही नैतिकता के आधार पर अपने मूक बंधुओं का पक्ष लेंगे। जब मन स्वार्थ और अज्ञान में डूबा हो, तो वह कोमलता और करुणा के किसी विचार से प्रभावित नहीं होता। अतः हम पवित्र बाइबिल की ओर मुड़ते हैं यह देखने के लिए कि पशु-बलि की धारणा को स्वयं यहोवा और यीशु के प्राधिकार से कहाँ तक समर्थन मिलता है। ध्यान दिया जाएगा कि पहली अभिलिखित बाइबिली बलियाँ हाबिल* और कैन की हैं, परन्तु, जैसा पहले ही दर्शाया जा चुका है, इन्हें शाब्दिक रूप में नहीं लिया जाना चाहिए। इस संस्था के समर्थन में कोई दिव्य आदेश प्रतीत नहीं होता। रेवरेंड एफ॰ वाटसन, डी॰डी॰ (देखें कैम्ब्रिज कम्पैनियन टू द बाइबिल) के अनुसार:—

"बलि की संस्था के लिए कोई दिव्य आदेश उद्धृत नहीं किया जा सकता, परन्तु प्राचीनतम काल में सभी राष्ट्रों द्वारा इसके अंगीकार से इसकी दिव्य उत्पत्ति का अनुमान लगाया जा सकता है।"

परन्तु हम देखेंगे कि दिव्य आदेशों द्वारा समर्थित होने के स्थान पर, निर्दोष प्राणियों का रक्त बहाने की प्रथा वस्तुतः बाइबिल में निंदित है। शमूएल पशु-बलि के विरुद्ध अपना स्वर उठाने वाले प्रथम कुछ लोगों में से थे। अपनी मृदु भाषा में:—

"क्या यहोवा को होमबलियों और मेलबलियों में उतना ही आनंद है जितना यहोवा की आवाज़ मानने में? देख, आज्ञा मानना बलिदान से, और सुनना मेढ़ों की चर्बी से उत्तम है।" —(१ शमूएल १५:२२)

भजनकार के मुख से यहोवा ने घोषित किया:

"मैं तेरे घर से बछड़ा, न तेरे बाड़ों से बकरे लूँगा। क्योंकि वन का हर एक पशु मेरा है, और हज़ार पहाड़ों के पशु भी। यदि मैं भूखा होता, तो तुझे न बताता; क्योंकि जगत और उसकी परिपूर्णता मेरी है। क्या मैं साँडों का मांस खाऊँ, या बकरों का लहू पीऊँ? परमेश्वर के लिए धन्यवाद बलि चढ़ा; और परमप्रधान के लिए अपनी मन्नतें पूरी कर।" —(भजन ५०:९-१५)

निश्चय ही दाऊद अस्पष्ट भाषा का प्रयोग नहीं करते जब वे कहते हैं:"हे प्रभु, मेरे होंठ खोल दे; और मेरा मुख तेरी स्तुति करेगा। क्योंकि तू बलिदान से प्रसन्न नहीं होता, नहीं तो मैं उसे देता; तू होमबलि से भी प्रसन्न नहीं है।" —(भजन ५१:१५-१६)

नीतिवचनों की पुस्तक का संकलनकर्ता भी बिना किसी हिचकिचाहट के कहता है:"दुष्ट का बलिदान यहोवा के लिए घृणित है; परन्तु सीधे लोगों की प्रार्थना उसे प्रिय है।" —(नीतिवचन १५:८)उसी प्रकार,"न्याय और धर्म करना यहोवा को बलिदान से अधिक ग्राह्य है।" —(नीतिवचन २१:३)

यशायाह भी यहोवा की इच्छा घोषित करने में उतने ही स्पष्ट और अकाट्य हैं:

"तुम्हारी बहुत सी बलियों से मुझे क्या प्रयोजन? यहोवा कहता है: मैं मेढ़ों की होमबलियों और पुष्ट पशुओं की चर्बी से भरा हूँ; और साँडों, मेमनों या बकरों के लहू से मुझे कोई प्रसन्नता नहीं...अब और व्यर्थ भेंट मत लाओ; धूप मेरे लिए घृणित है; नये चाँद और सब्त, सभाओं का बुलाना, मैं सहन नहीं कर सकता; यह अधर्म है, वह पर्व-सभा भी। तुम्हारे नये चाँद और तुम्हारे नियत पर्व मेरा प्राण घृणा करता है: वे मुझे भारस्वरूप हैं; उन्हें सहते-सहते मैं थक गया हूँ।

और जब तुम अपने हाथ फैलाओगे, मैं तुमसे अपनी आँखें छिपा लूँगा: वरन जब तुम बहुत सी प्रार्थनाएँ करोगे, मैं न सुनूँगा: तुम्हारे हाथ लहू से भरे हैं।" —(यशायाह १:११-१५)

इससे अधिक अकाट्य कुछ और हो सकता है? फिर भी यशायाह ने इस विषय को समाप्त नहीं किया है, और अपने नाम की पुस्तक के अंत की ओर (६६:३) कहते हैं:

"जो बैल का वध करता है वह मानो मनुष्य को मार डालता है; जो मेमने की बलि देता है, मानो कुत्ते की गर्दन काट देता है; जो अन्नबलि चढ़ाता है, मानो सूअर का लहू चढ़ाता है; जो धूप जलाता है, मानो किसी मूर्ति को धन्य कहता है। हाँ, उन्होंने अपने ही मार्ग चुने हैं, और उनका मन उनकी घृणित वस्तुओं में आनंदित होता है।"

होशे के मुख से बोलते समय यहोवा द्वारा प्रयुक्त भाषा भी कम अकाट्य नहीं है:"मैं दया चाहता हूँ, बलिदान नहीं, और होमबलियों से अधिक परमेश्वर का ज्ञान चाहता हूँ।" —(होशे ६:६)यिर्मयाह भी प्रभु का वचन असंदिग्ध शब्दों में घोषित करते हैं:—

"शेबा से मेरे पास धूप और दूर देश से मीठी बेंत लाने का प्रयोजन ही क्या? तुम्हारी होमबलियाँ ग्राह्य नहीं, न तुम्हारे बलिदान मुझे मीठे लगते हैं।" (यिर्मयाह ६:२०)

पुनः, होशे से कहा गया है (होशे ८:१३):

"वे मेरी भेंटों के बलिदानों का मांस अर्पित करते और खाते हैं, परन्तु यहोवा उन्हें ग्राह्य नहीं मानता: अब वह उनके अधर्म को स्मरण करेगा, और उनके पापों का दंड देगा: वे मिस्र (दासत्व) को लौट जाएँगे।"

आमोस के द्वारा हमें मिलता है:—

"मैं तुम्हारे पर्वों के दिनों से घृणा करता, उन्हें तुच्छ जानता हूँ, और तुम्हारी पवित्र सभाओं में मुझे कोई सुगंध नहीं मिलती। यद्यपि तुम मुझे होमबलियाँ और अन्नबलियाँ चढ़ाओ, तौभी मैं उन्हें ग्रहण न करूँगा: न ही तुम्हारे पुष्ट पशुओं की मेलबलियों की ओर दृष्टि करूँगा।" —(आमोस ५:२१-२२)

अतः इसमें बहुत कम संदेह हो सकता है कि जब मूसा ने बलि का आदेश दिया, तो उनका अभिप्राय निरीह, निर्दोष पशुओं के वध से नहीं था; क्योंकि यदि ऐसा होता, तो प्रभु की ओर से घृणा और वितृष्णा के ये उद्गार निरर्थक होते, और वे आगे यह घोषित न करते:

> "अपनी होमबलियों में अपने बलिदान जोड़ो, और मांस खाओ। क्योंकि जिस दिन मैं तुम्हारे पूर्वजों को मिस्र देश से निकाल लाया, उस दिन मैंने उनसे होमबलियों या बलिदानों के विषय में कुछ नहीं कहा था, न आज्ञा दी थी: परन्तु मैंने उन्हें यह आज्ञा दी थी, कि मेरी आवाज़ सुनो, और मैं तुम्हारा परमेश्वर हूँगा, और तुम मेरी प्रजा होगे; और उन सब मार्गों पर चलो जिनकी मैंने तुम्हें आज्ञा दी है, जिससे तुम्हारा भला हो।" —(यिर्मयाह ७:२१-२३)

यहाँ हमें स्वयं प्रभु का प्राधिकार प्राप्त है यह दिखाने के लिए कि वे अंश जो अपने बाह्य अर्थ में बलि का आदेश देते प्रतीत होते हैं, उन्हें शाब्दिक रूप में नहीं, बल्कि किसी छिपे अथवा उच्चतर अर्थ में पढ़ा जाना चाहिए। निःसंदेह यह दुर्बल धर्मशास्त्र है, और वह भी स्वयं अपने परमेश्वर के कथन के विपरीत जाकर, यह मानना कि वे अपनी पशु-सृष्टि के मांस और रक्त से प्रेम करते हैं और उनसे सुखद रूप से प्रभावित होते हैं। दाऊद इसे आधुनिकों से कहीं बेहतर समझते थे। अपने देवता को संबोधित करते हुए वे गाते हैं:

> "बलिदान और भेंट तूने नहीं चाही; मेरे कान तूने खोले हैं: होमबलि और पापबलि तूने नहीं माँगे।" —(भजन ४०:६)

नए नियम के साथ बलिदान की भावना पूर्णतः बदल जाती है। यीशु ने कहा:—"मैं दया चाहता हूँ, बलिदान नहीं।" —(मत्ती ९:१३ और १२:७)

ध्यान दिया जाएगा कि बलि के लिए चुने गए पशु सदैव सांड, मेढ़ा और बकरा ही होते थे। अब, यदि हम यह समझ सकें कि प्राचीन लोगों ने राशिचक्र के चिह्नों और मानव शरीर के प्रमुख अंगों के बीच एक उल्लेखनीय साम्य देखा था, और अपनी सच्ची दर्शनशास्त्र को अपवित्र लोगों से छिपाने के लिए राशिचक्रीय प्रतीकों का प्रयोग किया था, तो उन अंशों के छिपे अर्थ को समझना कठिन नहीं होगा जिनका बाह्य और स्थूल अर्थ पशुओं के निर्दोष जीवन के वध की ओर ले जाता है। इनमें से राशिचक्र के तीन चिह्न हमारे प्रयोजन के लिए विशेष महत्व के हैं, क्योंकि उनके प्रतीक उन तीन पशुओं से समरूप होते हैं जो बलि के लिए सबसे अधिक चुने जाते थे, यद्यपि बाद के समय में अन्य पशु भी बलि-पशुओं की श्रेणी में सम्मिलित हो गए। ये तीन हैं मेष (मेढ़ा), वृष (सांड) और मकर (बकरा)। वराहमिहिर की बृहज्जातक में यह प्रतिपादित है कि "राशिचक्र का प्रत्येक चिह्न मानव शरीर के किसी विशेष अंग द्वारा चिह्नित है; इस प्रकार, मेष सिर द्वारा, वृष मुख द्वारा...मकर घुटनों द्वारा निरूपित है।" —सेक्रेड बुक्स ऑफ द हिंदूज़, खंड ११, पृ. ६-७। शरीर के

अन्य अंगों के वर्णन को हमने छोड़ दिया है, क्योंकि यहाँ हमें उनसे कोई सरोकार नहीं है। संस्कृत मेष, वृष और मकर क्रमशः एरीज़, टॉरस और कैप्रिकॉर्नस के समतुल्य हैं। इस प्रकार, मेढ़ा, सांड और बकरा भी सूक्ष्म-जगत अर्थात् मानव शरीर के तीन महत्वपूर्ण अंगों का निरूपण करते हैं, जो, जैसा रहस्यवादी सिखाते नहीं थकते, बृहत्-जगत अर्थात् ब्रह्मांड का सम्पूर्ण संक्षिप्त रूप है। अब, चूँकि हमारे पास स्वयं यहोवा का प्राधिकार यह दिखाने के लिए है कि उन्होंने कभी होमबलि या बलिदान की आज्ञा नहीं दी (यिर्मयाह ७:२२), हमें यह जानने का प्रयास करना होगा कि जब भविष्यवक्ताओं ने उन बलियों का आदेश दिया तो उनका क्या अभिप्राय था, क्योंकि उन्होंने किसी प्रकार की बलि का आदेश अवश्य दिया था, इसमें कोई संदेह नहीं। देखें कि दिव्य आदेशों और घोषणाओं से इस स्थिति पर क्या प्रकाश पड़ता है। इनमें से कुछ यहाँ प्रस्तुत हैं:

> "परन्तु मैंने उन्हें यह आज्ञा दी थी, कि मेरी आवाज़ सुनो, और मैं तुम्हारा परमेश्वर हूँगा...और उन सब मार्गों पर चलो जिनकी मैंने तुम्हें आज्ञा दी है, जिससे तुम्हारा भला हो।" —(यिर्मयाह ७:२३)

> "मैं दया चाहता हूँ, बलिदान नहीं; और होमबलियों से अधिक परमेश्वर का ज्ञान चाहता हूँ।" —(होशे ६:६)

भजनकार गाता है:—"मैं गीत के साथ परमेश्वर के नाम की स्तुति करूँगा, और धन्यवाद के साथ उसकी महिमा करूँगा। यह सींगों और खुरों वाले साँड या बछड़े से यहोवा को अधिक प्रिय लगेगा।" —(भजन ६९:३०-३१)

> "परमेश्वर के बलिदान टूटी हुई आत्मा हैं; हे परमेश्वर, तू टूटे और पश्चातापी हृदय को तुच्छ नहीं जानेगा।" —(भजन ५१:१७)

सींग और खुर वाला बछड़ा ग्राह्य नहीं, परन्तु जिसके सींग और खुर नहीं—वही वांछित है—मुख का गर्व बलि किया जाना चाहिए; बलिष्ठ गर्दन को परमेश्वर के आगे झुकना चाहिए।

नीतिवचनों की पुस्तक में हमें बताया गया है:"न्याय और धर्म करना यहोवा को बलिदान से अधिक ग्राह्य है।" —(नीतिवचन २१:३)

यीशु इस बात को और भी अधिक बल के साथ कहते हैं जब वे कहते हैं:"और उसे सारे हृदय, सारी समझ, सारे प्राण और सारी शक्ति से प्रेम करना, तथा अपने पड़ोसी से अपने समान प्रेम करना, समस्त होमबलियों और बलिदानों से बढ़कर है।" —(मरकुस १२:३३)

अंततः, पौलुस समस्त गोपनीयता का प्रयत्न त्यागकर रोमियों को लिखी अपनी पत्री में इस दीर्घकाल से सुरक्षित रहस्य को प्रकट करते हैं। वे लिखते हैं:

> "इसलिए, हे भाइयो, मैं तुमसे परमेश्वर की दयालुता के द्वारा विनती करता हूँ, कि तुम अपने शरीरों को जीवित, पवित्र और परमेश्वर को ग्राह्य बलिदान करके चढ़ाओ, यही तुम्हारी युक्तियुक्त सेवा है।" —(रोमियों १२:१)

जिस प्रकार प्राचीनों की ज्योतिषशास्त्र में मेढ़ा, सांड और बकरा राशिचक्रीय पुरुष (काल पुरुष) के सिर, मुख और घुटनों के लिए खड़े हैं, उसी प्रकार प्रतीकात्मक साम्य के विज्ञान में वे अहंकार, शक्ति के गर्व और कामुकता* के लिए भी खड़े हैं। अतः, भविष्यवक्ताओं द्वारा जो आदेशित है वह निम्न अहंकार, गर्व और कामुक इच्छा की बलि है, न कि सबसे दयालु परमेश्वर के नाम पर वध किए गए पशुओं के मृत अथवा मरणासन्न शरीरों की भेंट। वे केवल उसी से प्रसन्न होते हैं जो अपने शरीर को जीवित बलि के रूप में अर्पित करता है।* गर्व और कामुकता के समस्त चिह्नों को कुचलकर टूटी हुई आत्मा ही वह बलि है जो प्रभु को तत्काल ग्राह्य है। परन्तु हमें यह देखना होगा कि यह फरीसी-कपट की भावना में न किया जाए। जब भक्त झुके सिर, झुकी गर्दन और घुटनों के बल अपने निम्न व्यक्तित्व अथवा अहंकार को अर्पित करता है, तो वह भेंट अवश्य ही स्वीकार की जाती है, और भेंट करने वाले को इसके पुरस्कार-स्वरूप शाश्वत जीवन से नवाज़ा जाता है।

यह ऐसा क्यों है, यह देखना सरल है। व्यक्तित्व के गर्व अर्थात् अहंकार से फूली हुई आत्मा ने अपने चारों ओर इच्छाओं की अनेक कुंडलियाँ लपेट ली हैं, और 'रस्सियों' की कसावट से पीड़ित होती है। और इसमें विचित्र बात यह है कि यद्यपि वह पीड़ा से चीखती, चिल्लाती और कराहती है, तथापि उसका गर्व कम नहीं होता, बल्कि बढ़ता ही जाता है, और अज्ञान की रस्सियाँ उसके मांस में और गहरी कटती जाती हैं। सैकड़ों-हजारों प्राणी इसी स्थिति में जन्म लेते और मरते हैं, कभी यह जानने की परवाह न करते हुए कि उनकी असह्य पीड़ा का कारण क्या है; और फिर भी निदान हो जाने पर उपचार पर्याप्त सरल है। रस्सियाँ त्वचा में गहरी कटती जाती हैं, क्योंकि वह भीतर से फूली हुई है। इसका कारण अहंकार है। क्या अब हमें उपचार बताने की आवश्यकता है? विचारशील व्यक्ति के लिए यह स्पष्ट है। अहंकार में से थोड़ी वायु निकाल दो, और तुरंत राहत मिलेगी। अहंकार को पूर्णतः निकाल दो, और पीड़ा समाप्त हो जाएगी। इसी कारण महान गुरु

शंकराचार्य अपने लेखों में कहीं कहते हैं कि स्व-साक्षात्कार की समाधि (तंद्रा) कुछ ही मिनटों में सौ वर्षों के पापों को दूर कर देती है। मान लीजिए हम किसी फुलाए हुए शरीर के चारों ओर कई मील लंबी एक रस्सी कसकर लपेट दें, और फिर उसे यथासंभव शीघ्रता से उतारने का प्रयत्न करें। इसके करने के दो प्रमुख उपाय हैं: एक है कुंडलियों को एक-एक करके उतारने की थकाऊ पद्धति, परन्तु दूसरी, और कहीं अधिक शीघ्र, पद्धति यह है कि फुलाए हुए शरीर से वायु निकाल दी जाए, जिससे सभी कुंडलियाँ अपने आप एक साथ गिर जाएँगी। पाप, जो आत्मा पर संचित दुष्ट कर्मों का जमाव है, के साथ भी यही स्थिति है। फुलाए हुए शरीर और आत्मा में यह अंतर है कि जहाँ पूर्व बाह्य वायु से भरा है, वहीं आत्मा अपने ही अहंकार से फूली हुई है, क्योंकि अहंकार तो व्यक्तित्व का गर्व मात्र है। दुष्ट कर्म आत्मा को 'मेरा' और 'मेरी' की धारणा से बनी रस्सी से हाथ-पैर बाँध देते हैं; और जैसे-जैसे उसकी चेतना में मेरे-तेरे का भाव बड़ा होता जाता है, उसे अधिकाधिक पीड़ा का अनुभव होता है। परमेश्वर, मानो, उसकी सहायता के लिए सदैव तत्पर है, परन्तु जब तक कोई बलि अर्पित नहीं की जाती, वे ऐसा नहीं कर सकते। अज्ञानी लोग मूक पशुओं के वध का सुझाव देते हैं, परन्तु भीतर का परमेश्वर रक्त नहीं चाहता, क्योंकि बलि-वध में निहित क्रूरता के परिणामस्वरूप वह केवल दुष्ट कर्म की कुंडलियों को और कस सकता है। इस प्रकार, वह एकमात्र बलि जिसे परमेश्वर स्वीकार कर सकते हैं, वह आत्मा के अहंकार के सिर, गर्दन (अथवा मुख) और घुटनों की है, जिन्हें प्राचीन लोगों ने क्रमशः मेढ़े, सांड और बकरे के रूप में प्रतीकित किया। यह संक्षिप्त विश्लेषण, हम आशा करते हैं, धार्मिक उत्सवों के अवसरों पर दयालु परमेश्वर के नाम पर होने वाले अनावश्यक और हानिकारक वध पर रोक लगाएगा। यहूदियों और मुसलमानों को हम पुराने नियम और क़ुरान में निहित उनके परमेश्वर की घोषणाओं पर गंभीरता से विचार करने की संस्तुति करते हैं। हिंदुओं में से जो इस अमानवीय कर्मकांड में लिप्त हैं, उन्हें हम सुझाव देते हैंकि वे अपने ही शास्त्रों का अध्ययन करें, जो अपने गूढ़ अथवा यथार्थ अर्थ में किसी भी दशा में जीवन की बलि का आदेश नहीं देते। वे प्राचीन ऋषि, जिनकी विचार-सूक्ष्मता उन्हें आरंभ में ही यह पूछने पर विवश करती है कि 'वह कौन-सा परमेश्वर है जिसे हम बलि अर्पित करें?', और जो उसे समस्त प्राणियों के हृदयों के वासी के रूप में पाते हैं—ऐसे ऋषि, हम पूछते हैं, ऐसे परमेश्वर को कोई पशु-बलि कैसे आदेशित कर सकते थे? पुनः, वे संन्यास का ऐसा पूर्ण और संपूर्ण विधान कैसे कर

सकते थे जो अहंकार का नाश करे, और फिर भी उसी अहंकार के हित के लिए रक्तरंजित बलियों के अनुष्ठान पर बल दें?

> *किसी भी व्यक्ति के लिए जिसने वेदों का अध्ययन किया है, यह स्पष्ट है कि पशु-बलियों के संदर्भ में मूल पाठ में प्रयुक्त शब्द बाह्य के साथ-साथ गूढ़ व्याख्या के भी सक्षम हैं। उदाहरण के लिए, अश्व शब्द केवल घोड़े का ही नहीं, बल्कि मन का भी द्योतक है। मन शरीर को उसी प्रकार खींचता है जैसे घोड़ा रथ को खींचता है। अब, चूँकि शरीर को प्रतीकात्मक रूप से एक रथ के रूप में दर्शाया जाता है, अतः जो उसे खींचता है उसे अश्व (घोड़ा) कहा जा सकता है। अतः घोड़ा इच्छुक मन का प्रतीक है। इसी प्रकार, 'अज' शब्द का बाह्य अर्थ मेढ़ा अथवा बकरा है, परन्तु गूढ़ अर्थ में इसका अर्थ कामुक स्वभाव है। अतः घोड़े और बकरे की बलि का आदेश गूढ़ रूप से केवल इच्छुक मन और कामुकता की ही बलि का द्योतक था, जिसके बिना मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। हिंदू शास्त्रों का गोमेध भी इसी प्रकार आत्म-त्याग का द्योतक है, गो (गाय) प्राण अथवा जीवन का प्रतीक है, पशुता के अर्थ में।*

वेद स्वयं भी बलि देने वाले और बलि में कोई असंदिग्ध शब्दों में तादात्म्य की ओर संकेत करते हैं। इस संदर्भ में प्रासंगिक निम्नलिखित पाठ उद्धृत किए जा सकते हैं:—१. "बलि देने वाला स्वयं ही पशु है। यह (बलि) स्वयं बलि देने वाले को ही स्वर्ग ले जाती है (तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.१२.४.३)।"२. "बलि देने वाला ही पशु है (शतपथ ब्राह्मण ११.१.८.३)।"३. "पशु अंततः बलि देने वाला स्वयं है" (तैत्तिरीय ब्राह्मण २.२.८.२)।४. "बलि देने वाला ही वास्तव में बलि है" (तैत्तिरीय ब्राह्मण १.२८)।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हमने यहाँ जिन सभी धर्मों की परीक्षा की है, वे इस बात पर एकमत हैं कि जिसका आदेश दिया गया है वह अपने ही निम्न स्वभाव की बलि है, न कि बेचारे, निरुपद्रवी पशुओं की।

अतः, आइए हम परमेश्वर को वे बलियाँ अर्पित करें जो उन्हें प्रिय और ग्राह्य हैं, और उनके पवित्र नाम में निर्दोष रक्त बहाने से बचें। सींग और खुर वाले साँड को बलि-वेदी पर उसके स्थान पर बदल दिया जाए जिसके सींग और खुर नहीं, अर्थात् अपनी ही गर्दन से, जो मानव-गर्व और दंभ का प्रतीक और आसन है। मेढ़ा और बकरा, जिन्हें अब तक उन्हीं नामों के पशु समझा जाता रहा है, अब बलि देने वाले के अपने ही अहंत्व और कामुक स्वभाव बन जाते हैं। आइए हम भविष्य में परमेश्वर को झुके घुटनों और झुके सिर के साथ केवल निःस्वार्थ स्तुति ही अर्पित करें, और हम शीघ्र ही पाएँगे कि यही भेंट बलि देने वाले के लिए आनंद और आशीष का स्रोत है।

समस्त प्रकार की पूर्णता के प्रतिरूप परमेश्वर को हमारी उपासना की कोई आवश्यकता ही नहीं है; बल्कि हम ही अपने वैयक्तिक कल्याण के लिए उनकी उपासना करना चाहते हैं। भीतर

की दिव्यता तब तक प्रकट में नहीं आ सकती जब तक गणना करने वाला, हड़पने वाला अहं हमारे हृदयों में सर्वोच्च स्थान अधिकृत रखता है। इससे तार्किक रूप से यह निष्कर्ष निकलता है कि किसी अन्य के रक्त की कितनी भी मात्रा आनंदमय ईश्वरत्व को प्रकट में नहीं ला सकती, जब तक हिंडोले का निम्न छोर चेतना की देहरी से ऊपर बना रहता है; और आगे यह भी निकलता है कि हमारे लिए अपने ही यथार्थ स्वभाव की अनुभूति सुनिश्चित करने में सफल हो सकने वाली एकमात्र बलि अहंत्व-भाव का विनाश ही है।

बलि-प्रतीकवाद की अपनी व्याख्या को पूर्ण करने के लिए हमें यह देखना होगा कि राशिचक्रीय पुरुष प्रकृति की अन्य समस्त वस्तुओं की भाँति धनात्मक और ऋणात्मक भागों से मिलकर बना है (बृहज्जातक)। चार चतुष्पदों—सिंह, मेढ़ा, सांड और बकरा—द्वारा निरूपित चार प्रकार की प्रवृत्तियों में से एकमात्र धनात्मक निर्भयता है, जो सिंह द्वारा प्रतीकित है। अब, चूँकि बलि का उद्देश्य अपनी छिपी हुई ईश्वरत्व की प्राप्ति है, अतः केवल वे प्रवृत्तियाँ जो ऋणात्मक हैं, अर्थात् जो ऋणात्मकता उत्पन्न करती हैं, अतः दुर्बलता, ही नष्ट की जानी हैं। इसी कारण प्राचीनों ने मेढ़े, सांड और बकरे को, जो आत्मा के स्वभाव में ऋणात्मक अर्थात् दुर्बल करने वाली प्रवृत्तियों के प्रतीक हैं, उच्चतर स्व को प्रसन्न करने हेतु बलि-भेंट के लिए चुना।

उच्चतर स्व शुद्ध इच्छा है जो केवल तभी प्रकट में आती है जब दुर्बल करने वाली प्रवृत्तियों को नियंत्रण में लाया जाता है। अतः जो कुछ आत्मा से दुर्बलता दूर करता है, वह सीधे इच्छा-शक्ति का विकास करता है; दूसरे शब्दों में, इच्छा-शक्ति का विकास केवल उन सभी प्रवृत्तियों, झुकावों और भावनाओं के, जो मुक्ति के मार्ग में बाधक हैं, जान-बूझकर उन्मूलन अर्थात् बलिदान द्वारा ही हो सकता है। अतः यह स्पष्ट है कि कामुकता, गर्व, लोभ, और इस प्रकार की अन्य समस्त प्रवृत्तियों और भावनाओं को उच्चतर स्व (इच्छा-शक्ति) को प्रसन्न (विकसित) करने के लिए बलि के रूप में अर्पित करना होगा।

अतः हम कह सकते हैं कि किसी अन्य के जीवन की बलि कभी मुक्ति का साधन नहीं हो सकती; इसके विपरीत, यह व्यर्थ बलि देने वाले के लिए निकृष्टतम प्रकार के कर्मों को जन्म देना निश्चित है, क्योंकि रक्त के दर्शन अथवा गंध से इच्छा-शक्ति का विकास कभी नहीं हो सकता। यह वासनाएँ हैं, और केवल वासनाएँ ही हैं, जो इससे बढ़ती और सुदृढ़ होती हैं; परन्तु वासनाएँ

केवल बुद्धि को धुंधला और हृदय को कठोर करती हैं। अतः न ज्ञान, न पवित्रता, पशु अथवा नर-बलि से उत्पन्न हो सकती है।

जैसा पूर्व अध्याय में बताया गया, पुनरुत्थान का अर्थ है मृत्यु पर विजय और आत्मा, अर्थात् स्व, की स्वाभाविक पवित्रता की अनुभूति। अब, चूँकि इस स्वाभाविक पूर्णता की अनुभूति स्वयं के प्रयत्न पर निर्भर है, न कि किसी अन्य की योग्यता, कृपा अथवा अनुग्रह पर, अतः यह कल्पना से परे है कि कोई बाह्य शक्ति किसी भी प्रकार आत्मा को मृत्यु की जकड़ से मुक्त कर सकती है। इस संबंध में कोई अन्य किसी के लिए अधिकतम यही कर सकता है कि वह आत्मा में छिपी और सुप्त शक्तियों की ओर उसका ध्यान आकर्षित करे; और इस सीमा तक किसी उपयुक्त योग्य गुरु से शिक्षा लेना अनुमत है। परन्तु न तो बलि और न ही प्रतिनिधिक प्रायश्चित्त, आत्मा का ध्यान उसकी अपनी शक्तियों की ओर आकृष्ट करने में दूरतम रूप से भी सक्षम है। इसी कारण, दोनों ही समान रूप से पुण्य और पुनर्जन्म के बीजों से रहित हैं।

मनुष्यत्व की स्थिति को प्राप्त होकर, जीव के पास अपनी दिव्य इच्छा के उचित प्रयोग द्वारा मुक्ति प्राप्त करने का चुनाव है, अतः शक्ति है। वह अपनी ऊर्जाओं को परिघटनात्मक की दिशा में निर्देशित कर सकता है, और भले-बुरे के ज्ञान की खोज में स्वयं को खो सकता है, अथवा दृढ़तापूर्वक संसार की ओर पीठ फेरकर अपने अमर, आनंदमय स्व की अनुभूति में लीन हो सकता है। पहला मार्ग व्याधि, रोग, मृत्यु और नरक की ओर ले जाता है, परन्तु दूसरा मोक्ष-मार्ग ही है—अखंड आनंद और आशीष की राह।

आनंद की प्राप्ति केवल उन्हीं के लिए संभव है जो अस्तित्व के हिंडोले के पशु-छोर को तटस्थता के स्तर से नीचे धकेलते हैं, और इस प्रकार परमेश्वर-छोर को ऊपर उठाते हैं।

बाइबिल के अनुसार, आदम ने वस्तुगत विवेक की शक्ति के अर्जन के लिए प्रयत्न किया, और इस प्रकार अपने निम्न स्वभाव का विकास किया, जिसके परिणामस्वरूप हिंडोले का परमेश्वर-छोर नीचे चला गया और पशु-छोर सबसे ऊपर हो गया।

यीशु, गॉस्पेल की कथा के रहस्य को समझते हुए, निम्न छोर को नीचे धकेलना आरंभ किया, और गोलगोथा के स्थान पर ऐसा करने में सफल हुए। भीतर के मसीह का रक्त, न कि ऐतिहासिक यीशु का, हमारे हाथों पर है। जिस आदर्श की प्राप्ति हेतु हमें अपने हृदय का रक्त देना चाहिए था, उसे हम स्वयं वध कर रहे हैं; और इसी अपराध का दोष हमारी आत्माओं पर भारी पड़ा

हुआ है। तभी उच्चतर की प्रधानता होती है जब निम्न स्वभाव वध हो जाता है। 'यीशु' को दुख सहना ही होगा, ताकि 'मसीह' प्रकट हो सके; और स्वयं मसीह को भी 'पिता' की महिमा के पूर्ण तेज को प्रकट में लाने के लिए मार्ग देना होगा। यहाँ मसीह ईश्वर-मनुष्य के लिए, अथवा उस अवस्था के लिए खड़े हैं जिसमें निम्न स्वभाव के चिह्न पूर्णतः नष्ट नहीं हुए हैं, यद्यपि वे सभी न्यूनाधिक रूप से दमित हैं। यह, हालाँकि, उस बात से बहुत भिन्न है जिसे पादरीगण नए नियम का यथार्थ सिद्धांत मानने के लिए हमें विश्वास दिलाना चाहते हैं। जो लोग बाइबिल की शिक्षा को पादरी-दृष्टिकोण में लेते हैं, उन्हें श्री लूकस, क्राइस्ट फॉर इंडिया के लेखक, के गंभीर विचारों पर मनन करना अच्छा रहेगा, जिन्हें हम यहाँ पुनरुत्पादित करते हैं:—

> "आधुनिक मन खुले तौर पर यह मानता है कि उसके धर्मशास्त्र का आधार बाइबिल नहीं है, जिसे एक अचूक ग्रंथ माना जाए जिसके शब्द और विचार-रूप ही वे साँचे हों जिनमें उसके धार्मिक विचारों को ढाला जाना चाहिए, बल्कि जाति का, और सर्वोपरि यीशु का, धार्मिक अनुभव है, जो परमेश्वर के विचार और मन की सर्वोच्च अभिव्यक्ति है। यह बाइबिल में मानवता के समृद्धतम धार्मिक अनुभव को पाता है, परन्तु यह यह भी पहचानता है कि वह अनुभव ऐसे विचार-रूपों में अभिव्यक्त हुआ है जो अनिवार्यतः अस्थायी हैं, उस युग के प्रतिनिधि हैं जिसमें लेखक जिए, और उस विश्व-दृष्टि से रंगे हुए हैं जिसे वर्तमान युग पीछे छोड़ चुका है। धार्मिक अनुभव का स्थायी मूल्य है, परन्तु उसकी अभिव्यक्ति अनिवार्यतः प्राचीन है। धार्मिक अनुभव को आधुनिक मन के लिए एक जीवंत यथार्थ केवल उसी अनुपात में बनाया जा सकता है जिस अनुपात में उसकी अभिव्यक्ति को अप्रचलित विचार-रूपों के स्थान पर वर्तमान प्रचलन के रूपों से प्रतिस्थापित कर परिवर्तित किया जाए। बाइबिली अभिव्यक्ति को सुरक्षित रखना प्रायः धार्मिक अनुभव की यथार्थता की बलि देना है, जिसके परिणाम वर्तमान धर्म के लिए घातक हैं।"

इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता कि यही सचमुच उत्साही मन का सही दृष्टिकोण है। धर्म को सामान्य बुद्धि (आवश्यक नहीं कि नगर-सेठ अथवा भौतिकवादी प्राध्यापक की सामान्य बुद्धि, बल्कि जाति के ऋषियों की सामान्य बुद्धि) के अनुरूप होना चाहिए; यह तर्कवाद के प्रति शत्रुतापूर्ण रवैया अपनाकर कभी सत्य नहीं हो सकता। जब हम बाइबिल को विभिन्न भविष्यवक्ताओं और द्रष्टाओं के विचारों के, उनके प्रकाश के अनुसार, संग्रह के रूप में देखते हैं, न कि ऐतिहासिक अथवा धार्मिक घटनाओं अथवा अनुभवों के अचूक अभिलेख के रूप में, तो हम

गलत नहीं हो सकते। बाइबिल के किसी भी भविष्यवक्ता को अचूक नहीं माना जा सकता, और उनके लेखन हमारे लिए जो एकमात्र उपयोगी प्रयोजन सिद्ध करते हैं वह यह है कि हम उनकी सहायता से दिव्य अभिव्यक्ति की मात्रा का अनुमान लगा सकते हैं, और साथ ही अपने ज्ञान के भीतर के तथ्यों से हम स्वयं जो निष्कर्ष निकाल सकते हैं उनकी जाँच भी कर सकते हैं। मनुष्य को धार्मिक अभिलेखों को जैसे वे हैं वैसे ही ग्रहण करना चाहिए, और स्वयं सत्य को समझने का प्रयत्न करना चाहिए। उसे उस बात को अस्वीकार करने के लिए तत्पर रहना चाहिए जो अनुभव के तथ्यों अथवा अच्छी, संतुलित सामान्य बुद्धि के अनुकूल नहीं है। तभी वह धर्म को समझ पाएगा। परमेश्वर के प्रथम और एकमात्र जन्मे पुत्र द्वारा प्रतिनिधिक प्रायश्चित्त का रूढ़िवादी सिद्धांत, यदि शाब्दिक रूप में लिया जाए, तो आरंभ में ही ध्वस्त हो जाता है। परमेश्वर ने घोषित किया (यशायाह ४३:११):

"मैं, हाँ मैं ही यहोवा हूँ; और मेरे अतिरिक्त कोई उद्धारकर्ता नहीं।"

इसी आशय की बात सभोपदेशक ४:८ में भी है:—"एक ही है, दूसरा नहीं है; न उसका पुत्र है न भाई।"

इस विषय पर अधिक समय व्यय करना व्यर्थ होगा; यह कहना पर्याप्त है कि रूढ़िवादी सिद्धांत के पक्ष में न बाइबिल में और न ही उससे बाहर कोई प्रमाण-शब्द है।

यदि (रूढ़िवादी ईसाइयत जिस अर्थ में उस अभिव्यक्ति का प्रयोग करती है, उस अर्थ में) परमेश्वर का यथार्थ पुत्र मानव जाति को पाप से बचाने और अपने जीवन की बलि देने के लिए, जिससे मानवता का उद्धार हो सके, संसार में उतरा होता, तो वह यीशु के आचरण से बिल्कुल भिन्न ढंग से आचरण करता। भेद का पहला बिंदु ही शिक्षण-पद्धति में है। कोई समझ सकता है कि यीशु ने दृष्टांतों और संक्षिप्त, सारगर्भित सूक्तियों में क्यों बात की, जो अपने छिपे अर्थ के लिए उल्लेखनीय हैं। इसका कारण ऋषियों के उस प्राचीन सूत्र में मिलता है, जो विशेष रूप से हर्मीज़ से जोड़ा जाता है, कि 'ज्ञान के होंठ समझ के कानों के अतिरिक्त सबके लिए सिले हुए हैं।'

यह मार्ग अपनाना इसलिए आवश्यक हुआ क्योंकि:

(१) परम सत्य इतना विस्मयकारी और मनुष्यजाति की सामान्य समझ से इतना परे था कि यह प्रयास करना शायद ही उचित समझा गया कि वे भी इसे समझें;

(२) अज्ञानी अविश्वास के उपहासपूर्ण रवैये को कई कम-प्रगत गुरुओं के मन पर हानिकारक प्रभाव डालते हुए जाना गया है, और

(३) प्रचारक सामान्यतः हिंसा और भीड़-न्याय का शिकार होता था, और कभी-कभी अपने जीवन से भी इसका मूल्य चुकाता था।

यहूदियों का यीशु के प्रति रवैया वही था जो अज्ञानी कट्टरता ने सदैव प्रबुद्ध ऋषियों के प्रति अपनाया है; और बाइबिल उनके प्रति यहूदियों के हत्यारे इरादे और दुष्ट योजनाओं की गवाही देती है। यीशु, ऋषियों की प्राचीन शिक्षा में सुपरिचित होने के कारण, गोपनीयता के सिद्धांत को भली-भाँति समझते थे, और उन्होंने इसे दूसरों को खुले रूप में सिखाया भी। उन्होंने घोषित किया:

> "जो पवित्र है उसे कुत्तों के आगे मत डालो, न ही अपने मोती सूअरों के आगे फेंको, कहीं ऐसा न हो कि वे उन्हें अपने पैरों तले रौंदें, और मुड़कर तुम्हें फाड़ डालें।"

अब यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त में से कोई भी कारण किसी सर्वशक्तिमान परमेश्वर अथवा उनके पुत्र के मामले में लागू नहीं होगा, और इसलिए स्वाभाविक रूप से यह अपेक्षा की जाएगी कि परमेश्वर का यथार्थ पुत्र बिना किसी भय अथवा पक्षपात के सर्वोच्च सत्य बोले—एक ऐसा गुण जिसमें यीशु निश्चय ही न्यून पाए गए।

फिर, परमेश्वर का यथार्थ पुत्र यीशु के निम्नलिखित कथनों में स्पष्ट प्रतीत होने वाले भेद और अंतर करते हुए नहीं पाया जाता:—

> "मैं इस्राएल के घराने की खोई हुई भेड़ों के अतिरिक्त और किसी के पास नहीं भेजा गया।""बच्चों की रोटी लेकर कुत्तों के आगे डालना उचित नहीं है।"

परमेश्वर की दृष्टि में निश्चय ही उनकी सभी सृष्टियाँ समान हैं, और कृपापात्र राष्ट्र की धारणा को क्रूर आत्म-दंभ और बर्बर आत्म-गौरव के अतिरिक्त कुछ नहीं माना जा सकता। यदि, हालाँकि, हम यीशु द्वारा किसी अन्य अवसर पर कहे गए शब्दों को ध्यान में रखें, तो उनकी स्थिति स्पष्ट हो जाती है। "क्योंकि मनुष्य का पुत्र उसे बचाने आया है जो खो गया था" यह हमें शेष मानवजाति के प्रति उनके दृष्टिकोण की स्पष्ट अंतर्दृष्टि देता है। वे जानते थे कि बहुत से ऐसे थे जो खोए नहीं थे, और उनके लिए वे नहीं आए थे। वे लोग जिनसे उन्होंने अपना सुसमाचार सीखा था वहीं थे, और यह नहीं माना जा सकता कि वे अपने ही गुरुओं को सिखा रहे थे। यीशु की शिक्षा के विषय में हमारा जो भी दृष्टिकोण हो, यह निश्चित है, संदेह की किसी संभावना से परे, कि वे विश्व को कुछ

नया नहीं सिखा रहे थे, और इसलिए, जो सत्य जानते थे उन्हें उनकी सहायता अथवा मार्गदर्शन की कोई आवश्यकता नहीं थी। कनान की स्त्री के प्रति उनका रवैया भी अब स्पष्ट हो जाता है, और सीधे शब्दों में इसका अर्थ यह है कि उनके जीवन का लक्ष्य उन लोगों तक प्रबोधन पहुँचाना था जो अंधकार में थे, परन्तु उनमें से भी जिन्हें बेहतर 'भूमि' माना जा सकता था, उनकी प्राथमिक चिंता थी, क्योंकि वहाँ बीज शीघ्रता से तीस-, साठ-, अथवा सौ-गुना फसल देगा, जैसा, उन्होंने सोचा, इस्राएलियों के साथ था। यीशु का विश्वास था कि मूसा के सिद्धांतों और यहोवा के आदेशों ने, मानो, इस्राएल में सत्य के बीज को ग्रहण करने के लिए भूमि तैयार कर दी थी, और इसी कारण उन्होंने स्वयं को उनके उत्थान के लिए समर्पित किया। जो लोग आध्यात्मिक तत्वमीमांसा से अपरिचित थे उन्हें जीवन का दर्शन सिखाने का कार्य उनके मन को आकर्षित नहीं करता था; न ही यह किसी अन्य व्यक्ति के मन को सदैव आकर्षित करता है। हम इस सिद्धांत को अपने साधारण जीवन में भी प्रतिदिन कार्य करते देखते हैं। यदि कोई अज्ञानी, अनपढ़ ग्रामीण और एक शिक्षित व्यक्ति किसी अग्रणी प्राध्यापक से, मान लीजिए उच्च गणित में, शिक्षा के लिए आवेदन करें, तो यह स्पष्ट है कि वे किसे अपने शिष्य के रूप में स्वीकार करेंगे। पहले को इसलिए अस्वीकार किया जाएगा नहीं कि प्राध्यापक उसे सिखा नहीं सकते, बल्कि इसलिए कि उसे उच्चतर पाठ्यक्रम की तैयारी हेतु प्रारंभिक गणित में उचित आधार प्राप्त करने के लिए कहीं और जाना होगा, जबकि दूसरा, अपनी पूर्व शिक्षा में 'भूमि' की उर्वरता और अच्छाई प्रस्तुत करते हुए, सहज ही शिक्षित किया जाएगा। इसी सिद्धांत पर कार्य करते हुए, यीशु ने कनान की स्त्री के विलाप पर ध्यान देने से इनकार किया, जब तक उसके अत्यंत सारगर्भित उत्तर—"सत्य है प्रभु: तौभी कुत्ते अपने स्वामियों की मेज़ से गिरे टुकड़े खाते हैं"—ने उन्हें आश्वस्त नहीं किया कि उसके हृदय में विश्वास की महान क्षमता है। आधुनिक धार्मिक मिशनरी की बेतुकी बात को दिखाने के लिए हमें केवल उद्धारकर्ता के रवैये से एक तुलना करनी होगी। पूर्व ने केवल खोई हुई भेड़ को बचाने का दावा किया, परन्तु दूसरा, अपने अंधे उत्साह में, अपने से भी अधिक प्रबुद्ध लोगों को सिखाने का साहस करता है। उन लोगों से वह कैसे आदर की आशा कर सकता है जिनके पास उन विषयों का गहन ज्ञान है जिनसे वह स्वयं, अधिक-से-अधिक, अत्यंत सतही और अपर्याप्त रूप से परिचित है? ईसाई पादरी-वर्ग में भी रेवरेंड एच॰ ई॰ सैम्पसन, 'द प्रोग्रेसिव क्रिश्चियनिटी' के प्रतिष्ठित लेखक, जैसे पुरुष पाए जाते हैं, जिन्होंने अपने पंथ की रूढ़िवादी व्याख्या की दुर्बलता को समझा है, और उसे उच्चतर तथा

तर्कसंगत आधार पर स्थापित करने के साहसी और पुरुषोचित प्रयास में आधी रात तक तेल जलाया है। उन्होंने यह तथ्य स्थापित किया है कि पुनर्जन्म चर्च के यथार्थ सिद्धांत का एक मौलिक अंग है, और यद्यपि दिव्य दर्शनशास्त्र के यथार्थ ज्ञान के अभाव में उनकी पुस्तक में अनेक त्रुटियाँ आ गई हैं, तथापि व्यापक ईसाई जगत के प्रति उन्होंने जो महत्वपूर्ण सेवा की है उसे नकारा नहीं जा सकता।

वस्तुतः, श्री सैम्पसन 'पतन' के सिद्धांत को वह महत्व नहीं देते जिसकी उसकी गंभीरता माँग करती है, और उनका विश्वास है कि पाप की उत्पत्ति जातियों के पार्थक्य के नियम के उल्लंघन में निहित है। हमें खेद है कि हम उनसे सहमत नहीं हो सकते, न ही तब जब वे धार्मिक सिद्धांतों की व्याख्या इतिहासकार के दृष्टिकोण से करने का प्रयत्न करते हैं। इस ग्रंथ में उनके विस्तृत तर्क की विस्तार से समालोचना करना असंभव है, परन्तु उनके सिद्धांत के विरुद्ध कुछ तर्क संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किए जा सकते हैं:—

(१) आदम का पतन, अर्थात् पाप की उत्पत्ति, एक प्रातिनिधिक (typical) प्रकरण है, भौतिक जगत की कोई ऐतिहासिक घटना नहीं, और इसलिए इसे ऐतिहासिक रेखाओं पर स्पष्ट नहीं किया जा सकता;

(२) यदि पतन परमेश्वर के पुत्रों और मनुष्यों की पुत्रियों के बीच अवैध संसर्ग के कारण हुआ—चाहे वह किसी वैवाहिक संबंध से स्वीकृत हो अथवा न हो—तो उल्लंघन के कृत्य से पहले मानवता की स्थिति एक पतित स्थिति नहीं होनी चाहिए थी; परन्तु स्वयं बाइबिल इस बिंदु पर संदेह की कोई गुंजाइश नहीं छोड़ती;

(३) परमेश्वर के पुत्रों और मनुष्यों की पुत्रियों के बीच अंतर्विवाह की अवैध प्रकृति को समझना सरल नहीं है;

(४) यौन संकीर्णता परमेश्वर के पुत्रों में उस दुष्ट प्रवृत्ति की उत्पत्ति की व्याख्या करने में असफल रहती है जिसने उन्हें मनुष्यों की पुत्रियों के पास आने के लिए प्रेरित किया; और

(५) अंतर्विवाह अथवा व्यभिचार द्वारा जातिगत पाप वैयक्तिक मुक्ति के लिए कोई स्थान नहीं छोड़ता, और मुक्ति को ही जातिगत पुनरुत्थान की संभावना पर निर्भर बना देगा।

मानव जाति की मुक्ति की ओर ले जाने वाला अंतर्विवाह का निषेध नहीं, बल्कि ब्रह्मचर्य है। उत्पत्ति (६:१-६) का वह विशेष अंश, जिस पर रेवरेंड सैम्पसन ने यौन-पार्थक्य के अपने सिद्धांत

की नींव रखी है, न तो निर्वाण की धारणा से और न ही पतन से कोई संबंध रखता है। यह केवल यह दर्शाता है कि किस प्रकार विश्व के इतिहास में एक निश्चित काल पर यौन-वासना ने मनुष्यों के हृदयों को विकृत किया, और आयु की अवधि को लगभग एक सहस्र वर्ष से घटाकर 'एक सौ बीस वर्ष' कर दिया। इस सीमा तक प्रश्नगत अंश को ऐतिहासिक कहा जा सकता है। परन्तु पतन का सिद्धांत, साथ ही हाबिल और कैन की 'प्रथम अभिलिखित' बलियाँ, विशुद्ध रूप से रूपकात्मक हैं और इनका कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है। अतः इन्हें ऐतिहासिक रूप से पढ़ना केवल भ्रम की ओर ले जा सकता है।

> *इस दीर्घायु-काल की तुलना श्री नेमिनाथजी भगवान के समय (लगभग ८६,५०० वर्ष पूर्व) के मनुष्यों के दीर्घ जीवन-काल से करना रोचक है, जो, जैन पुराणों के अनुसार, अपने चचेरे भाइयों श्री कृष्ण और बलराम के साथ द्वारका में निवास करते थे, और इस संसार में एक सहस्र वर्ष तक जीवित रहे।*

यौन संकीर्णता, व्यभिचार, अनाचार, अतिभोग, और लैंगिक-वृत्ति के अन्य समस्त दुरुपयोग केवल दुष्ट वासनाओं और प्रवृत्तियों को उत्तेजित और सुदृढ़ करते हैं, और इस प्रकार वस्तुतः इच्छा-शक्ति की दुर्बलता उत्पन्न करते हैं। यहाँ तक कि पति-पत्नी का सबसे कम आपत्तिजनक यौन-संबंध भी निर्वाण के मार्ग में एक बाधा है, क्योंकि यह ध्यान को उच्चतर से निम्नतर स्व की ओर मोड़ता है। अतः, जब तक कामुक वासना पूर्णतः इच्छा-शक्ति के नियंत्रण में नहीं लाई जाती, यह पूर्णता और आनंद की अनुभूति में बाधक बनी रहती है, जो कि लक्ष्य है। जातियों के पार्थक्य के बजाय कामुक-वासना का नियंत्रण ही इच्छा-शक्ति के विकास का साधन है। इसी कारण समस्त तर्कसंगत धर्म अंततः यौन-संयम का आदेश देते हैं। समस्त महान गुरुओं ने भी पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन किया, और अपने अनुयायियों को इसका आदेश दिया। ब्रह्मांड के समस्त विषों में, काम-उत्तेजक स्त्री-सौंदर्य सबसे घातक है। इसकी क्रिया के लिए शारीरिक स्पर्श आवश्यक नहीं है; केवल उसका दर्शन, अथवा विचार-मात्र, मन को प्रभावित करने के लिए पर्याप्त है। फोटोग्राफ, चित्र, और यहाँ तक कि सौंदर्य का मौखिक वर्णन भी यौन-वासना को उत्तेजित करते पाए गए हैं। यह अपने प्रभाव में अन्य ज्ञात विषों से भी अधिक चिरस्थायी है, क्योंकि वे केवल भौतिक शरीर को प्रभावित करते हैं, जिसे आत्मा मृत्यु पर पीछे छोड़ देती है, जबकि इसका दुष्ट प्रभाव व्यक्तिगत चरित्र में समाहित हो जाता है, और भविष्य के अवतारों में बना रहता है।

इसके अतिरिक्त, चूँकि वासना ही मानसिक अशुद्धि का वास्तविक कारण है, और चूँकि मुक्ति तब तक प्राप्त नहीं हो सकती जब तक मन समस्त अशुद्धियों से शुद्ध नहीं हो जाता, इससे

यह निष्कर्ष निकलता है कि जो मोक्ष की आकांक्षा रखता है वह किसी भी रूप में विषयासक्ति अथवा यौन-प्रेम में स्वयं को अर्पित नहीं कर सकता। वासना के विचारों को भी आत्मा के भीतरी वातावरण से पूर्णतः निर्वासित किया जाना चाहिए। एक ही जीवन-काल में मुक्ति की आकांक्षा रखने वाले सभी लोगों पर पूर्ण संयम और आत्म-नियंत्रण कठोरता से आदेशित है। शेष के लिए, यदि वे मृत्यु के पश्चात नरक और कुरूप, यातनादायी दृश्यों से बचना चाहते हैं तो आंशिक संयम आवश्यक है। आंशिक संयम में वधू के उचित चयन और विवाह-प्रतिज्ञा के पालन का समावेश है। वैवाहिक शय्या को शुद्ध और अखंडित बनाए रखा जाना चाहिए। विवाहित जीवनसाथी के अतिरिक्त किसी अन्य शय्या-साथी का विचार हृदय की पवित्रता को कभी मलिन नहीं करने दिया जाना चाहिए; यौन-निष्ठा को किसी भी परिस्थिति में, विचार में भी, संकट में नहीं डाला जाना चाहिए।

पति और पत्नी दोनों का जीवन का एक ही सामान्य आदर्श होना चाहिए; उन्हें एक-दूसरे के विश्वासों और आकांक्षाओं को साझा करना चाहिए। आदर्शों की विविधता घर्षण के अनुकूल है, सहयोग के नहीं, और जब लोग सहिष्णुता की अत्यंत सराहनीय भावना में एक साथ 'निर्वाह' करने का प्रयत्न भी करते हैं, तब भी मतभेद इससे सुलझते नहीं। अतः, ऐसी परिस्थितियों में एक-दूसरे के आदर्शों की प्राप्ति के लिए सक्रिय सहयोग असंभव है। यह स्पष्ट है कि जहाँ वैवाहिक-साथी का चयन पूर्णतः शारीरिक आकर्षण अथवा किसी भौतिक लाभ, जैसे धन, से निर्धारित होता है, वहाँ विवाह एक लॉटरी बन जाता है जिसमें पुरस्कारों से अधिक 'रिक्त पर्चियाँ' निकलती हैं।

अब मसीहा की उस शिक्षा की व्याख्या करना सरल है जो मनुष्यों में नपुंसकों के प्रकारों के संबंध में है। जन्म से नपुंसक हैं, मनुष्यों द्वारा बनाए गए नपुंसक हैं, और वे नपुंसक हैं जो स्वर्ग के राज्य के लिए स्वयं ऐसे बने। प्रथम वर्ग को किसी टिप्पणी की आवश्यकता नहीं है; उनके मामले में नपुंसकता जन्मजात है। दूसरे वर्ग में वे समस्त अभागे युद्ध-बंदी, दास और अन्य आते हैं, जिनके स्वामियों अथवा संरक्षकों ने उन्हें उनके पुरुषत्व से वंचित करने के लिए उनकी शल्य-चिकित्सा करवाई। परन्तु तीसरा वर्ग उन शुद्ध और दिव्य आत्माओं का है जिन्होंने अनंत जीवन में प्रवेश हेतु अपनी यौन-वासना को पूर्णतः वश में कर लिया है। धन्य केवल यही हैं; क्योंकि उन्होंने अपनी स्वतंत्र इच्छा और चयन से ब्रह्मचर्य का जीवन अपनाया, न कि अपने नियंत्रण से परे परिस्थितियों

के बल से, न ही सांसारिक उद्देश्यों से। उनका उद्देश्य शुद्धतम है, और स्वाभाविक रूप से, उन्हीं का निर्वाण का आनंद भी है।

जहाँ तक वैवाहिक संबंध का प्रश्न है, इसके उचित कार्यान्वयन में दो विचार अंतर्निहित हैं, अर्थात् शारीरिक आवश्यकता का तत्व और आध्यात्मिकता का तत्व। यूरोप और गैर-भारतीय जातियों में केवल पूर्व को ही मान्यता प्राप्त है, और यही समाज का आधार बनता है, जहाँ विवाह को एक नागरिक संविदा माना जाता है, जो पक्षों पर न्यूनाधिक बाध्यकारी है, विवाहित जोड़े के समाज की आवश्यकताओं के अनुसार। यथार्थ विवाह, हालाँकि, इन जातियों के लिए इसका जो भी अर्थ है वह सब तो रखता ही है, और इसके साथ-साथ, भागीदारों की परस्पर आध्यात्मिक उन्नति के लिए उनकी स्थिति को उन्नत करने हेतु आत्माओं का मिलन भी। यहाँ पशुवत् कामुकता के लिए कोई स्थान नहीं है, और यद्यपि मानव-स्वभाव की स्वाभाविक माँगों को कुचलना अथवा दबाना आवश्यक नहीं है, तथापि पक्ष एक-दूसरे की उपस्थिति से अविचलित रहते हैं, सिवाय प्रकृति के नियमों के साथ सहयोग करने और अपने भीतर के सर्वोत्तम को प्रस्फुटित करने के सामान्य विचार के।

और, यदि नियम वैसा ही है जैसा यीशु ने घोषित किया—"पुनः मैं तुमसे कहता हूँ, कि यदि तुम में से दो पृथ्वी पर किसी भी बात के विषय में सहमत हों जो वे माँगें, तो वह मेरे स्वर्गीय पिता की ओर से उनके लिए किया जाएगा"—कौन उन भागीदारों के ऐसे आध्यात्मिक मिलन की प्रभावकारिता पर संदेह कर सकता है, जब पति और पत्नी दोनों की सर्वाधिक शक्तिशाली मानसिक शक्तियाँ एक ही सामान्य लक्ष्य की ओर निर्देशित होती हैं, जब वे दोनों एक ही दिशा में, एक ही मन से, अपने निकटतम संबद्ध, और अविच्छेद्य रूप से समाहित और संयुक्त हितों की प्राप्ति के लिए कार्य करते हैं? ऐसे ही विवाहों के संबंध में कोई निःसंकोच सोचता है, 'विवाह स्वर्ग में बनते हैं; जिन्हें परमेश्वर ने जोड़ा है उन्हें कोई मनुष्य अलग न करे' (मरकुस १०:९)।

इस लंबे विषयांतर से लौटते हुए, यदि परमेश्वर का 'एकमात्र जन्मा' पुत्र स्वर्ग से उतरा होता, तो वह तत्काल यह घोषित कर देता कि 'मृतकों में से जी उठने' से उसका क्या अभिप्राय है, और इस विषय को एक क्षण के लिए भी रहस्य में लिपटा हुआ न छोड़ता। यह मान लेते हुए, तर्क के लिए, कि यीशु परमेश्वर के यथार्थ पुत्र थे, हम सहज ही कल्पना कर सकते हैं कि उनके लिए सबसे स्वाभाविक आचरण क्या होता। वे कम-से-कम तीन विशिष्ट उद्देश्यों के लिए उतरे थे, अर्थात्:

(१) पिता की महिमा को मानव जाति के समक्ष प्रकट करना,(२) मानवता को पाप से मुक्त करना, और(३) मृतकों में से जी उठकर परमेश्वर के पुत्रत्व के अपने दावे को स्थापित करना।

उनकी सर्वाधिक स्वाभाविक प्रक्रिया यह होती कि वे मानव जाति को यथासंभव स्पष्ट भाषा में अपनी स्थिति बताते। यदि लोग उन्हें समझने में असफल रहते, तो यह उनकी गलती नहीं होती; यह परमेश्वर के पुत्र की ओर से स्वयं को अभिव्यक्त करने में असफलता होती। यदि परमेश्वर का पुत्र लोगों को स्वयं को समझाने में असफल रहता है, तो इसका अंत हो जाता है; क्योंकि यह दुर्बलता की एक स्पष्ट स्वीकारोक्ति है, जो एक सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान परमेश्वर की धारणा के साथ शायद ही मेल खाती हो। प्रश्न यह है कि यीशु ने अपने मृतकों में से जी उठने का उल्लेख करते समय अस्पष्ट, अबोधगम्य भाषा का प्रयोग क्यों किया? उन्होंने उन्हें स्पष्ट रूप से क्यों नहीं बताया कि उनका क्या अभिप्राय है, ऐसी भाषा का प्रयोग करने के बजाय जो, कम-से-कम, भ्रामक थी? अब जब घटनाएँ बीत चुकी हैं, और हम उनकी मृत्यु और पुनरुत्थान से संबंधित विभिन्न मसीहाई संदर्भों के अर्थ में झाँकते हैं, तो हम उन्हें पर्याप्त बोधगम्य पा सकते हैं; परन्तु यह कि घटना से पूर्व किसी को भी—यहाँ तक कि चुने हुए बारह को भी—इस विषय में तनिक भी विचार नहीं था, यह चारों गॉस्पेलों में निम्नलिखित जैसे अंशों से पूर्णतः निश्चित है:—

> "लोगों ने उन्हें उत्तर दिया, हमने व्यवस्था से सुना है कि मसीह सर्वदा बना रहता है: तो तुम कैसे कहते हो कि मनुष्य का पुत्र ऊँचा उठाया जाना चाहिए? मनुष्य का यह पुत्र कौन है?" —यूहन्ना १२:३४

> "क्योंकि वह अन्यजातियों के हाथ में सौंपा जाएगा, और उसका उपहास किया जाएगा, और उसके साथ अपमानजनक व्यवहार होगा, और उस पर थूका जाएगा:और वे उसे कोड़े मारेंगे, और उसे मार डालेंगे: और तीसरे दिन वह फिर जी उठेगा।और वे इनमें से किसी भी बात को नहीं समझे, और यह कथन उनसे छिपा रहा, न वे यह जान सके कि क्या कहा गया था।" —लूका १८:३२-३४

> "और उन्होंने इस बात को अपने में रखा, यह प्रश्न करते हुए कि मृतकों में से जी उठने का क्या अर्थ हो सकता है।" —मरकुस ९:१०

"क्योंकि उन्होंने अपने शिष्यों को सिखाया, और उनसे कहा, मनुष्य का पुत्र मनुष्यों के हाथों में सौंपा जाएगा, और वे उसे मार डालेंगे; और मारे जाने के पश्चात, वह तीसरे दिन जी उठेगा।परन्तु वे इस कथन को नहीं समझे, और उससे पूछने से डरते थे।" —मरकुस ९:३१-३२

अधिक संदर्भ बढ़ाने की आवश्यकता नहीं; यह व्याख्या का प्रश्न नहीं है, क्योंकि यहाँ हमारे पास स्वयं चुने हुए शिष्यों की वास्तविक गवाही है कि वे नहीं समझे कि इन कथनों का अभिप्राय क्या था। विशेष रूप से, दो अभिव्यक्तियाँ, 'मनुष्य का पुत्र' और 'मृतकों में से जी उठना', उनके लिए अबोधगम्य थीं। हमें इनमें से पहली अभिव्यक्ति के अर्थ पर विचार करने का पूर्व ही अवसर मिल चुका है, और दूसरी पर अभी विचार किया जाएगा। इस बीच, यह स्पष्ट है कि यीशु ने अपनी मंडलियों को इस विषय पर प्रबुद्ध करना नहीं चुना, और चाहा कि वे इसके प्रति अज्ञानी बने रहें। प्रश्न यह है, क्यों?

परन्तु इस बिंदु की व्याख्या से पहले, आइए हम यीशु के रहस्यमय आचरण से उत्पन्न होने वाला एक अन्य प्रश्न भी प्रस्तुत करें, क्योंकि वह भी इसी से अविभाज्य रूप से जुड़ा हुआ है।

गॉस्पेलों में यह अभिलिखित है कि यीशु ने न केवल अपने अंतिम महिमामंडन की अंतिम तैयारी से ठीक पहले भय प्रदर्शित किया, बल्कि वस्तुतः यह प्रार्थना भी की कि 'प्याला उनसे हटा लिया जाए।' यह भी लिखा है कि गिरफ्तारी से पूर्व वे प्रायः भय से स्वयं को छिपाते थे, जब उन्हें लगता कि यहूदियों के इरादे उनके प्रति बिल्कुल भी मैत्रीपूर्ण नहीं हैं।

"तब उस दिन से उन्होंने उन्हें मार डालने के लिए आपस में सलाह की।इसलिए यीशु अब यहूदियों में खुले तौर पर नहीं चलते थे: बल्कि वहाँ से जंगल के निकट एक देश में, एप्रैम नामक एक नगर में चले गए, और वहाँ अपने शिष्यों के साथ रहे।" —यूहन्ना ११:५३-५४

"तब उन्होंने उन्हें मारने के लिए पत्थर उठाए: परन्तु यीशु ने स्वयं को छिपा लिया, और मंदिर से बाहर निकल गए, उनके बीच से होकर गुज़रते हुए, और इस प्रकार आगे बढ़ गए।" —यूहन्ना ८:५९

परमेश्वर के पुत्र द्वारा ऐसा भय प्रदर्शित करना अत्यंत अ-परमेश्वरवत् है। न ही हम कल्पना करते हैं कि ऐसे किसी परमोच्च सत्ता की गरिमा के अनुरूप यह हो कि वे अपने शिष्यों को आश्वस्त करें:"मेरा प्राण मृत्यु तक अत्यंत उदास है।" —(मत्ती २६:३८)

सभ्य जातियों में जीवन के अंतिम क्षणों में समर्पण की पुरुषोचित भावना प्रदर्शित करना एक सद्गुण माना जाता है, और मृत्यु के प्रति बुढ़िया-जैसी भयावहता की अभिव्यक्ति को बर्बरता का चिह्न माना जाता है। तो फिर, यीशु स्वयं को इस सीमा तक क्यों भूल गए?

इन प्रश्नों का उत्तर खोजने के प्रयास में, हमें ईमानदारी से इस अनिवार्य तथ्य को स्वीकार करके आरंभ करना होगा कि यीशु के व्यक्तित्व के विषय में हमारी धारणाएँ निराशाजनक रूप से गलत हैं और हमारी त्रुटियों का एकमात्र कारण हैं। आरंभ में ही, परमेश्वर के पुत्र जैसी कोई वस्तु हो ही नहीं सकती। पुत्र होने के लिए पहले एक पत्नी होनी चाहिए। परन्तु ईसाई चर्च के परमेश्वर का कोई पुत्र नहीं हो सकता, क्योंकि उनकी कोई पत्नी नहीं है।

जब हम अतार्किक सिद्धांतों को अस्वीकार करते हैं, और वस्तुओं को तर्कसंगत दृष्टिकोण से देखते हैं, तो ये समस्त कठिनाइयाँ हमारे मार्ग से हट जाती हैं, क्योंकि तब वह आचरण, जो परमेश्वर के पुत्र की गरिमा के साथ असंगत प्रतीत हुआ था, यीशु के लिए पूर्णतः उपयुक्त बन जाता है।

यीशु के प्रारंभिक जीवन ने हमें दिखाया है कि वे सामान्य से कहीं अधिक विद्वत्ता के व्यक्ति थे, विश्व की विभिन्न धार्मिक प्रणालियों के ज्ञान में भली-भाँति निष्णात, और उन गूढ़तम सत्यों तथा गुह्य सिद्धांतों से परिचित और सुपरिचित थे जो इस युग में मानवजाति के लिए प्रायः लुप्त हो चुके हैं। उन्होंने न केवल विभिन्न धर्मों का सुदृढ़ सैद्धांतिक ज्ञान अर्जित किया था, बल्कि संभवतः महान व्यावहारिक अनुभव भी प्राप्त किया था, और अपनी गुह्य, मानसिक शक्तियों को इस सीमा तक विकसित किया था कि वे अपने युग की सामान्य मानवता के स्तर से बहुत ऊपर, लगभग अतिमानवीय सत्ता बन गए थे। उन्होंने इस्राएल की जनता को अपने मिशन के लिए दो कारणों से चुना: पहला, क्योंकि पितृपुरुषों की भूमि पर्याप्त रूप से उर्वरित भूमि प्रतीत होती थी जहाँ बीज सरलता से तीस-, साठ-, अथवा सौ-गुना बढ़ सकता था; और दूसरा, अपने प्रारंभिक संबंधों तथा यहूदी भाषा, रीति-रिवाज़ों, परंपराओं, और सबसे बढ़कर, उनके शास्त्रों से अपनी घनिष्ठ परिचिति द्वारा प्रदान की गई सुविधाओं के कारण। यीशु मानव-स्वभाव की दुर्बलता से अनजान नहीं थे, और जानते थे कि उनके सिद्धांत ऐसे थे जिन्हें यहूदियों द्वारा सहज ही स्वीकार नहीं किया जा सकता था, भविष्यवक्ताओं के लेखन में सत्य के समस्त खमीर के बावजूद। बस यह अनुभव करें कि आज भी, जब सहिष्णुता का विश्वव्यापी विचार हमेंअपने विचारों को पूर्ण स्वतंत्रता और बिना

किसी भय के अभिव्यक्त करने की अनुमति देता है, आत्मा के देवत्व और अमरत्व का प्रचार करना कितना कठिन कार्य है। दो सहस्र वर्ष पूर्व सामान्य मनुष्यों में सहिष्णुता जैसी कोई वस्तु ज्ञात नहीं थी, और 'ईशनिंदा' का दंड मृत्युदंड से कम कुछ नहीं था।

यीशु उन कठिनाइयों को जानते थे जो उनके मार्ग को घेरे हुए थीं, और यद्यपि उनके पास अपनी बढ़ती हुई शक्तियों में अमरत्व की पर्याप्त गारंटी थी, तथापि यह जोखिम अनावश्यक रूप से उठाने के लिए बहुत बड़ा था। वे भली-भाँति जानते थे कि जिस क्षण उन्होंने खुले तौर पर मनुष्य के अमरत्व का प्रचार किया, हर कोई उस सिद्धांत की सत्यता की परीक्षा उसके प्रवर्तक के व्यक्ति पर करने की पेशकश करेगा, क्योंकि, जैसा उनकी अपनी शिक्षा दिखाती है, वे जानते थे कि 'लोग विश्वास नहीं करेंगे, भले ही कोई मृतकों में से जी उठे।' उन्होंने स्थिति पर विचार किया, और निष्कर्ष निकाला कि अमरत्व का अर्थ केवल मृत्यु पर विजय है, न कि किसी भावी अवसर पर, किसी अन्य के अनुग्रह से, मृतक का पुनः उठ खड़ा होना। उन्होंने मरकर पुनः जीवित होने की धारणा को अस्वीकार किया, और समझा कि मृत्यु पर विजय का अर्थ समस्त परिस्थितियों में चेतन अस्तित्व बनाए रखने की शक्ति के अर्जन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यही वे प्रचार करने निकले थे। परन्तु अविश्वासी जनसमूह के समक्ष इसे कैसे सिद्ध किया जाए? यीशु ने, सभी संभावनाओं में, धर्म का अध्ययन कभी वैज्ञानिक और तत्वमीमांसीय दृष्टिकोणों से नहीं किया था; उनका ज्ञान तर्कशास्त्र और दर्शनशास्त्र की पाठशालाओं में, अथवा आगमनात्मक अथवा कारणात्मक अन्वेषण की रेखाओं पर अर्जित नहीं किया गया था। शायद शास्त्रीय पाठ और व्यावहारिक अनुभव ही उनकी बुद्धिमत्ता का एकमात्र आधार थे। परन्तु ये सबके लिए पर्याप्त नहीं होते; जनसमूह को समझाने के लिए विशुद्ध सैद्धांतिक अभिकथन से कुछ अधिक आवश्यक है। यही वह कठिनाई थी जो गुरु के समक्ष खड़ी थी। तथापि, किसी महान आत्मा के मार्ग में कोई कठिनाई स्थायी रूप से खड़ी नहीं रह सकती; अतः जैसे ही यह उत्पन्न हुई, इसका समाधान भी उनके महान मन में प्रस्तुत हो गया।

उन्होंने इस समस्या का समाधान अपने ही व्यक्ति में अपने सिद्धांत को दर्शाने की साहसिक योजना अपनाकर किया। वे सदैव अपने सिद्धांत का प्रचार करते रहते, परन्तु"मैं अपना मुख दृष्टांतों में खोलूँगा; मैं वे बातें बोलूँगा जो जगत की नींव से गुप्त रखी गई हैं,"ताकि केवल वे लोग जिनके सुनने के कान और देखने की आँखें हों, उसकी सत्यता का बोध कर सकें, और आगे शिक्षा हेतु

आवेदन कर सकें। समाज के निम्नतर स्तरों के प्रबोधन के लिए, उन्होंने विनम्र लोगों को चुना जिन्हें वे अपने विश्वास के रहस्यों में दीक्षित करना और पूर्व के अन्य धार्मिक संप्रदायों के ढंग पर पालना चाहते थे। अपने अनुयायियों के विश्वास को सुदृढ़ करने के लिए उन्होंने चमत्कार करने की शक्ति पर भी भरोसा किया। परन्तु, दुर्भाग्यवश, उनका सिद्धांत जनसाधारण को आकर्षित नहीं कर सका, और अपने ही समय में उन्हें जो भी सफलता मिली, वह रोग निवारण और चमत्कार करने की उनकी अतिमानवीय शक्ति के कारण ही थी। यहाँ तक कि उनके शिष्य भी, जैसा पहले देखा जा चुका है, कम-से-कम उनके साथ रहने की अवधि में, विश्वास की बहुत कम क्षमता विकसित कर सके, और उनमें उपस्थित चमत्कारिकता से ही संतुष्ट रहने की एक स्पष्ट प्रवृत्ति दिखाई। इस प्रकार यह आवश्यक हो गया कि उनके अमरत्व के सिद्धांत का ऐसी परिस्थितियों में सार्वजनिक प्रदर्शन दिया जाए जो उसकी सत्यता के विषय में कोई संदेह न छोड़े। यह उनके लिए दोहरा उद्देश्य पूर्ण करने वाला था। पहला, यह उनकी शिक्षा का सुनिश्चित प्रमाण होता, और दूसरा, यह उनमें शेष बची किसी भी अपूर्णता को दूर कर देता। कि उन्होंने अपने क्रूसारोपण से पूर्व स्वयं को अपूर्ण माना, यह उनके अपने शब्दों से स्पष्ट होता है:—

> "और उन्होंने उनसे कहा, जाओ, और उस लोमड़ी [हेरोदेस] से कह दो, देखो मैं आज और कल दुष्टात्माओं को निकालता हूँ, और चंगाई करता हूँ, और तीसरे दिन मैं सिद्ध हो जाऊँगा।" —(लूका १३:३२)

इस प्रकार, उनकी योजना दोहरे उद्देश्य को पूर्ण करने वाली थी, अर्थात्, जनता के समक्ष सिद्धांत की सत्यता का व्यावहारिक प्रदर्शन, और स्वयं के लिए पूर्णता की प्राप्ति। परन्तु इसकी सफलता के लिए यह आवश्यक था कि वे किसी को अपने विश्वास में न लें।

यह जीवन और मृत्यु का प्रश्न था, और यहूदा इस्करियोती जैसे व्यक्ति के अपने शिष्यों में सम्मिलित होने के कारण, सबसे सुरक्षित मार्ग यही था कि यह रहस्य किसी को न बताया जाए। तथापि इस विषय का उल्लेख करना आवश्यक था, ताकि जब प्रयोग सफलतापूर्वक संपन्न हो, तो इसे सिद्धांत के समर्थन में सबसे सशक्त प्रमाण के रूप में इंगित किया जा सके।

यीशु को एक चतुर योजनाकार मानकर अस्वीकार करना नितांत मूर्खता होगी, क्योंकि तब हमें उन सभी को अस्वीकार करना पड़ेगा जिनके आचरण में हमें योजना के चिह्न दिखाई दें। जहाँ कहीं भी हम माता-पिता को अपनी संतान की दशा सुधारने के लिए योजनाएँ बनाते और

क्रियान्वित करते देखते हैं, हमें उसी कुरूप स्थिति का सामना करना होगा। स्वयं परमेश्वर का पुत्र, अभिव्यक्ति के लोकप्रिय अर्थ में, इसी दोष के लिए उत्तरदायी होगा। यहाँ तक कि वह परम पिता, जिन्होंने हमारे लिए अपने एकमात्र जन्मे पुत्र की बलि की योजना बनाई, और जिन्होंने "कुछ सत्य विद्वानों से छिपाकर बालकों पर प्रकट किए," इस प्रकार कि उनमें से कोई भी, कम-से-कम यीशु के जीवनकाल में, उन्हें न समझ सके, वे भी योजना बनाने की भर्त्सना से बच नहीं सकते। यह विशुद्ध पूर्वाग्रह ही है जो हमारे कारण के लिए यीशु की उदात्त आत्मा द्वारा किए गए महान बलिदान के प्रति ऐसा दृष्टिकोण अपना सकता है। दूसरों के लिए, ताकि वे बच सकें, विशुद्ध रूप से अपने प्राण का जोखिम उठाना उन वीरोचित कार्यों में से एक है जिनसे इतिहास सदैव अपने पृष्ठों को सुसज्जित करने पर गर्व करता है। उन्होंने मानव दुख के रहस्य की खोज की थी, और उसका उपाय इतना विस्मयकारी था कि युग के बुद्धिमानतम लोग, तर्क में पराजित होकर भी, केवल अपने अविश्वस्त सिर हिलाकर रह गए, और यह उन पर छोड़ दिया कि वे चाहें तो अपने ही व्यक्ति पर व्यावहारिक प्रदर्शन द्वारा इसकी सत्यता सिद्ध करें। परन्तु, यह उनकी चिरकालिक महिमा के लिए कहा जाना चाहिए, कि वे अपने लिए निर्धारित कार्य को पूर्ण करने से क्षणभर के लिए भी पीछे नहीं हटे। उनके इस दावे पर कोई कैसे संदेह कर सकता है, "मैं मार्ग, सत्य और जीवन हूँ"? वे 'सत्य' थे, क्योंकि उन्होंने इसे मनुष्यों के समक्ष प्रस्तुत किया; वे 'मार्ग' थे, क्योंकि उन्होंने इसके सबसे कठिन भाग पर उन्हें मार्गदर्शन देने का दायित्व लिया; और वे 'जीवन' थे, क्योंकि वे मृतकों में से जी उठे, और उसकी विजय संसार के समक्ष प्रदर्शित की।*

*यहाँ 'वे' वक्ता की ओर संकेत करता है, न कि उस शरीर की ओर जिसमें वक्ता उस अवसर पर निवास कर रहा था।*

आदम को इसलिए दंड मिला क्योंकि वह भले-बुरे की खोज में व्यस्त हो गया था, जिसके परिणामस्वरूप उसके भीतर का दिव्य तत्व उसके निम्न स्वभाव के नीचे दब गया। यही वह सत्य था जिसका प्रचार कैल्वेरी के स्थान के इस वीर-शहीद ने संसार को दिया। 'शक्ति' के दाहिने हाथ तक चढ़ने का मार्ग 'मनुष्य' के पूर्ण पराभव में, रूपकात्मक रूप से, उसके क्रूसारोपण में, निहित था, ताकि हिंडोले का परमेश्वर-छोर अज्ञान के बंधन से मुक्त हो और शीर्ष तक उठ सके। यीशु के पास ज्ञान था, वे मार्ग जानते थे, और उन्होंने अपने ही उदाहरण द्वारा इसे संसार को निश्चयपूर्वक दिखाया। इसे समझा जा सकता है। परन्तु एकमात्र जन्मे पुत्र की बलि में क्या तात्पर्य है, यदि मानवता को सीखे जाने वाला पाठ किसी व्यावहारिक परिणाम से रहित होता? यदि परलोक में

मृतकों का पुनरुत्थान होना ही है, तो मनुष्य वैसे भी जी उठते, चाहे प्रभु परमेश्वर ने अपने पुत्र के जीवन की बलि दी हो या नहीं। हमारी व्याख्या में तात्पर्य है, परन्तु रूढ़िवादी दृष्टिकोण में कोई नहीं। प्रभु परमेश्वर अपनी सृष्टियों को बचाने अथवा सूचित करने के लिए किसी अन्य और कम त्रासद मार्ग के विषय में क्यों नहीं सोच सके? क्या उनके लिए सब कुछ संभव नहीं है? और, अंततः जब हम स्मरण करते हैं कि तथाकथित बलि में किसी प्रकार का कोई जोखिम अंतर्निहित नहीं था, तो यह सारा समारोह एक बचकाना प्रहसन बनकर रह जाता है। यह पूर्णतः निश्चित था कि परमेश्वर का पुत्र पूर्णतः मृत्यु को प्राप्त नहीं होने वाला था। यहाँ तक कि यह मान भी लें कि वे वस्तुतः क्रूस पर मरे, तो परमेश्वर द्वारा अपने पुत्र के जीवन की बलि, जब समस्त काव्यात्मक आवरण उतार दिया जाए, तो केवल तीन दिनों के लिए जीवन-क्रिया के निलंबन तक सीमित रह जाती है! क्या हम इसकी तुलना अब्राहम की उस वीरोचित भक्ति से कर सकते हैं, जिन्होंने वास्तविक, घातक गंभीरता में अपने पुत्र के जीवन की बलि देने का प्रस्ताव रखा? और, फिर भी, अब्राहम का आचरण भी यीशु के आचरण के समक्ष तुच्छ पड़ जाता है। अब्राहम केवल अपने देवता की कृपा जीतना चाहते थे, जबकि यीशु भटकती हुई मानवता के लिए विशुद्धतम प्रेम की भावना से प्रेरित थे!

ऐसी थी उस बलि की प्रकृति जिसे यीशु ने मानवता के लिए स्वेच्छा से अर्पित करने का निश्चय किया। अब हम उनके विचारों में उनका अधिक निकटता से अनुसरण कर सकते हैं। हम अब यह पाएँगे कि जो उनके आचरण में रहस्यमय और अव्याख्येय प्रतीत होता था, वह न केवल स्वाभाविक था, बल्कि परिस्थितियों में सबसे उपयुक्त और शोभनीय भी था। यहूदियों द्वारा उन्हें भीड़-हत्या का शिकार बनाने का प्रस्ताव करने पर उनका छिप जाने का कौशल अब तर्कसंगत व्याख्या की सीमा से परे नहीं रहा। यद्यपि वे उपयुक्त अवसर पर अपने सिद्धांत की सत्यता प्रदर्शित करना चाहते थे, तथापि वे इसे अपने श्रोताओं की मात्र इच्छा और प्रसन्नता पर परीक्षा में डालने वाले नहीं थे। और फिर भी, उनकी गुह्य शक्तियों ने उन्हें अपनी गरिमा के अनुरूप ढंग से क्षति से बचने में सक्षम बनाया। जब उन्होंने उन्हें मारने के लिए पत्थर उठाए, तो उन्होंने न तो दया की भीख माँगी, न ही अपने उत्पीड़कों से भागे; न ही उन्होंने उन नीच युक्तियों में से किसी का सहारा लिया जो सामान्यतः किसी कम दृढ़ हृदय को अपने प्राण के संकट में स्वतः सूझती हैं। वे साहसपूर्वक उनके बीच से गुज़र गए, और किसी ने उनके सिर का एक बाल भी छूने का साहस नहीं किया!

उनकी एक ही दृष्टि संभवतः उनके हमलावरों की धमनियों में रक्त जमा देने के लिए पर्याप्त थी। सार्वजनिक प्रदर्शन के लिए उनके द्वारा चुना गया क्षण अभी नहीं आया था, और वे अपनी गुह्य शक्तियों से अपनी रक्षा करने में पूर्णतः न्यायसंगत थे।

गॉस्पेल कथाएँ यीशु की योजना के विषय में कोई संदेह नहीं छोड़तीं। कि उन्होंने क्रूस पर अपने अमरत्व का प्रदर्शन करने का निश्चय कर लिया था, यह उनके अपने कथनों से स्पष्ट है। उनका निम्नलिखित कथन बिना टिप्पणी के भी पर्याप्त निश्चित है:

> "देखो, हम यरूशलेम को जाते हैं; और मनुष्य का पुत्र प्रधान पुजारियों और शास्त्रियों के हाथ पकड़वाया जाएगा, और वे उसे मृत्यु का दंड देंगे, और उसे अन्यजातियों को उपहास करने, कोड़े मारने और क्रूस पर चढ़ाने के लिए सौंप देंगे: और तीसरे दिन वह फिर जी उठेगा।" (मत्ती २०:१८-१९)

वे सदैव इसी लक्ष्य की ओर लक्षित थे, इस सीमा तक कि जब भी लोग उनसे कोई चिह्न माँगते, तो वे उत्तर देते कि योना भविष्यद्वक्ता के चिह्न के अतिरिक्त कोई चिह्न उन्हें नहीं दिया जाएगा, क्योंकि जैसे योना तीन दिन-रात मछली के पेट में रहे, वैसे ही मनुष्य का पुत्र भी उतने ही समय तक पृथ्वी के हृदय में रहेगा (मत्ती १२:४० और १६:४)। यह बात गलील में अपने शिष्यों से दोहराई गई (मत्ती १७:२२)। एक अन्य अवसर पर उन्होंने कहा:

> "मुझे एक बपतिस्मा लेना है; और जब तक वह पूर्ण न हो, मैं कैसा तंग रहता हूँ।" —(लूका १२:५०)

यूहन्ना (१८:३२) भी, यदि आवश्यक हो, इस दृष्टिकोण की पुष्टि करता है। वे अपने उद्देश्य के प्रति इतने दृढ़संकल्प थे कि जब पतरस ने अनजाने में उन्हें डाँटा, यह कहते हुए, "हे प्रभु, यह आपसे दूर रहे: यह आप पर कभी नहीं आएगा," तो उन्होंने (यीशु ने) उन्हें (पतरस को) इतनी कठोरता से डाँटा कि उन्हें, गुरु के साथ अपनी सामान्य स्वतंत्रता के बावजूद, चुप हो जाना पड़ा (मत्ती १६:२२-२३)।

यीशु की अपनी अमरत्व के व्यावहारिक प्रदर्शन की योजना के संबंध में अगला प्रश्न यह उठता है: वे पूर्व से ही कैसे जान सकते थे कि यहूदी उन्हें किस रीति से मृत्युदंड देंगे? दूसरे शब्दों में, यहूदियों को किस प्रकार बाध्य किया जा सकता था कि वे मृत्यु के एकमात्र साधन के रूप में

क्रूसारोपण चुनकर यीशु की योजना को आगे बढ़ाएँ? थोड़ा विचार करने से कोई भी देख सकता है कि यह कोई विशेष कठिन बात नहीं थी।

यीशु के दिनों में, यहूदिया रोमन शासन के अधीन था, और पन्तियुस पिलातुस उसका गवर्नर था। इस संबंध में एक प्रामाणिक स्रोत से निम्नलिखित अतिरिक्त जानकारी अत्यंत प्रासंगिक है:—

> "प्रोक्यूरेटरों की यह प्रथा थी कि वे महापर्वों के समय व्यवस्था बनाए रखने के लिए यरूशलेम में निवास करते थे; तदनुसार, हमारे प्रभु के अंतिम फसह के समय पिलातुस हेरोदेस के महल में अपने आधिकारिक निवास में रह रहा था। चूँकि जीवन और मृत्यु की शक्ति रोमन गवर्नर के हाथों में थी, हमारे प्रभु को यहूदियों द्वारा पिलातुस की स्वीकृति और आदेश के बिना क्रूस पर नहीं चढ़ाया जा सकता था (यूहन्ना १८:३१; १९:१६)।" —द वेस्टमिंस्टर बाइबल डिक्शनरी, रेवरेंड टी॰ जे॰ शेफर्ड, डी॰डी॰ द्वारा, पृष्ठ ४११, 'पिलातुस' शीर्षक के अंतर्गत।

इसी ग्रंथ से पृष्ठ १४७ पर, 'क्रॉस' शीर्षक के अंतर्गत, हमारा अगला उद्धरण स्थिति पर और अधिक प्रकाश डालता है:—

> "क्रॉस, लकड़ी के दो बीमों से बना एक फाँसी-यंत्र जिन्हें T अथवा X अथवा + के आकार में आड़ा रखा जाता था, जिस पर अपराधियों को मृत्युदंड दिया जाता था। यह दंड-पद्धति यहूदियों द्वारा प्रचलित नहीं थी; रोमनों में यह दासों अथवा घोरतम अपराधियों के लिए सुरक्षित थी।"

अब स्थिति पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है। यीशु ने अपने सिद्धांत के व्यावहारिक प्रदर्शन के लिए वह क्षण चुना जब यरूशलेम में पिलातुस की उपस्थिति यहूदियों के लिए अपने हाथों में व्यवस्था लेना असंभव बना देती, और इसलिए उन्होंने फसह के महापर्व का समय चुना। अब यह निश्चित था कि यहूदी उस पर सबसे अपमानजनक दंड, अर्थात् क्रूसारोपण, देना चाहेंगे जिसे वे घोरतम संभावित ईशनिंदा का दोषी मानते थे, और 'परमेश्वर का राज्य' जैसी अभिव्यक्तियों की रिपोर्ट उन्हें अपने रोमन शासकों की दृष्टि में एक अत्यंत खतरनाक विद्रोही के रूप में चिह्नित करने की पूरी संभावना रखती थी। संभवतः यह उनके कुछ अतिउत्साही अनुयायियों द्वारा यरूशलेम में उनके अंतिम प्रवेश के समय प्रयुक्त अभिव्यक्ति "धन्य है इस्राएल का राजा जो प्रभु के नाम से आता है" (यूहन्ना १२:१३) की रिपोर्ट थी, जिसने रोमन सैन्यबल को उनके व्यक्ति के प्रति कोई सम्मान दिखाने से विरत कर दिया, जब एक बार यहूदियों की माँग के समक्ष झुकने का निर्णय लिया गया। इस

प्रकार, जब तक कोई उनके उद्देश्य को नहीं जानता था, उनकी योजना में त्रुटि की कोई संभावना अथवा दुर्घटना के लिए कहीं कोई स्थान शायद ही था; और, यदि सबसे बुरा भी हो जाता, तो सदैव उनकी शक्ति में था कि वे 'स्वयं को छिपाकर उनके बीच से गुज़र जाएँ,' जैसा वे पहले भी कर चुके थे। उनके भीतर आत्मगत शक्तियों के विकास से अर्जित अजेय शक्ति पर सदैव भरोसा किया जा सकता था कि वह उन्हें अंतिम क्षण में पलायन का साधन प्रदान करे, यदि उन्हें लगे कि घटनाएँ उनकी योजना के अनुकूल आकार नहीं ले रही हैं।

कि वे अपनी शक्ति को भली-भाँति जानते थे, यह उनकी अपनी घोषणा से संदेह से परे है, जो संत यूहन्ना के गॉस्पेल के लेखक के शब्दों में यह पढ़ी जाती है:—

> "कोई मनुष्य इसे (जीवन को) मुझसे नहीं लेता, बल्कि मैं इसे स्वयं ही रखता हूँ। मुझे इसे रखने की शक्ति है, और इसे पुनः लेने की भी शक्ति है। यह आदेश मुझे अपने पिता से प्राप्त हुआ है।"

इस समय तक, निःसंदेह, यीशु को यह पूर्ण विश्वास हो चुका था कि जीवन को रखना और 'भेड़ों' के हित में इसे पुनः ग्रहण करना एक दिव्य आदेश है, ताकि 'एक ही झुंड और एक ही चरवाहा' हो। यदि इसे सिद्ध करने के लिए किसी प्राधिकार की आवश्यकता हो, तो हमें यह तीसरे गॉस्पेल से प्राप्त है:—

> "और सचमुच मनुष्य का पुत्र जाता है, जैसा निर्धारित किया गया था।" —(लूका २२:२३)

जब पतरस ने गिरफ्तारी का विरोध करने के लिए अपनी तलवार निकाली, तो यीशु ने उसे डाँटते हुए कहा,"क्या तू सोचता है कि मैं अभी अपने पिता से प्रार्थना नहीं कर सकता, और वे मुझे बारह सेनाओं से अधिक स्वर्गदूत तुरंत नहीं दे देंगे? परन्तु फिर शास्त्र कैसे पूरे होंगे कि ऐसा ही होना अवश्य है?"

वे निरंतर यह अनुभव करते रहे कि भीतर का 'पिता' उन्हें समस्त क्षति से बचाने के लिए पर्याप्त शक्तिशाली है; तदनुसार, उन्होंने अपने हमलावरों से कहा:"जब मैं प्रतिदिन तुम्हारे साथ मंदिर में था, तो तुमने मेरे विरुद्ध हाथ नहीं बढ़ाए: परन्तु यह तुम्हारी घड़ी है, और अंधकार की शक्ति है।"

एकमात्र अवसर जब उन्होंने भय के लक्षण दिखाए, वह तब था जब वे विचारण के लिए स्वयं को तैयार करने निकले। तभी उनका अदम्य साहस क्षणभर के लिए डगमगाया प्रतीत हुआ; परन्तु

यह उस सहज मानवीय दुर्बलता की एक क्षणिक अभिव्यक्ति से अधिक कुछ नहीं था, जो निकट आते संकट में मृत्यु और विलोपन की संभावना पर सबसे स्थिर हृदय में भी स्वाभाविक है। क्या इसमें कोई आश्चर्य है कि यीशु जाति के गुरु के रूप में अपने कैरियर के विगत तीन वर्षों की घटनाओं पर विचार करने के लिए एकांत में चले गए हों? गतसमनी के स्थान की अविचलित एकांतता में, उन्होंने काल के गलियारे से पीछे मुड़कर आदर्श मानवजाति के उस एकाकी युगल को देखा, और अपने मन की दृष्टि से उन्हें पिता की संगति में विचरण करते और उनके सुख को अपने ही युग की मानवता में सामान्य किसी भी घटना से अमलिन देखा। स्वर्ग का दृश्य उनके समक्ष फैला हुआ था। ईडन का उद्यान, अपने समस्त सुंदर, आत्मा को मोहित करने वाले दृश्यों सहित, उनकी मानसिक दृष्टि के समक्ष चित्रित पड़ा हुआ था, जिसमें आदम और हव्वा की आकृतियाँ अग्रभूमि में स्पष्ट उभरी हुई थीं—पूर्व का मुख पुरुषत्व की महिमा में मध्याह्न सूर्य के समान दीप्तिमान, और अंतिम, नारीत्व के सौंदर्य की परिपूर्णता में, अपने वैभव के चरमोत्कर्ष पर रात्रि की रानी के प्रकाशमान गोलक को भी पार करती हुई। उन्होंने विस्मय और प्रशंसा से उन्हें देखा, और उनका आनंद असीम हो गया जब उन्होंने उनके प्रदीप्त मुखों को प्रभु परमेश्वर, जिन्हें वे 'पिता' मानना सीख चुके थे, के साथ एकात्मता की परमानंददायक महिमा से आलोकित देखा। दृश्य ने क्षणभर के लिए उन्हें मंत्रमुग्ध कर दिया। तब उनकी दृष्टि उस ओर भटकी जहाँ उद्यान के मध्य में स्वयं जीवन-वृक्ष खड़ा था, और उन्होंने शीघ्र ही उन दोनों मानव आकृतियों को उसकी ओर धीरे-धीरे चलते देखा, और उन्हें अपने हाथ बढ़ाकर उसका सुनहरा फल खाते देखा, जो, वृक्ष पर लगे रहते हुए भी, मानो अमरत्व के अमृत से लबालब भरा हुआ प्रतीत होता था। उस वृक्ष पर, न ही उसके आसपास कहीं और, एक भी मुरझाया पत्ता नहीं था, जबकि उसके पुष्पों की स्वर्गीय सुगंध हवा में तैरती हुई सबको जीवन और आनंद पहुँचाती थी।

मंत्रमुग्ध और उल्लसित, उन्होंने अपनी दृष्टि उससे हटाकर उद्यान के एक अन्य कहीं अधिक सुंदर वृक्ष की ओर भटकने दी।

> "ऊपर जड़, नीचे शाखाएँ; उसके पत्ते भजन हैं, पुण्य और पाप उसके फूल, और आनंद और शोक उसके फल हैं। इसकी शाखाएँ नीचे और ऊपर फैली हुई हैं, गुणों से पोषित; इंद्रिय-विषय इसकी कलियाँ हैं; और इसकी जड़ें नीचे की ओर बढ़ती हैं, मनुष्य-जगत में कर्म के बंधन।" —(भगवद्गीता, १५.१,२,३)

यीशु मोहित हो गए; उनके भीतर कुछ ने इसे भले और बुरे के ज्ञान के वृक्ष के रूप में इंगित किया। वे अभी उसे देख ही रहे थे, जब उन्होंने अचानक देखा कि कोई गहरा, चिकना जीव उसके तने के पास सरककर आया और उसमें अपना विष उँड़ेल दिया। वे सहज ही उसे देखकर सिहर उठे, और अपनी दृष्टि को और भी दूर भटकने दिया, जब एक शांत विश्राम-स्थल में उन्होंने सुंदरतम स्त्री को देखा, सुंदरियों में सुंदरतम, उसका सुंदर मुख आनंद की मुस्कानों में स्नात, उसकी आँखें निर्दोषता और प्रेम की ज्योति से चमकती हुई, स्त्रैण अनुग्रह और सौंदर्य का एक पूर्ण प्रतिरूप, प्रफुल्लता से नृत्य करती हुई, और, स्वतंत्रता और शक्ति के भाव से उत्पन्न अपने हृदय की गहरी हल्केपन में, उस भूमि को छूती हुई भी न प्रतीत होती जिस पर वह चल रही थी। शीघ्र ही उन्होंने उस गहरे, चिकने जीव को उसके पीछे से आते देखा, और देखा कि उसके सुंदर मुख पर उसके निकट आने पर सहज विकर्षण के लक्षण दिखाई दिए। उत्सुकतापूर्वक उन्होंने अपने ज्ञानतंतुओं को तानकर उनकी बातचीत सुनने का प्रयास किया, परन्तु व्यर्थ। उन्होंने केवल सुंदरी की ओर से सिर हिलाते हुए और दूसरी ओर से, मानो किसी बात पर बल देते हुए सिर हिलाते हुए देखा; और तब ऐसा प्रतीत हुआ मानो उनके बीच कुछ समझौता हो गया हो, क्योंकि उन्होंने उन्हें सिर हिलाकर विदा लेते देखा। उनकी दृष्टि अब स्त्री की आकृति का अनुसरण करने लगी, जो कुछ सुंदर पथों और फूलों की क्यारियों से होकर गुज़रती हुई अपने स्वामी से जा मिली। उनके बीच कुछ वार्तालाप हुआ जिसे वे सुन नहीं सके, परन्तु उन्होंने पुरुष के मुख पर एक के बाद एक क्रोध और अविश्वास के लक्षण देखे। इसके पश्चात उन्होंने उन्हें उस आकर्षक परन्तु विषैले वृक्ष की दिशा में बढ़ते देखा, और उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि उनकी बातचीत का कुछ संबंध उससे था, क्योंकि जब वे वहाँ पहुँचे तो पुरुष ने अपना सिर ज़ोर से हिलाया। अंततः स्त्री ने अपना सुंदर, सुडौल हाथ उठाकर उसकी सुंदरता की ओर इंगित किया, जिस पर उसका साथी पहले हिचकिचाया, और फिर अंततः उससे सहमत हो गया प्रतीत हुआ।

तब अचानक यीशु का हृदय भीतर ही भीतर बैठ गया। उन्होंने स्त्री को वृक्ष का फल तोड़ते देखा। उन्होंने आगे बढ़कर उन्हें चेतावनी देने का उपक्रम किया कि वृक्ष विषैला है, परन्तु इससे पहले कि वे यह समझ पाते कि क्या हुआ, स्त्री ने स्वयं एक टुकड़ा खा लिया था और अपने प्रेमी और स्वामी, पुरुष, को भी एक टुकड़ा दे दिया था। यीशु उस दिशा में और नहीं देखना चाहते थे। वे जानते थे कि उस फल का अनिवार्य परिणाम क्या था।

तब उन्होंने अपनी दृष्टि यरूशलेम की ओर घुमाई, और, मानो दिव्यदृष्टि की शक्ति से, प्रधान पुजारियों और वृद्धजनों को उनके ही विनाश की योजना और षड्यंत्र रचते हुए एकत्रित देखा। उन्होंने यहूदा इस्करियोती को उनके बीच बैठे देखा, उसके सामने कुछ चाँदी के सिक्के जैसा कुछ रखा हुआ था, और उन्होंने उनके बीच उसके विश्वासघात के लिए हुई व्यवस्था को सुना। परन्तु इस दृश्य ने उन्हें तनिक भी विचलित नहीं किया; वे केवल उनकी अदूरदर्शिता से चकित थे (मरकुस १४:३३)। उनका मन पहले ही निश्चित हो चुका था; क्षणिक दुर्बलता का दौरा बीत चुका था। समस्त पवित्र भूमि पलेस्तीन में वे एकमात्र मनुष्य थे जो पाप के रहस्य को जानते थे। क्या उन्हें शास्त्रियों और फरीसियों की मुट्ठीभर अंधबुद्धि मूर्खों को अपने और सारी जाति के प्रति अपने कर्तव्य के बीच खड़े होने देना चाहिए था?

जब वन में अपने चालीस दिनों की तपस्या के अंत में उन्होंने उस प्रलोभन की वाणी के आगे नहीं झुके थे, जिसने इंगित किया था कि इस संसार में मनुष्य जिस भी वैभव, शक्ति और महानता की कामना कर सकता है, वह सब उनकी है, यदि वे अपनी शक्तियों का प्रयोग उनके अर्जन के लिए करें, और उन्होंने अपनी सेवा-यात्रा जारी रखना ही श्रेयस्कर समझा था, तो अब वे उस मार्ग से कैसे विचलित हो सकते थे जो उन्होंने स्वयं के लिए निर्धारित कर लिया था? यह प्रश्न सदा के लिए निपट गया। इस निष्कर्ष पर पहुँचकर, वे पुनः वही गुरु बन गए जो वे थे।

क्षणिक मानवीय दुर्बलता का दौरा बीत जाने के पश्चात, यीशु ने अपनी शक्तियों की परीक्षा करने में स्वयं को लगा दिया। उन्होंने अपने शिष्यों को जो प्रार्थना का कृत्य प्रतीत हुआ, उसमें स्वयं को इस सीमा तक श्रम दिया, परन्तु जो वास्तव में एकाग्रता और इच्छा-शक्ति के प्रदर्शन का कृत्य था, कि 'उनका पसीना मानो रक्त की बड़ी बूँदों के समान भूमि पर गिर रहा था।' उनके तीन सबसे शक्तिशाली शिष्यों, अर्थात् पतरस, याकूब और यूहन्ना, ने स्वयं को अभिभूत अनुभव किया, और जागते नहीं रह सके, और यह कल्पना की कि स्वर्ग से कोई देवदूत उन्हें सामर्थ्य देने आया है। तीन बार उन्होंने उनसे जागते रहने और उनके साथ जागरण करने को कहा, परन्तु हर बार वे सो गए, और यह नहीं जानते थे कि जब उन्होंने (यीशु ने) उन्हें डाँटा तो क्या उत्तर दें (मरकुस १४:४०)। परीक्षा पूर्णतः सफल रही, क्योंकि यदि उनके तीन सुशिक्षित और सर्वाधिक उन्नत शिष्य, जैसे पतरस, याकूब और यूहन्ना, उनकी आत्मगत शक्तियों के प्रभाव का सामना न कर सके, बल्कि उसके आगे झुक गए, और साथ ही स्तब्ध हो गए, तो उन्हें अपने उत्पीड़कों के हाथों कुछ भी

भय नहीं था। अतः वे अपने एकांत से बाहर आए, अब आगामी परीक्षा के लिए पूर्णतः तैयार होकर। उन्होंने अब यह नहीं कहा कि 'आत्मा तो तत्पर है, परन्तु देह दुर्बल है।' देह की दुर्बलता एक क्षणिक संवेदना थी, जिसके आगे आत्मा ने कभी नहीं झुका। अब कोई विपत्ति अथवा दुर्घटना का भय शेष नहीं रहा; उन्होंने अपने भीतर उमड़ती हुई आत्मा की शक्ति का अनुभव किया। उनमें 'मनुष्य' पूर्णतः वशीभूत हो चुका था; और अब वह दिव्य गुरु बनते हुए, जो वे अब हो चुके थे, उन्होंने घोषित किया, "उठो, चलें," हत्यारे से मिलने के लिए। अब यह विस्तार से दिखाना समय की व्यर्थता प्रतीत होती है कि परमेश्वर के पुत्र के स्वर्ग से उतरने के जिन तीन उद्देश्यों के लिए वे आ सकते थे, अर्थात्:

(१) पिता की महिमा को मानव जाति के समक्ष प्रकट करना,(२) मानवता को पाप से मुक्त करना, और(३) मृतकों में से जी उठकर परमेश्वर के पुत्रत्व के अपने दावे को स्थापित करना,

ये यीशु द्वारा मानव जाति के एक सदस्य के रूप में कहीं बेहतर ढंग से पूर्ण किए गए, बनिस्बत इसके कि रूढ़िवादी अर्थ में परमेश्वर के पुत्र के रूप में वे यह कर पाते।

अब हमें उन्हें समझने में कोई कठिनाई नहीं जब वे घोषित करते हैं:—"यदि कोई मेरे पीछे आना चाहे, तो वह स्वयं को अस्वीकार करे, और प्रतिदिन अपना क्रूस उठाए, और मेरे पीछे चले।"

जब उद्घोषक का स्वर, 'पश्चाताप करो क्योंकि स्वर्ग का राज्य निकट है,' सुना और मनन किया जाता है, तो उद्धारकर्ता के आगमन का मार्ग सीधा हो जाता है। तब उच्चतर शिक्षा आती है, कि जो अपना जीवन बचाना चाहता है वह उसे खो देगा, परन्तु जो भीतर के मसीह के लिए इसे खो देता है, वह उसे पा लेगा। यही शिक्षा का व्यावहारिक पालन है, जो शारीरिक स्व के क्रूसारोपण में परिणत होकर, ईश्वरत्व की ओर ले जाता है। परन्तु निम्न स्वभाव का प्रेम ही दुख का कारण है; क्योंकि, जब तक वह सत्ता में है, मनुष्य की ईश्वरत्व देहरी के नीचे छिपी रहनी चाहिए। अतः, जब तक मनुष्य अपने पशु-स्वभाव से चिपका रहता है, और इंद्रिय-जगत द्वारा प्रदत्त सुख और आनंद में भाग लेने की लालसा रखता है, वह अपना जीवन नहीं बचा सकता; परन्तु यदि वह अपने निम्न स्व की बलि देने के लिए तत्पर हो जाए, ताकि भीतर का मसीह अपने अधिकार में आ सके, तो वह शीघ्र ही चिरंतन जीवन का स्रोत बन जाता है। जिस प्रकार अपने निम्न स्वभाव के विनाश द्वारा यीशु मसीह बने, अमर जीवन का स्रोत, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति, जो अपने भीतर के पशु को क्रूस पर चढ़ाएगा, अमरत्व प्राप्त करेगा। पश्चिमी राष्ट्रों को यीशु की शिक्षा को समझना कठिन लगा

है, क्योंकि उनके समक्ष केवल उनका एकाकी उदाहरण था; परन्तु पूर्व में सैकड़ों-हज़ारों ऐसे पुरुष हुए हैं जो ईश्वरत्व तक उठे हैं। जैनों के चौबीस तीर्थंकरों ने यीशु के आगमन से शताब्दियों पूर्व ही पूर्व के राष्ट्रों के समक्ष यह उदाहरण प्रस्तुत कर दिया था, और अपने निम्न स्वभाव की उपेक्षा, मर्दन, और अंततः पूर्ण विनाश द्वारा देवत्व की पूर्णता अर्जित करने में सफल हुए थे। आज भी ऐसे पुरुष हैं जो इसी सिद्धांत पर जीने का प्रयत्न कर रहे हैं। मृत्यु, व्याधि और शोक से ऊपर उठने का यही एकमात्र मार्ग है।

जहाँ तक पुनरुत्थान का संबंध है, अब वह भूमि तैयार हो चुकी है, स्थापित तथ्यों और निकाले गए निष्कर्षों द्वारा, यह उचित रूप से समझने के लिए कि यीशु के क्रूसारोपण के पश्चात क्या हुआ। कैल्वेरी के दृश्य के शेष विवरणों को भरने के लिए केवल कुछ अन्य घटनाओं की आवश्यकता है। इनमें से पहली यह ध्यान देने योग्य है कि यीशु को छठे घंटे क्रूस पर चढ़ाया गया था और नौवें घंटे तक उनकी मृत्यु हो चुकी थी। यह इतना विचित्र और अप्रत्याशित था कि पिलातुस को आश्चर्य हुआ कि क्या यीशु पहले ही मर चुके हैं (मरकुस १५:४४)। सामान्यतः क्रूसारोपण द्वारा मृत्यु एक धीमी, लंबी प्रक्रिया होती है। द वेस्टमिंस्टर बाइबल डिक्शनरी (पृष्ठ १४७) में इस विषय पर निम्नलिखित टिप्पणी है:—"इस प्रकार दी गई मृत्यु-पीड़ाएँ न केवल असह्य थीं, बल्कि लंबी भी, अभागा व्यक्ति प्रायः कई दिनों तक जीवित रहता था।"

यहाँ तक कि यदि हम मान लें कि यीशु के साथ अपराधियों को भी क्रूस पर चढ़ाया गया था, तो वे जीवित पाए गए और यहूदी मान्यताओं के अनुसार उनके पैर तोड़कर उन्हें मारना पड़ा (यूहन्ना १९:३१; व्यवस्थाविवरण २१:२३)।

ध्यान देने योग्य एक अन्य बिंदु यह है कि यीशु ने पीड़ा को मंद करने के लिए दिए जाने वाले सिरके और पित्त के मिश्रण को पीने से इनकार कर दिया। मत्ती (२७:३४) के अनुसार, 'जब उन्होंने उसे चखा, तो पीने से इनकार कर दिया।'

अंतिम और सबसे महत्वपूर्ण बिंदु उनकी 'मृत्यु' का ढंग है। कहा जाता है कि उन्होंने दो बार दोहराए गए इस चीत्कार के साथ प्राण त्यागे, "हे मेरे परमेश्वर, हे मेरे परमेश्वर, आपने मुझे क्यों त्याग दिया।"* यह विवरण मत्ती (२७:४६ और ५०) द्वारा दिया गया है। मरकुस (१५:३४ और ३७) लगभग शब्दशः इसकी पुष्टि करते हैं। लूका, हालाँकि, कथा को एक प्रबल भिन्नता के साथ कहते हैं। उनके अनुसार, यीशु ने ऊँचे स्वर में चिल्लाकर, यह कहते हुए प्राण त्यागे, 'हे पिता, मैं

अपनी आत्मा आपके हाथों में सौंपता हूँ।' दूसरी ओर, यूहन्ना, जो घटनास्थल पर उपस्थित होने का दावा करते हैं, और जिनके नाम से गॉस्पेल सत्यनिष्ठ माने जाने की उनकी उत्सुकता को छिपाने का कोई प्रयास नहीं करता, हमें बताते हैं:—"जब यीशु ने सिरका ग्रहण किया, तो उन्होंने कहा, 'पूरा हुआ': और अपना सिर झुकाकर, प्राण त्याग दिए।" यूहन्ना यीशु की माता को भी दृश्य में लाते हैं, और उनके कैरियर के उस परमोच्च क्षण में उन्हें इतना मनुष्यों के जगत में खींच लाते हैं कि उन्हें उससे कहलवाते हैं, "हे नारी, अपना पुत्र देखो," और 'उस शिष्य' से, "अपनी माता देखो।"

*'सीक्रेट डॉक्ट्रिन' (खंड ३, पृ. १४६-८) दर्शाता है कि मूल हिब्रू पांडुलिपि में इस पद का अर्थ वह नहीं है जो अंग्रेज़ी संस्करण में दिया गया है, बल्कि यह है: "हे मेरे परमेश्वर, हे मेरे परमेश्वर, आप मुझे कैसे महिमामंडित करते हैं।" यह निश्चय ही अधिक सारगर्भित है।*

इनमें से कोई भी कथन परमेश्वर के पुत्र की गरिमा के अनुकूल नहीं है, न ही ये यीशु के अपने भीतर के 'मनुष्य' को क्रूस पर चढ़ाने के रवैये के साथ पूर्णतः संगत हैं। इनमें निहित विरोधाभासों की प्रकृति ऐसी है कि इन पर कोई भरोसा नहीं किया जा सकता, और यह अत्यंत संभावित है कि यीशु के शिष्य उनकी गिरफ्तारी के पश्चात, प्रथम अवसर पर ही, भाग खड़े हुए थे, संभवतः पतरस को छोड़कर।

नए नियम में अभिलिखित यीशु के पुनरुत्थान के वर्णन के संबंध में, हम डॉ॰ डब्ल्यू॰ वेंज़लिक, एम॰डी॰, को इस विषय पर अपने विचार प्रस्तुत करने देंगे।वे 'द ग्रेटेस्ट गुड ऑफ मैनकाइंड' (पृष्ठ २०५, २०६ और २०७) में लिखते हैं:—

> "स्वर्ग से एक भूकंप के बीच उतरता हुआ एक देवदूत मसीह की कब्र से पत्थर लुढ़काता है, जिसे मत्ती के अनुसार मरियम मगदलीनी और दूसरी मरियम ने देखा, यह निश्चय ही इतनी उल्लेखनीय बात है कि यदि यह घटित हुई होती, तो मरकुस, लूका और यूहन्ना भी इस चमत्कार को प्रस्तावना के रूप में अभिलिखित करते।

केवल इस साक्ष्य को छोड़ने के बजाय, इनमें से तीन प्रेरित इसके विपरीत साक्ष्य देते हैं; लूका, २४:२, कहते हैं: और उन्होंने पत्थर को कब्र से लुढ़का हुआ पाया और कब्र के बाहर कोई देवदूत नहीं, बल्कि भीतर एक था, और वह भी, योअन्ना दोनों मरियमों के साथ थी। यूहन्ना, २०, हालाँकि कहते हैं, अकेले मरियम मगदलीनी कब्र पर गई। मरकुस, १६:४, स्वर्ग से किसी देवदूत का उल्लेख नहीं करते, बल्कि 'उन्होंने देखा कि पत्थर लुढ़का हुआ है।'

इस प्रकार चारों अभिलेखों में चार भिन्न वृत्तांत हैं।

जहाँ लूका के एक युवक देवदूत को दाहिनी ओर बैठे बताया गया है, १६:५, वहीं लूका २४:४ के अनुसार चमकदार वस्त्रों में दो पुरुष उनके पास खड़े थे: परन्तु यूहन्ना कहते हैं, २०:१२, मगदलीनी दो देवदूतों को श्वेत वस्त्रों में बैठे देखती है, एक सिरहाने और एक पैताने, जहाँ यीशु का शरीर पड़ा था।

यदि ये विभिन्न लेखक देवदूतों की संख्या और उनकी मुद्राओं में इतने सूक्ष्म थे, तो वे साक्ष्य देने वाले साक्षियों की संख्या के विषय में एक-दूसरे का विरोध क्यों करते हैं: मत्ती कहते हैं कि दोनों मरियम गईं, लूका कहते हैं कि योअन्ना अकेली थी, और यूहन्ना कहते हैं कि अकेली मगदलीनी कब्र पर गई।

मत्ती कहते हैं कि दोनों मरियम शिष्यों के पास जाते समय यीशु से मिलीं और उन्होंने उनसे बात की। नियत समय पर यीशु पर्वत पर ग्यारह से मिले और निर्देश दिए। न लुप्त होने का, न स्वर्ग की ओर उठने का कोई उल्लेख है। इस अध्याय में उनके अंतिम शब्द हैं: 'मैं सदैव तुम्हारे साथ हूँ, यहाँ तक कि जगत के अंत तक।'

मरकुस अभिलिखित करते हैं, १६:९, कि यीशु जब जी उठे तो पहले मगदलीनी को दिखाई दिए, १२, फिर किसी और रूप में उन दो को जो उनके साथ थे, तत्पश्चात स्वयं ग्यारह को। १९. उनसे बात करने के पश्चात, उन्हें स्वर्ग में ऊपर उठा लिया गया और वे परमेश्वर के दाहिने हाथ बैठ गए।

लूका २४:१३, वर्णन करते हैं कि यीशु सबसे पहले उन दो को दिखाई दिए जो यात्रा कर रहे थे, परन्तु वे उन्हें पहचान नहीं सके जब तक उन्होंने भोजन नहीं किया: ३१, और तब वे दृष्टि से ओझल हो गए। ३४. वे शमौन को दिखाई दिए, ३६. फिर वे उनके बीच खड़े हुए। ३९. यह मैं ही हूँ: मुझे छूकर देखो; क्योंकि आत्मा के पास मांस और हड्डियाँ नहीं होतीं, जैसा तुम मुझमें देखते हो। ५०, वे उन्हें बाहर ले गए: ५१. जब वे उन्हें आशीष दे रहे थे, वे उनसे अलग हो गए और स्वर्ग में उठा लिए गए।

यूहन्ना में यीशु मगदलीनी को उस समय कब्र में दिखाई देते हैं जब वह देवदूतों से बात कर चुकी होती है, परन्तु वह उन्हें पहचानती नहीं। १७. जब उसने उन्हें पहचान लिया, यीशु ने कहा, मुझे मत छूओ; क्योंकि मैं अभी पिता के पास नहीं चढ़ा। १९. सप्ताह के पहले दिन की संध्या को वे शिष्यों को एक बंद कमरे में दिखाई दिए। २६. आठ दिनों के पश्चात वे फिर आए, द्वार बंद होते

हुए भी। २७. तब वे थोमा से कहते हैं, अपना हाथ इधर लाओ और मेरी पसली में डालो; यूहन्ना २०:१५-२७। २१:२४ में, यीशु तिबिरियास के समुद्र-तट पर शिष्यों को पुनः प्रकट होते हैं और जालों को मछलियों से भर देते हैं। वे यह नहीं बताते कि वे कैसे लुप्त हुए, और 'हम जानते हैं कि उनकी साक्षी सच्ची है।'

यीशु ने अपने दुख के पश्चात अनेक प्रमाणों द्वारा स्वयं को जीवित दिखाया, चालीस दिनों तक प्रेरितों को दिखाई देते हुए, ऐसा पौलुस प्रेरितों के काम १:३-९ में कहते हैं। और जब उन्होंने ये बातें कह दीं, वे देखते ही देखते ऊपर उठा लिए गए; और एक बादल ने उन्हें उनकी दृष्टि से ओझल कर लिया। और जब वे स्वर्ग की ओर एकटक देख रहे थे, दो पुरुष श्वेत वस्त्रों में उनके पास खड़े हो गए; जिन्होंने भी कहा, हे गलील के पुरुषो, तुम स्वर्ग की ओर क्यों देख रहे हो? यही यीशु, जो तुम्हारे बीच से स्वर्ग में उठा लिया गया, इसी रीति से पुनः आएगा जैसा तुमने उसे स्वर्ग जाते देखा।

पौलुस कहते हैं, कि यीशु कैफा को दिखाई दिए; फिर बारह को: फिर वे पाँच सौ से अधिक भाइयों को एक साथ दिखाई दिए, जिनमें से अधिकांश अभी तक जीवित हैं; ७, फिर वे याकूब को दिखाई दिए; फिर समस्त प्रेरितों को, और अंततः, मानो असमय जन्मे किसी को, वे मुझे भी दिखाई दिए; १ कुरिन्थियों १५:५-७।

स्वर्गारोहण, जैसा प्रेरितों द्वारा साक्षी दिया गया, प्रेरितों के काम में उन समस्त सहायक तत्वों के साथ वर्णित है जिनकी ऐसी किसी शानदार घटना से अपेक्षा की जाएगी, जबकि मरकुस और लूका केवल यह कहते हैं कि यीशु स्वर्ग में ग्रहण किए गए; मत्ती, यूहन्ना, और १ कुरिन्थियों में पौलुस ऐसे किसी महान चमत्कार के विषय में कुछ नहीं कहते।"

"उपस्थिति का क्रम।

यीशु निम्नलिखित क्रम में प्रकट हुए:

मत्ती के अनुसार, पहले मरियम और मगदलीनी को, फिर ११ प्रेरितों को।

मरकुस—मगदलीनी को, फिर दो प्रेरितों को, फिर सबको।

लूका—दो प्रेरितों को, फिर शमौन को, फिर सबको।

यूहन्ना—मगदलीनी को, फिर शिष्यों को, ८ दिनों में पुनः तिबिरियास में।

प्रेरितों के काम—४० दिनों में प्रेरितों को।

१ कुरिन्थियों—कैफा को, फिर १२ प्रेरितों को, फिर उपर्युक्त ५०० को।

पौलुस को, और याकूब को।

कोई भी दो अभिलेख न तो साक्षियों की संख्या पर सहमत हैं, न ही यीशु से मिलने के क्रम पर।

साक्षियों की गवाही में मामूली अंतर साक्ष्य को सुदृढ़ करेगा यदि वे केवल वैयक्तिक धारणाओं के अंतर को व्यक्त करते हैं, परन्तु मूल तत्वों पर सहमति होनी ही चाहिए। उपर्युक्त में मूल तत्व न केवल असहमत हैं, बल्कि एक-दूसरे का खंडन करते हैं। यह उस पर भी लागू होता है जो यीशु और उनके शिष्यों द्वारा कहा गया। यदि निकटता से जाँचा जाए तो पाया जाएगा कि प्रासंगिक और अप्रासंगिक दोनों ही प्रत्येक संस्करण में भिन्न हैं। उदाहरणार्थ; लूका, २४:३९, पहले दिन की संध्या को, 'मेरे हाथ और पैर देखो, कि यह मैं ही हूँ; मुझे छूकर देखो: क्योंकि आत्मा के पास मांस और हड्डियाँ नहीं होतीं, जैसा तुम मुझमें देखते हो।' यूहन्ना, २०:१७ में, यीशु मगदलीनी से कहते हैं, मुझे मत छूओ; क्योंकि मैं अभी पिता के पास नहीं चढ़ा। पुनः, आठ दिन बाद, पद २७, वे थोमा से छूकर परीक्षा करने को कहते हैं.....हमें अपने ही निष्कर्ष निकालने के लिए छोड़ दिया गया है।"

यीशु के क्रूसारोपण के पश्चात घटित घटनाओं के संबंध में मिथ्यात्व और प्रक्षेपण के स्पष्ट चिह्न हैं। मत्ती फरीसियों को दूसरे दिन, इस भय से कि कहीं वह छलिया फिर से न उठ खड़ा हो, पिलातुस से कब्र को सुरक्षित करने की अनुमति लेते दिखाते हैं (मत्ती २७:६२-६६)। यह उससे मेल नहीं खाता जो यूहन्ना अपने गॉस्पेल में कहते हैं (अध्याय १२, पद ३२, ३३ और ३४)। यह कठिन विश्वसनीय है कि यीशु अपने भाषण में इतने असावधान होते कि जो उनके मित्रों और शिष्यों के लिए अबोधगम्य रहा वह उनके शत्रुओं के लिए स्पष्ट हो जाता। इसके अतिरिक्त, यदि यहूदियों को उनके प्रति कोई आशंका होती, तो उन्होंने उस समय अधिक शीघ्रता और तत्परता दिखाई होती जब उनका शरीर अभी क्रूस पर ही पड़ा था, अथवा अधिक-से-अधिक, उसी रात। कोई अन्य गॉस्पेल-लेखक इस बिंदु पर मत्ती की पुष्टि नहीं करता। कब्र को सुरक्षित करने की कथा के विरुद्ध सबसे सशक्त कारण इस तथ्य में निहित है कि यहूदियों को यीशु के पुनरुत्थान का बिल्कुल भी ज्ञान नहीं था, अन्यथा उनकी ओर से गतिविधि अथवा पश्चाताप के कुछ लक्षण अवश्य दिखाई देते। यह असंभव है कि ऐसी घटना बिना किसी भारी हलचल के गुज़र गई हो, जिसकी

अनुपस्थिति को समझाने के लिए घूस की कथा अत्यंत निर्बल है। यह वृत्तांत, निःसंदेह, अतिश्योक्ति के दोष से ग्रस्त है।

मत्ती अपने गॉस्पेल को इस बात के साथ समाप्त करते हैं कि यीशु के कुछ शिष्य अभी भी उनके पुनरुत्थान पर संदेह कर रहे थे, यद्यपि उन्होंने 'उन्हें देखा और उनकी उपासना की' (२८:१७)।

लूका के अनुसार, पुनरुत्थान और लुप्त होना उसी दिन घटित हुए। कुछ स्त्रियाँ गईं और खाली कब्र देखी, और जब उन्होंने यह समाचार शिष्यों तक पहुँचाया, तो पतरस भी यह देखने दौड़े कि क्या हुआ, और यह देखकर आश्चर्यचकित रह गए कि कब्र में लिनन के वस्त्र तो पड़े थे, परन्तु यीशु का शरीर नहीं। उसी दिन यीशु दो शिष्यों से मिले, उनसे बात की, संध्या को उनके साथ भोजन किया, लगभग एक घंटे बाद शेष सबसे मिले, और अंततः उन्हें बेथानी तक ले जाकर उनसे अलग हो गए और स्वर्ग में उठा लिए गए।

यूहन्ना के अनुसार, पतरस और 'दूसरे शिष्य' दोनों कब्र देखने दौड़े, और यद्यपि 'दूसरा शिष्य' पतरस से आगे निकल गया, परिणाम यह हुआ कि दोनों ने कब्र को खाली पाया, सिवाय इसके कि उसमें लिनन के वस्त्र और एक अँगोछा था। यूहन्ना की विश्वसनीय माने जाने की उत्सुकता व्यावहारिक रूप से यह असंभव बना देती है कि कोई उनके गुरु के पुनरुत्थान से संबंधित रहस्यमय घटनाओं के उनके वर्णन पर विश्वास करे।

आगे, यदि यह सत्य है कि ग्यारह में से कुछ अपने गुरु के पुनरुत्थान के विषय में संदेह रखते थे, इस तथ्य के बावजूद कि उन्होंने उन्हें देखा और उनकी उपासना की, तो निष्कर्ष यह प्रतीत होता है कि यीशु के अपने शिष्यों के मध्य प्रकट होने के अधिक लंबे और विस्तृत वृत्तांतों का, हर स्थिति में, ऐतिहासिक अर्थ में पढ़ा जाना अभिप्रेत नहीं है।

परन्तु, गॉस्पेल-लेखकों के वृत्तांतों को अस्वीकार करते हुए भी, कोई स्वयं को पुनरुत्थान के तथ्य को पूर्णतः अस्वीकार करने में असमर्थ पाता है। यद्यपि यह सत्य है कि यीशु के अधिकांश शिष्यों के पास किसी नए अथवा विशेष प्रशिक्षण के रूप में दिखाने योग्य बहुत कम अथवा कुछ भी नहीं है, इस तथ्य के बावजूद कि उनमें से कुछ अभिलिखित करते हैं कि उद्धारकर्ता के मृतकों में से जी उठने के पश्चात उनकी समझ खोली गई थी, तथापि केवल इस कारण से यीशु की स्वयं को उठा लेने की शक्ति में अविश्वास करना असंभव है।

न ही यह तर्कसंगत है कि उनके शत्रुओं के समक्ष प्रकट न होना उनके पुनरुत्थान में विश्वास को अनिवार्यतः अवरुद्ध करता है, क्योंकि कब्र से बाहर आने के पश्चात उनके पास उनका ध्यान आकर्षित न करने के लिए कोई उपयुक्त कारण रहा हो सकता है। यह सब उस दृष्टिकोण पर निर्भर करता है जो हम उनकी 'मृत्यु' के विषय में अपनाते हैं। यदि कोई विश्वास करे कि वे वस्तुतः क्रूस पर मरे, तो निश्चय ही पुनरुत्थान का अंत हो जाता है; परन्तु यदि, अपने पूर्व निष्कर्षों के अनुरूप, हम उन्हें स्वयं को गहरी तंद्रा में डालने की शक्ति प्रदान करें, तो इसमें कोई कठिनाई नहीं है।

क्रूसारोपण के पश्चात यीशु के कार्यों के संबंध में बाइबिली आख्यानों को अस्वीकार करते हुए, हम इन घटनाओं की व्याख्या अपने ही ढंग से करेंगे। पहली बात देखने की यह है कि क्या योग के उच्चतर सिद्धों तथा अन्य रहस्यवादियों द्वारा दावा की जाने वाली, इच्छानुसार तंद्रा की स्थिति में प्रवेश कर सभी दृष्टिगत रूप से मृततुल्य हो जाने की शक्ति का कोई प्रमाण है। इसमें कोई गंभीरता से इनकार नहीं करेगा कि निलंबित जीवन-क्रिया के मामले हुए हैं; और इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि अतीत में कुछ शोचनीय अंत्येष्टियाँ हुई होंगी जिनमें दफनाए गए व्यक्ति मृत माने गए, यद्यपि वास्तव में जीवित और तंद्रा में थे। डॉ॰ ड्रेटन, एम॰डी॰, न्यू जर्सी के रेवरेंड विलियम टेनन्ट के मामले का उल्लेख करते हैं, जो कई बार तंद्रा में चले गए, और दो बार कब्र के लिए तैयार भी कर दिए गए, उनके चिकित्सकों ने भी यह निष्कर्ष निकाला था कि वे मर चुके हैं (ह्यूमन मैग्नेटिज़्म, पृष्ठ ५९)।

उसी पृष्ठ पर वे कहते हैं:—"'निलंबित जीवन-क्रिया' के अनेक अन्य मामले अभिलिखित हैं, जिनके विषय में दावा किया जाता है कि इन्हें लगभग इच्छानुसार प्रेरित किया जा सकता है। पूर्वी भारत के फ़कीरों की कथाएँ, जिन्होंने स्वेच्छा से तंद्रा-अवस्था में प्रवेश किया और महीनों तक प्रत्यक्षतः मृततुल्य बने रहे, उनकी अपनी 'साक्षी' गवाही है, और यह ऐसी प्रकृति की है जिसका संशयवाद भी सम्मान करता है।"

हमें डॉ॰ ड्रेटन से यह भी ज्ञात होता है कि सर मोनियर विलियम्स, जो कभी ऑक्सफोर्ड में संस्कृत के प्राध्यापक थे, ने भी ऐसे विवरणों की प्रामाणिकता की साक्षी दी, और डॉ॰ मैकग्रेगर, जो उस समय के निवासी शल्यचिकित्सक थे, ने भी मामले का अवलोकन किया। छल को रोकने के लिए हर सावधानी बरती गई थी (ह्यूमन मैग्नेटिज़्म, पृष्ठ ५९-६०)।

सामान्यतः तंद्रा में पीड़ा की संवेदनाएँ अनुपस्थित होती हैं, और इनसे मुक्ति और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है जब उस अवस्था में प्रवेश करने से पूर्व स्वयं व्यक्ति द्वारा, अथवा बाद में, सम्मोहन की भाँति किसी अन्य द्वारा, इस आशय का सुझाव दिया जाता है। प्रो॰ जेम्स अपने 'प्रिंसिपल्स ऑफ साइकोलॉजी' के द्वितीय खंड के पृष्ठ ६०६ पर कहते हैं:—

> "वास्तविक संवेदनाओं को उसी प्रकार लुप्त किया जा सकता है जिस प्रकार झूठी संवेदनाओं का सुझाव दिया जाता है। टाँगें और स्तन काटे जा सकते हैं, बच्चे जन्म लिए जा सकते हैं, दाँत निकाले जा सकते हैं, वस्तुतः सबसे पीड़ादायक अनुभव सहे जा सकते हैं, बिना किसी अन्य निश्चेतक के, केवल सम्मोहनकर्ता के इस आश्वासन के बल पर कि कोई पीड़ा अनुभव नहीं होगी।"

इससे अधिक प्रमाण बढ़ाना व्यर्थ होगा; परिघटना के समर्थन में साक्ष्य पर्याप्त से भी अधिक है, और इसलिए इसमें किसी संदेह की गुंजाइश नहीं है। जहाँ तक पीड़ा के निषेध का प्रश्न है, यह अब एक भली-भाँति स्थापित नियम माना जाता है कि जाग्रत अवस्था में किसी व्यक्ति द्वारा स्वयं अंगीकृत सुझाव सामान्यतः सम्मोहन-निद्रा के प्रेरण के पश्चात किसी अन्य द्वारा दिए गए सुझाव से अधिक प्रभावी होता है।

हम अब मानवता के कल्याण के लिए यीशु द्वारा निश्चय किए गए महान बलिदान के अपने वृत्तांत का सूत्र पुनः ग्रहण कर सकते हैं। उन्हें किस प्रकार धोखा दिया गया, गिरफ्तार किया गया, और प्रधान पुजारी के पास ले जाया गया, यह बाइबिल में वर्णित है, और इसलिए हमें इसका विस्तृत वर्णन करने के लिए विलंब करने की आवश्यकता नहीं। यह, हालाँकि, पता चला कि उन पर अपराध लगाने योग्य कोई सार्थक साक्ष्य नहीं था। केवल दो व्यक्ति उनके विरुद्ध गवाही देते प्रतीत हुए, और उनकी गवाही भी इतनी विसंगतिपूर्ण थी कि उस पर भरोसा करना सुरक्षित नहीं समझा गया। प्रधान पुजारी और उनके साथी असमंजस में थे, और नहीं जानते थे कि क्या करें। यहाँ वही मनुष्य था जिसके विनाश के लिए समस्त षड्यंत्र और योजना रची गई थी, परन्तु ठीक उसी क्षण जब उन्हें लगा कि वह उनकी पकड़ में है, वह अच्छे साक्ष्य के अभाव में उनके हाथों से निकलता प्रतीत हुआ। घोर हताशा में पुजारी ने बंदी को स्वयं के विरुद्ध कोई अपराधसूचक कथन देने के लिए धमकाने का उपाय अपनाया। यीशु की ओर मुड़कर उसने माँग की:—"क्या तू कुछ उत्तर नहीं देता? ये तेरे विरुद्ध क्या गवाही देते हैं?" (मरकुस १४:६०)

यीशु चुप रहे, परन्तु एक क्षण के विचार ने उन्हें दिखा दिया कि उनकी चुप्पी उनकी योजनाओं का विनाश कर सकती है; तदनुसार, उन्होंने अपने शत्रुओं की सहायता करने का निश्चय किया, ताकि जब चतुर पुजारी ने पुनः आक्रमण करते हुए कहा, "क्या तू मसीह है, धन्य के पुत्र?" (मरकुस १४:६१), तो उन्होंने उत्तर दिया,"तूने कहा: तथापि मैं तुमसे कहता हूँ, इसके पश्चात तुम मनुष्य के पुत्र को शक्ति के दाहिने हाथ बैठे और स्वर्ग के बादलों में आते देखोगे।" —मत्ती २६:६४

यह प्रधान पुजारी और यीशु के अन्य अभियोक्ताओं के लिए पर्याप्त था, जिन्होंने उन्हें विविध प्रकार के अपमानों के अधीन करने के पश्चात, गवर्नर के निवास पर ले जाकर, रोमन सम्राट के विरुद्ध राजद्रोह का दोषी ठहराया (मरकुस १५:१२; लूका २३:२)। पिलातुस के समक्ष अपने कथन में, यीशु उसे किसी गलत धारणा में रहने देना नहीं चाहते थे, यह देखते हुए कि वह एक न्यायी पुरुष था, और उससे कहा कि उनका राज्य इस संसार का नहीं है, जिस पर पिलातुस उन्हें रिहा करने के लिए प्रवृत्त हुआ; परन्तु यह भय कि उनकी मृत्यु के लिए ऐसे तूफानी शोर के समक्ष उन्हें रिहा करना, कैसर के शत्रु के रूप में, उसे अपने ही सम्राट की दृष्टि में फँसा सकता है, उसे उनकी माँग के आगे झुकना पड़ा, क्योंकि उन्होंने खुले तौर पर उसकी निंदा करने की धमकी दी थी, यह कहते हुए:"यदि तू इस मनुष्य को छोड़ देता है तो तू कैसर का मित्र नहीं: जो कोई स्वयं को राजा बनाता है वह कैसर के विरुद्ध बोलता है।" —(यूहन्ना १९:१२)

यहाँ, पुनः, हम यीशु के स्वभाव की उदात्तता को स्वयं को दृढ़ता से प्रकट करते पाते हैं। सत्य के लिए, और एक न्यायी पुरुष को भ्रमित होने से बचाने के लिए, उन्होंने अंतिम क्षण में सब कुछ, यहाँ तक कि अपनी योजनाओं की सफलता तक को, दाँव पर लगा दिया। यदि पिलातुस ने उन्हें क्रूस पर चढ़ाने से इनकार कर दिया होता, तो उनकी समस्त योजनाएँ विफल हो जातीं, परन्तु यह किसी न्यायी पुरुष को भ्रमित करने से बेहतर होता।न्याय-भवन से उन्हें गोलगोथा के स्थान ले जाया गया, और क्रूस पर ठोक दिया गया, उसके शीर्ष पर लगा अभिलेख यह दर्शाता हुआ कि उन्हें राजद्रोह के लिए क्रूस पर चढ़ाया गया है। उनके साथ दो अपराधियों को क्रूस पर चढ़ाए जाने की कथा प्रतीत होता है कि गढ़ी गई थी, ताकि यह भविष्यवाणी 'पूर्ण' हो सके जिसमें कहा गया था: 'और वह अपराधियों में गिना गया' (मरकुस १५:२८)। इस प्राचीन कथन की पूर्ति के दुर्भाग्य से, एक वास्तविक ऐतिहासिक घटना के रूप में, तथ्य स्पष्ट रूप से विपरीत दिशा में संकेत करते हैं। इस बिंदु पर लूका समस्त गॉस्पेल-लेखकों में सबसे अधिक वाचाल हैं। वे अपने एक अपराधी को

यीशु का अपमान करते हुए दिखाते हैं, परन्तु दूसरे को उसकी अश्रद्धा के लिए डाँटते हुए, जिससे यीशु इतने प्रसन्न होते हैं कि वे उस परमेश्वर-भीरु दुष्कर्मी को उसी दिन स्वर्ग में सवारी का वचन देते हैं (लूका २३:३९-४३)। मत्ती और मरकुस दोनों बिना किसी हिचकिचाहट के घोषित करते हैं कि यीशु के साथ क्रूस पर चढ़ाए गए चोरों ने भी, स्वाभाविक रूप से, उनका अपमान किया, और आगे के सभी विवरण छोड़ देते हैं, क्योंकि, चूँकि दोनों ने ही उनका अपमान किया था, इसलिए यीशु की ओर से किसी को भी वचन के रूप में कहने के लिए कुछ नहीं था (मत्ती २७:४४; मरकुस १५:३२)। यूहन्ना, लूका के परस्पर विरोधाभासी और झगड़ालू अपराधियों के साथ क्या करें यह न जानते हुए, उन्हें दृश्य में लाना ही पर्याप्त समझते हैं; तदनुसार, वे केवल तीन व्यक्तियों के एक साथ क्रूसित होने की घटना अभिलिखित करने से संतुष्ट हो जाते हैं, जिनमें से एक यीशु थे। ऐसी परिस्थितियों में, शिष्यों की गवाही इस तथ्य को स्थापित करने के लिए पूर्णतः अपर्याप्त है, और यशायाह तथा अन्य भविष्यवक्ताओं की भविष्यवाणियों में से यथासंभव अधिक की पूर्ति दिखाने की इच्छा से कहीं अधिक प्रतिसंतुलित है। संयोगिक साक्ष्य पूर्णतः इसके विरुद्ध है। जब तक अपराधियों को वस्तुतः क्रूस पर नहीं चढ़ाया गया, तब तक किसी को भी उनके अस्तित्व मात्र के विषय में कुछ ज्ञात नहीं था, इस सीमा तक कि यह कल्पना करने का मन करता है कि इन आदरणीय सज्जनों ने स्वेच्छा से यह निश्चय किया हो कि वे यीशु के साथ मृत्यु में शामिल हों, ताकि यशायाह का वचन भंग न हो। लूका, निश्चय ही, यह कहते हैं कि अपराधियों को भी उनके साथ ले जाया गया, परन्तु वे इस बिंदु पर अत्यधिक वाचाल हैं, और उन्हें साक्षी-कठघरे से बाहर ही रखना श्रेयस्कर है।

पिलातुस की भाषा में ऐसा कुछ भी नहीं है जो यह सुझाए कि बरअब्बा और यीशु के अतिरिक्त कोई अन्य व्यक्ति भी क्रूस पर चढ़ाया जाना था। मत्ती (२७:१७) हमें उस अवसर पर उनके (पिलातुस के) द्वारा प्रयुक्त सटीक शब्द देते हैं, और वे थे:—"तुम किसे चाहते हो कि मैं तुम्हारे लिए छोड़ूँ? बरअब्बा को, या यीशु को जिसे मसीह कहा जाता है?"

इस भाषण में किसी तीसरे बंदी का कोई संदर्भ नहीं है। इसके अतिरिक्त, यह अत्यंत अविश्वसनीय है कि जिन व्यक्तियों का एकमात्र अपराध चोरी करना था (मत्ती २७:३८ और ४४; मरकुस १५:२७) उन्हें मृत्युदंड दिया जाता, जबकि बरअब्बा, जो एक कुख्यात बंदी था, क्योंकि उसने स्थापित सत्ता के विरुद्ध एक विद्रोह में भाग लिया था, और हत्या का भी दोषी था (मत्ती

२७:१६)—एक हत्यारा और विद्रोही (मरकुस १५:७), एक बलवाई और हत्यारा (लूका २३:१९)—और एक लुटेरा (यूहन्ना १८:४०)—रिहा कर दिया जाता। इस प्रकार, इतिहासकार के दृष्टिकोण से, स्वयं बाइबिल द्वारा प्रदत्त आंतरिक साक्ष्य यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि दोनों अपराधी मांस और अस्थि के मनुष्य नहीं थे।

क्रूस की त्रासदी के अंतिम अंक की ओर बढ़ते हुए, समापन-कार्यवाही का यूहन्ना का वृत्तांत संभवतः सही है। यीशु जैसे सशक्त व्यक्तित्व के लिए पीड़ा प्रश्न से बाहर थी। सैनिक सामान्यतः, और शारीरिक क्षति सहने के अभ्यस्त कम अन्य व्यक्ति भी, कभी-कभी गंभीर शल्य-क्रियाएँ बिना भय अथवा अधिक पीड़ा के लक्षण दिखाए सहन कर लेते हैं। सम्मोहन-सुझाव के अधीन विषय इससे मुक्त होते हैं; और उच्चतर कोटि के सिद्ध तथा योगी इससे परे होते हैं। यीशु के लिए यह कोई मायने नहीं रखता था कि उनके हाथ और पैर छेदे गए या नहीं। अपनी सर्वविजयी इच्छा-शक्ति के बल पर वे वहाँ, क्रूस पर, उतने ही सुखी थे जितने वे माउंट ऑलिव पर, अथवा कहीं और होते। उन्होंने अपना समय स्वयं लिया, और यह जानते हुए कि दिन ढल जाने के पश्चात उन्हें क्रूस पर अधिक समय तक टिकने नहीं दिया जाएगा, उन्होंने पर्याप्त लंबा समय बीत जाने की प्रतीक्षा की, और, कोई हो-हल्ला किए बिना, न ही एलिय्याह अथवा किसी अन्य को पुकारे बिना, स्वयं को योग-समाधि (तंद्रा) की स्थिति में डाल दिया, जिससे जब उन्होंने अपना सिर झुकाया तो 'यह पूरा हुआ' (यूहन्ना १९:३०)। देखने वाले लोगों ने सोचा कि उन्होंने प्राण त्याग दिए हैं; परन्तु जिसे उन्होंने प्राण त्यागने का कृत्य समझा, वह वास्तव में प्राण को 'खींचने' अथवा 'भीतर' 'समेटने' का कृत्य था। उनके क्रूसारोपण और 'प्राण त्यागने' के बीच बीता अविश्वसनीय रूप से अल्प समय इस दृष्टिकोण की पूर्ण पुष्टि करता है।

उनके क्रूसारोपण के साथ, गुरु के रूप में उनका कैरियर अनिवार्यतः समाप्त हो गया। वे अब कभी सुसमाचार के प्रचारक नहीं हो सकते थे; उनके जीवन का मिशन पूर्ण हो चुका था; उन्होंने संसार को अपना संदेश दे दिया था।

वृत्तांत को समाप्त करने के लिए, उन्हें क्रूस से उतारकर सस्नेह कब्र में लिटाया गया। एक बार वहाँ, आगे किसी उत्पीड़न और जोखिम से मुक्त, वे होश में आए। अपनी चमत्कारिक चिकित्सा-शक्तियों से, अपने ही घावों का उपचार करने के लिए केवल एक विचार पर्याप्त था। अब उनकी विजय पूर्ण हो चुकी थी; वे मृतकों में से जी उठे थे। उन्हें मृत्यु के दास के रूप में कब्र

तक ले जाया गया था, परन्तु उन्होंने उसे उसके स्वामी के रूप में छोड़ा। यह वस्तुतः एक पुनरुत्थान था, परन्तु उस अर्थ में नहीं जिस अर्थ में इसे सामान्यतः समझा जाता है। यह अज्ञान और पाप की जकड़ से ईश्वरत्व का पुनरुत्थान था। एक निपुण हाथ ने 'ज्ञान की कुंजी' का प्रयोग किया था, और सत्य का मार्ग खोल दिया था। अंधकार और मृत्यु की शक्तियाँ अब उनके लिए कुछ भी नहीं रह गई थीं जो इस मार्ग पर उद्धारकर्ता का अनुसरण करना चाहते थे।

यीशु कैसे और कब होश में आए, यह ज्ञात नहीं है; न ही यह हमारे प्रयोजन के लिए महत्वपूर्ण है। यह संभावित प्रतीत होता है कि उन्होंने अपने पुनरुत्थान के पश्चात अपने अधिकांश शिष्यों को नहीं देखा। निश्चय ही, वे न तो जनता के समक्ष, न ही अपने किसी शत्रु के समक्ष प्रकट हुए। यह एक अत्यंत खेदजनक परिस्थिति है। इस प्रकार दृश्य से पूर्णतः लुप्त हो जाने के उनके क्या कारण रहे होंगे, यह कहना असंभव है; इस विषय में केवल अनुमान लगाना ही हमारे लिए खुला है। हो सकता है उन्होंने सोचा हो कि दृश्य पर उनकी पुनः उपस्थिति उनके शत्रुओं को उनके सिद्धांत की सत्यता का विश्वास दिलाने में अनिवार्यतः सफल न होती। हो सकता है उन्होंने सोचा हो कि वे इस परिघटना का श्रेय भूत-विद्या को देंगे, और कोई अन्य, संभवतः कहीं अधिक कठोर, परीक्षा का प्रस्ताव रखेंगे। संभवतः, उन्होंने सोचा हो कि खाली कब्र तथा लिनन के वस्त्रों और अँगोछे द्वारा प्रस्तुत साक्ष्य किसी भी ऐसे व्यक्ति के लिए, जो बिना किसी पूर्वाग्रह अथवा हठधर्मिता के स्वयं सोचना चाहे, स्पष्ट प्रमाण था। पुनः, क्रूस पर उनकी पसली में लगा अप्रत्याशित भाला-प्रहार भी, हमें अज्ञात किसी प्रकार से, उनके प्रचार से बचने के लिए उत्तरदायी रहा हो सकता है। गुह्यविद्या के क्षेत्र में, कोई भी एकल विचार अदंडित नहीं जाता, अतः संभावना है कि भाला-प्रहार गतसमनी के स्थान पर यीशु द्वारा प्रदर्शित संदेह और दुर्बलता का परिणाम था। संदेह के कारण पतरस का डूबना (मत्ती १४:३१) यीशु द्वारा उस प्रसिद्ध वाक्य में इतनी भली-भाँति रखे गए बिंदु का उदाहरण है—'जो कोई इस पर्वत से कहे कि तू हट जा,...और अपने हृदय में संदेह न करे,...उसे वही मिलेगा जो वह कहता है' (मरकुस ११:२३)। मत्ती और लूका के वृत्तांतों की, कम-से-कम कुछ विवरणों में, सटीकता की संभावना अभी भी बनी हुई है, यद्यपि जिस ढंग से वे घटनाओं का वर्णन करते हैं, वह उनकी ऐतिहासिक सत्यता पर विश्वास करना लगभग असंभव बना देता है। संभवतः यीशु ने 'मृतकों' में से अपने उठने के तुरंत पश्चात अपने अनुयायियों के पास एक यात्रा की, और उनकी संगति में कुछ घंटे बिताए, परन्तु यह पाकर कि उनका पुनरुत्थान

प्रत्यक्ष प्रत्यक्षीकरण और स्पर्श के प्रमाणों के बावजूद उनके चुने हुए शिष्यों द्वारा भी संदिग्ध माना जा रहा था, वे उस देश से पूर्णतः हट गए। उनके भीतर के 'मनुष्य-तत्व' के क्रूसारोपण ने संसार की यथार्थता की भावना को इतना कम कर दिया था कि उन्हें पुनः उससे संपर्क बनाने की इच्छा नहीं हुई।

स्वयं यीशु द्वारा छोड़े गए किसी अभिलेख के अभाव में, साथ ही उनके शिष्यों अथवा उनके किसी अनुयायी की ओर से किसी युक्तियुक्त व्याख्या के अभाव में, यह स्वीकार करना होगा कि ऊपर सुझाए गए समस्त स्पष्टीकरण विशुद्ध अटकलें हैं, और इन्हें उतना ही मूल्य दिया जाना चाहिए जितने के वे योग्य हैं। इनमें से सभी अथवा कोई भी वह वास्तविक कारण अथवा कारण हो सकता है जिसने यीशु को प्रेरित किया, परन्तु कोई निश्चित मत नहीं दिया जा सकता। बाद में उनका क्या हुआ, यह भी रहस्य में लिपटा हुआ है। कुछ लोगों का विचार है कि वे अब गुरुओं में से एक के रूप में माउंट लेबनान पर निवास कर रहे हैं; अन्य, जो उनकी कब्र खोजने का दावा करते हैं, यह मानते हैं कि उनकी मृत्यु कश्मीर में हुई; परन्तु मुसलमानों के अनुसार, जिनका संस्करण निश्चय ही इन दोनों से कहीं अधिक स्वाभाविक है, वे क्रूस पर नाश हो गए, और अब किसी स्वर्ग में जीवित हैं।

जहाँ तक कब्र के अस्तित्व का प्रश्न है, इसके पक्ष में बहुत कम अथवा कोई साक्ष्य नहीं प्रतीत होता; परन्तु यदि यह हो भी, तो इससे यह कहीं अधिक महत्वपूर्ण तथ्य सिद्ध नहीं होता कि उसमें कभी कोई शव रखा गया था। गुरु नानक की भी ऐसी ही एक कब्र है, परन्तु दावा किया जाता है कि उसमें कभी कोई शव, मृत अथवा जीवित, नहीं रखा गया। इस खाली कब्र की कथा काफी रोचक है। आदरणीय गुरु की मृत्यु पर उनके चेलों (शिष्यों) के बीच शव के निपटान को लेकर विवाद उठ खड़ा हुआ। हिंदुओं ने उनका दाहसंस्कार करने का प्रस्ताव रखा, परन्तु मुसलमानों ने दफनाने पर आग्रह किया; और विवादियों का उत्साह इतना प्रबल था कि किसी भी पक्ष ने झुकने से इनकार कर दिया। अंततः मामले का निपटारा एक चमत्कार से करना पड़ा। जब दोनों पक्ष अभी वाद-विवाद कर ही रहे थे, वह वस्त्र जो शव के ऊपर डाला गया था, अचानक धँस गया और फर्श पर सपाट पड़ गया। उसे हटाने पर पता चला कि उसके नीचे कोई शव नहीं, मृत अथवा जीवित; और चेलों ने उसे दो भागों में बाँटकर अपना विवाद सुलझाया। हिंदुओं ने अपना आधा भाग

जलाया और मुसलमानों ने अपना दफनाया, इस प्रकार गुरु की कब्र में कभी लिनन की आधी चादर के अतिरिक्त कुछ नहीं रहा है।

पुनः, हो सकता है यीशु ने केवल अपने भौतिक शरीर को एक सूक्ष्मतर शरीर में परिवर्तित कर लिया हो। ऐसा परिवर्तन करने की शक्ति योगियों द्वारा बिना किसी हिचकिचाहट के दावा की जाती है, और यह अन्य कई संतों और मुनियों द्वारा भी प्रयुक्त की गई प्रतीत होती है। नए नियम के कुछ अंश स्वयं इस शक्ति की परिकल्पना के अतिरिक्त अर्थहीन होंगे, जैसे,"और जब वे इस प्रकार बात कर रहे थे, यीशु स्वयं उनके बीच खड़े हुए, परन्तु वे भयभीत और आतंकित हो गए, और यह समझे कि उन्होंने कोई आत्मा देखी है।" (लूका २४:३६-३७)

यह भौतिकीकरण की परिघटना ही थी जिसने प्रेरितों को भयभीत किया। यीशु पहले से ही उनके साथ थे, यद्यपि अदृश्य; उनका उनके बीच भौतिक रूप धारण कर लेना उनकी साँसें रोक देने वाला और सबको भयभीत कर देने वाला था। यूहन्ना भी एक समान परिघटना का वर्णन करते हैं (अध्याय २०:१४-१५), और किसी सूक्ष्मतर, अदृश्य, तथा अज्ञात शरीर से यीशु के भौतिक रूप में भौतिकीकरण का एक अन्य दृष्टांत अभिलिखित करते हैं। यह इसी शक्ति के कारण प्रतीत होता है कि यीशु बंद द्वारों वाले कक्षों और स्थानों में प्रवेश कर सकते थे (यूहन्ना २०:२६)। स्वाभाविक रूप से, यह अपेक्षित नहीं कि हमारा मात्र शब्द भौतिकवादियों को इस महान रहस्य के अस्तित्व का विश्वास दिलाने के लिए पर्याप्त होगा। आज के विज्ञान के मनुष्य को इसकी संतुष्टि तक सिद्ध करना सरल नहीं है; परन्तु जहाँ तक वास्तविक साक्षी-प्रमाण का प्रश्न है, कोई भी धर्म इसमें न्यून नहीं है। हमारे पूर्वज इस रहस्य के अस्तित्व के विषय में पूर्णतः आश्वस्त थे जो किसी को अपने शरीर को एक सूक्ष्मतर शरीर में परिवर्तित करने में सक्षम बनाता था। गुह्यविद्या के अभिलेखों में भौतिकीकरण की परिघटना के अनेक दृष्टांत दिए गए हैं। हम यह मान सकते हैं कि इस प्रकार के रूपांतरण का रहस्य प्राचीन गुह्यविदों को ज्ञात था, परन्तु काल के प्रवाह में हमसे लुप्त हो गया है। शायद परिस्थितियों में सामान्य मनुष्य के लिए सर्वोत्तम यही है कि वह प्रकृति में ऐसे किसी रहस्य की संभावना पर अपना निर्णय स्थगित रखे। इसे अस्वीकार करना एक ओर उतावलापन होगा, तो दूसरी ओर इसे स्वीकार करना प्रमाण के स्थान पर कल्पना को प्रतिस्थापित करने के समतुल्य होगा। परन्तु प्राचीन अभिलेखों और शास्त्रों को प्राचीनों की मान्यताओं के प्रकाश में पढ़ा जाना चाहिए, चाहे वे हमारे द्वारा कितने भी असत्यापित क्यों न रहें। प्राचीनों को निश्चय ही सत्यनिष्ठा का

श्रेय प्राप्त है; और हमें उन्हें अविश्वास करने का कोई कारण दिखाई नहीं देता जब वे उन बातों के वर्णन में सर्वसम्मत हों जो उनके समय में एक सामान्य प्रचलित घटना थीं, केवल इसलिए कि हमारी अपनी निकृष्ट संकाय और अवलोकन-शक्तियाँ उनके कथनों की पुष्टि नहीं करतीं।

स्वर्ग-लोक के निवासी, जिन्हें जैन धर्म और हिंदू धर्म में देव और ईसाई तथा इस्लाम धर्म में देवदूत कहा जाता है, उन्हें भी इच्छानुसार मनुष्यों की दृष्टि से अदृश्य हो जाने की शक्ति रखने वाला कहा जाता है। यह दर्शाता है कि उनके शरीरों का पदार्थ ऐसे प्रकार का है जो उनकी इच्छा के आवेगों का सहज ही पालन करता है। इस अद्भुत शक्ति के संबंध में देवों और मनुष्यों के बीच अंतर यह है कि जहाँ पूर्व इसे जन्म के फलस्वरूप भोगते हैं, वहीं उत्तर को इसे संन्यास और कठोर तप के अभ्यास द्वारा अर्जित करना होता है। इस चमत्कारी शक्ति के अतिरिक्त, देव अपने पृथ्वी-जीवनों की स्मृति तथा इस संसार में उतर आने की शक्ति का भी आनंद उठाते हैं; और उनमें से कुछ वास्तव में अतीत में अपने सांसारिक मित्रों के पास उतर आए हुए भी जाने गए हैं।

अतः, जहाँ तक यीशु का संबंध है, यह भी कल्पनीय है कि उन्होंने प्राण त्याग दिए हों, जैसा यूहन्ना अभिलिखित करते हैं, स्वर्गों में से किसी में देव-शरीर ग्रहण कर लिया हो, और वहाँ से इस संसार में अपने शिष्यों से संवाद करने हेतु उतर आए हों। न ही समय की दृष्टि से इस विचार में कोई असंभवता की प्रकृति है, क्योंकि स्वर्ग में जन्म लेने की प्रक्रिया इस संसार में जन्म की प्रक्रिया के समान नहीं है, जितना कि देव-जन्म गर्भाधान के बिना और तत्क्षण होता है, और किसी व्यक्ति के नींद से जागने के समान है। इस प्रकार, यह व्याख्या भी संभावना की सीमा से पूर्णतः परे नहीं है, यद्यपि, किसी विश्वसनीय ऐतिहासिक अभिलेख के अभाव में, यह विषय अनिवार्यतः रहस्य में लिपटा रहना चाहिए। तथ्य यह है कि यीशु के पुनरुत्थान के वृत्तांतों में विद्यमान विरोधाभासों की संख्या और प्रकृति मन में यह संदेह नहीं छोड़ती कि वे रचना का परिणाम हैं, और यह दिखाने के लिए पर्याप्त हैं कि वृत्तांत ऐतिहासिक रूप से पढ़े जाने के लिए अभिप्रेत नहीं थे।

कथित स्वर्गारोहण पर विचार करते हुए, हम इस घटना के विषय में उसी प्रकार की विसंगतियाँ पाते हैं जैसी यीशु के जीवन की अधिकांश अन्य घटनाओं के वर्णन में मिलती हैं। यीशु के कितने शिष्यों ने सिद्धांत का यथार्थ अर्थ समझा, यह निर्धारित करना सरल नहीं है। सुसमाचारीय वृत्तांत विरोधाभासों और असंगतियों से परिपूर्ण हैं, यद्यपि यह एक ऐसी परिस्थिति है जो हमें यह अनुमान लगाने के लिए प्रेरित करती है कि विसंगतियाँ झूठ अथवा मनगढ़ंत बात के

बजाय जान-बूझकर की गई रचना का परिणाम हैं। तथ्य यह है, जैसा हम पहले भी बार-बार कह चुके हैं, कि गॉस्पेल कभी भी ऐतिहासिक अर्थ में पढ़े जाने के लिए अभिप्रेत नहीं थे। मत्ती और यूहन्ना, ऐसा देखा जाएगा, अन्य दो गॉस्पेलों में दी गई स्वर्गारोहण-कथा का समर्थन नहीं करते; और यह असंभव है कि यदि यह एक ऐतिहासिक तथ्य होता तो वे ऐसी गौरवशाली घटना पर मौन रहते। यह परिस्थिति अकेले ही यह दिखाने के लिए पर्याप्त है कि 'स्वर्ग में ऊपर उठना' यीशु के जीवन में एक वास्तविक घटना के बजाय एक सैद्धांतिक रूपक* है। इस रूपक का यथार्थ आशय तब स्पष्ट होगा जब हम मोक्ष के जैन दृष्टिकोण से निपटेंगे; यहाँ इतना कहना पर्याप्त है कि स्वर्गारोहण का अर्थ केवल ईश्वरत्व की स्थिति की प्राप्ति है, अर्थात् निर्वाण, अथवा अस्तित्व के हिंडोले के परमेश्वर-छोर का शीर्ष तक उठना।

*कि पुनरुत्थान का सिद्धांत कोई मौलिक ईसाई सिद्धांत अथवा मत नहीं है, यह तुलनात्मक धर्मशास्त्र के विद्यार्थियों को भली-भाँति ज्ञात है; परन्तु जो इस विषय से परिचित नहीं हैं उन्हें श्री जोसेफ मैककेब की निम्नलिखित टिप्पणियाँ रोचक लगेंगी (देखें द बैंकरप्सी ऑफ रिलीजन, पृ. १६४):—*

"मसीह की मृत्यु और पुनरुत्थान संभवतः सामान्य विश्वासी के लिए ईसाई धर्म का केंद्रीय और अद्वितीय सत्य है। अब, प्रत्येक सुविज्ञ धर्मशास्त्री युगों से यह जानता है कि जिस रोमन जगत में ईसाई धर्म का उदय हुआ, उसमें किसी देवता की मृत्यु और पुनरुत्थान का वार्षिक स्मरणोत्सव सर्वाधिक सामान्य धार्मिक विशेषता था। ओसाइरिस का मिस्री पंथ, तम्मुज़ (अथवा एडोनिस) का बेबीलोनी पंथ, और अटिस का फ्रिजियाई पंथ इस वार्षिक पर्व को अज्ञात युगों से मनाते आए थे, और रोमन साम्राज्य में जातियों के संमिश्रण में इसे संपूर्ण पूर्वी जगत में फैला चुके थे। यूनानियों ने मसीह के जन्म से शताब्दियों पूर्व इस पर्व को अंगीकार किया था; मिश्रा का फारसी पंथ भी इसे अंगीकार कर चुका था। यह कहना सुरक्षित है कि उस प्राचीन जगत में, मसीह के समय से पूर्व, ऐसा कोई नगर नहीं था जिसमें विभिन्न धर्मों के एक अथवा अधिक मंदिर न रहे हों, जो किसी देवता की मृत्यु और पुनरुत्थान के वार्षिक उत्सव की ओर जनसाधारण का पूर्ण ध्यान आकृष्ट करते थे।"

अपने ही शिष्यों को उनके पुनरुत्थान पर संदेह करते पाकर (मत्ती २८:१७), यीशु उन्हें बेथानी तक ले गए (लूका २४:५०), और वहाँ वे उनसे अलग हुए और ऊपर उठा लिए गए (वही, ५१)। हवा में चलना जल पर चलने के समान ही एक श्रेणी की परिघटना है; दोनों ही उस शक्ति पर निर्भर करते हैं जिसे अब उत्थापन (लेवीटेशन) की शक्ति कहा जाता है, जो कुछ सुसंयमित

आत्माओं में विकसित होती है। मनोवैज्ञानिक अन्वेषण दिखाता है कि ऐसी शक्ति का अस्तित्व है, यद्यपि आधुनिक अन्वेषण के सीमित परिवेश में इसका प्रकटन अत्यंत दुर्लभ है। प्राचीन काल के सिद्ध उत्थापन की शक्ति* रखते थे, और वायु में एक स्थान से दूसरे स्थान उड़ सकते थे। यीशु जैसे तेज के सिद्ध को भी यह शक्ति उच्च विकसित मात्रा में अवश्य प्राप्त रही होगी। जब वे दृष्टि से लुप्त हुए और नहीं लौटे, तो स्वाभाविक रूप से यह सोचा गया कि वे स्वर्ग में ऊपर चले गए हैं।

*वायु में चलने की शक्ति में किसी असंभवता की प्रकृति निहित प्रतीत नहीं होती। इस संबंध में मनुष्य के मार्ग में जो बाधक है वह गुरुत्वाकर्षण की शक्ति है; परन्तु यह स्पष्टतः कोई अनियंत्रणीय बल नहीं है, क्योंकि पक्षी उड़ सकते हैं, और, इसके अतिरिक्त, क्योंकि वह स्वयं इसकी पूर्ण अवहेलना में चलता, कूदता और नृत्य करता है। जो उसे यह करने में सक्षम बनाता है वह उसकी इच्छा-शक्ति है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन अवसरों पर कोई चुंबकीय नियम क्रियाशील होता है, जो मनुष्य को गुरुत्व-बल को अधिगमन करने में सक्षम बनाता है, जिससे जब इच्छा-शक्ति ऋणात्मक होती है, जैसे नींद में, वह गुरुत्वाकर्षण के बल से मुक्त नहीं हो पाता, परन्तु जब यह धनात्मक हो जाती है, तो उसकी अवहेलना में कार्य करना सरल हो जाता है। अब, चूँकि मनुष्य अपनी गतिविधियों में गुरुत्व-बल को आंशिक रूप से अधिगमन करने में सक्षम है, और चूँकि ये गतिविधियाँ एक साधारण इच्छा के कृत्य से प्रवाहित होती हैं, इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि इच्छा-शक्ति का पूर्ण विकास गुरुत्वाकर्षण पर और भी अधिक निपुणता से चरितार्थ होना चाहिए। अतः, यीशु जैसे सिद्ध की अदम्य इच्छा-शक्ति के लिए, हवा में उड़ना बच्चों का खेल मात्र होगा।*

पौराणिक दृष्टि से, अब रूपक पूर्ण हो जाता है। इसकी प्रमुख विशेषताएँ, अपने उचित क्रम में, इस प्रकार हैं:—

(१) जीव, अर्थात् आत्मा, का ईश्वरत्व;(२) भले और बुरे के ज्ञान के निषिद्ध वृक्ष का फल खाने का प्रलोभन;(३) पतन, जिसमें परमेश्वर-तत्व नीचे चला गया और निम्न तत्व सर्वोपरि हो गया; जिसके फलस्वरूप, अमर नश्वर हो गया;(४) 'ज्ञान की कुंजी' द्वारा मुक्ति;(५) निम्न तत्व का क्रूसारोपण;(६) पुनरुत्थान, अर्थात् खोए हुए अमरत्व की पुनःप्राप्ति; और(७) स्वर्गारोहण, अर्थात् अंतिम विजय, अर्थात् परमेश्वर-तत्व का शीर्ष तक उठना।

यह विचार अपने समस्त विवरणों में इतना पूर्ण और संपूर्ण है कि यह बाइबिली धर्म के यथार्थ सार होने के विषय में कोई संदेह नहीं छोड़ता।अब पुराने नियम में निहित अनेक प्राचीन भविष्यवाणियों को कथाशास्त्र के अपने ज्ञान के प्रकाश में समेटना संभव है। मसीह के कुँवारी-जन्म का विचार भी अब बोधगम्य हो जाता है। जब पवित्र आत्मा, अर्थात् वैराग्य की भावना, आत्मा के भीतर सुप्त पड़े ईश्वरत्व के अंकुर को जागृत करती है, तो इसे मनुष्य का आत्मा में जन्म कहा जाता है, न कि, जैसा निकुदेमुस ने सोचा था, माता के गर्भ में पुनः प्रवेश, बल्कि प्रत्येक मनुष्य के भीतर उद्धारकर्ता का जन्म, जैसा यीशु ने सिखाया। गुरु की शिक्षा वास्तव में सत्य

है:"जो देह से जन्मा है वह देह है, और जो आत्मा से जन्मा है वह आत्मा है। आश्चर्य मत करो कि मैंने तुमसे कहा कि तुम्हें पुनः जन्म लेना होगा।" —(यूहन्ना ३:६-७)

यह भविष्यवक्ता के इस उद्गार से पूर्णतः मेल खाता है:"देख एक कुँवारी [बुद्धि] गर्भ धारण करेगी और एक शिशु [ज्ञान] जनेगी, और उसका नाम इम्मानुएल [उद्धारकर्ता] रखा जाएगा।"

इस प्रकार, मनुष्य का प्रथम जन्म मांस का है, मांस की रीति में, परन्तु दूसरा उसके भीतर मसीह का है; और चूँकि मसीह का जन्म बुद्धि पर आत्मा के मंडराने का परिणाम है, जिसका संसार में मनुष्य की प्रजनन-प्रक्रिया से कोई साम्य नहीं है, अतः इसे कुँवारी-जन्म भी कहा जाता है। यीशु मांस से जन्मे थे, मांस की रीति में; परन्तु मसीह पवित्र आत्मा से गर्भित हुए। इस भेद को न देख पाने ने संसार में बहुत उपद्रव किया है। यशायाह की भविष्यवाणी मसीह की ओर संकेत करती थी; परन्तु इसका आरोपण भूलवश यीशु पर किया गया। परिणाम यह है कि, मसीहा के यथार्थ सिद्धांत पर प्रकाश डालने के बजाय, इसके यीशु पर आरोपण ने वस्तुतः एक वैध शिशु पर अवैधता का लांछन लगा दिया है। सभी संभावनाओं में यीशु विधिवत विवाहित माता-पिता से जन्मे थे, और अवैधता के लांछन के लिए उन्हें अपने ही अनुयायियों को धन्यवाद देना है, जो उनके विरोधियों द्वारा उन पर फेंका गया।

यशायाह (७:१४-१५) की भविष्यवाणी यीशु की ओर संकेत नहीं करती, यह उस अध्याय की विषय-वस्तु से बिल्कुल स्पष्ट है जिसमें यह आती है। इसकी आरंभिक पंक्तियाँ हैं:"देखो, एक कुँवारी गर्भ धारण करेगी, और पुत्र जनेगी, और उसका नाम इम्मानुएल रखेगी। वह मक्खन और मधु खाएगा, जिससे वह बुरे को अस्वीकार करना सीखे।"

जहाँ तक यीशु का संबंध है, यह नहीं कहा जा सकता कि भविष्यवाणी उनमें पूर्ण हुई, क्योंकि उन्होंने मक्खन और मधु नहीं, बल्कि मछली और रोटी खाई। जैसा वे स्वयं कहते हैं, मनुष्य का पुत्र "खाते-पीते आया, और वे कहते हैं, देखो एक पेटू मनुष्य, और दाखरस पीने वाला, चुंगी लेने वालों और पापियों का मित्र" (मत्ती ११:१९)। इसके अतिरिक्त, यीशु को उनके जीवन के किसी भी क्षण इम्मानुएल कहकर कभी नहीं पुकारा गया: और अंततः, वह परिवेश ही अनुपस्थित था जो प्राचीन द्रष्टा द्वारा की गई भविष्यवाणी की पूर्ति के लिए भविष्यवाणी की गई थी, और जो उसी अध्याय के आगामी पदों में अभिलिखित है जिसमें भविष्यवाणी निहित है।

जो यीशु पर लागू नहीं होता, वह मसीह पर पूर्णतः उपयुक्त है, जो सदैव पवित्र आत्मा से, निष्कलंक रीति में, गर्भित होता है। मक्खन (बुद्धि, अर्थात्, जो अनुभव के दूध से निकाला जाता है) और मधु (आनंद, अर्थात् आनंद), वह जब भी और जहाँ भी जन्म ले, इनका आनंद लेगा। कुँवारी-जन्म का यथार्थ आशय, सीधे शब्दों में, व्यक्तिगत आत्मा का धर्म (सम्यक श्रद्धा) में जन्म है; और कृष्ण, क्राइस्टोस और मसीह की धारणाएँ इस साधारण विचार से अधिक कुछ व्यक्त करने के लिए अभिप्रेत नहीं हैं कि सम्यक श्रद्धा का आत्मा द्वारा अर्जन उसे शीघ्र ही एक मसीहा अथवा उद्धारक में परिवर्तित कर देता है, जो निम्न स्व के क्रूसारोपण पर ईश्वरत्व प्राप्त करने वाला है।

जब हम प्रतीकात्मक भविष्यवाणियों की पूर्ति को इतिहास के तथ्यों के रूप में खोजते हैं, तो हमें अवश्य निराशा होनी चाहिए। हमें सदैव शिक्षाओं के छिपे, अर्थात् यथार्थ, अर्थ की खोज करनी चाहिए, सर्वप्रथम उस भविष्यवक्ता अथवा द्रष्टा की मनोवृत्ति की जाँच करते हुए जिससे वे उद्भूत होती हैं। किसी मनुष्य को समझने के लिए, पहले उसके विश्वास की स्थिति की जाँच करना आवश्यक है। इस आदेश को ध्यान में न रखने की असफलता ने धार्मिक चिंतन में बहुत भ्रम उत्पन्न किया है, और इसी कारण मनुष्य के पुत्र के आगमन के संबंध में यीशु का कथन ईसाई जगत द्वारा नहीं समझा गया है। हम अगले दो अध्यायों में कुछ प्रारंभिक और महत्वपूर्ण विषयों से निपटने के पश्चात इसकी सार्थकता स्पष्ट करेंगे।

इस अध्याय को समाप्त करने से पहले, हालाँकि, हम यह इंगित करना चाहेंगे कि यीशु के जीवन से संबंधित अनेक अंश जिन्हें हमने इतिहासकार और जीवनी-लेखक के दृष्टिकोण से अस्वीकार किया है, गुह्यविद्या के प्रकाश में पढ़े जाने पर उच्च रहस्यमय मूल्य के महत्वपूर्ण पाठ रखते हैं। अधिकांश मामलों में, मानसिक शक्तियों और आध्यात्मिक कार्यों के यथार्थ आशय को गॉस्पेल-लेखकों ने सुझावात्मक नामों के अंतर्गत चतुराई से छिपाया है। ऐसी, उदाहरणार्थ, उन दो चोरों की कथा है जो यीशु के साथ क्रूस पर चढ़ाए गए बताए जाते हैं। वे प्रतीत होता है कि प्राणिक 'श्वास' की दो धाराओं, इड़ा और पिंगला, का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो सहानुभूतिक गंडिका (सिम्पेथेटिक गैंग्लिया) की दो श्रृंखलाओं से होकर गुज़रती हैं, जिनमें शारीरिक प्रवृत्तियों का अवशेष, अर्थात् व्यक्ति की वासनाओं, भावनाओं और विचारों का सार, संचित रहता है। इसी कारण, उन्हें उन देवदूतों के रूप में भी व्यक्तिरूप दिया गया है जो आत्मा के कर्म-बही को लिखते

और अद्यतन रखते हैं। ये वही दो देवदूत भी हैं जिन्हें, क़ुरान के अनुसार, मनुष्य के आचरण का लेखा रखने के लिए नियुक्त किया गया है, "एक दाहिने हाथ बैठा, और दूसरा बाएँ: वह एक भी शब्द नहीं बोलता, परन्तु उसके साथ एक प्रहरी है, नोट करने के लिए तत्पर" (अध्याय ५०)। प्राणिक शक्ति की ये दो धाराएँ चोर कहलाती हैं, क्योंकि, श्वास के रूप होने के कारण, वे निरंतर हमारे 'जीवन-श्वासों' को लूटने में संलग्न रहती हैं, जो, पूर्व में लोकप्रिय दृष्टिकोण के अनुसार, प्रत्येक व्यक्ति के लिए पूर्व-निर्धारित और गणित हैं। परमेश्वर-चेतना के आत्मा में उदित होने से पूर्व उन्हें वश में करना, अर्थात् इच्छा-शक्ति के नियंत्रण में लाना आवश्यक है; दूसरे शब्दों में, उन्हें गोलगोथा नामक स्थान पर, अक्षरशः, मानव-खोपड़ी, अर्थात् सिर में स्थित वह महत्वपूर्ण तंत्रिका-केंद्र जो व्यक्तित्व का आसन है, निम्न स्व के साथ क्रूसित होना होगा। संत लूका के मित्र और पवित्र चोर को वह धारा माना जाता है जो, कुंडलिनी के साथ मिलकर, अर्थात् सुषुम्ना, अर्थात् मेरुदंड की नाड़ी, से प्रवाहित होने वाली जीवन-धारा के साथ, योग की उन्नत अवस्थाओं में, उच्चतर केंद्रों को जगाने और, परिणामस्वरूप, आत्मा की आध्यात्मिक शक्तियों के विकास की ओर ले जाती है। इसी कारण, यीशु उसे अपने साथ स्वर्ग का वचन देते हैं। मुसलमानों के अनुसार भी, "जो देवदूत मनुष्य के अच्छे कर्मों को नोट करता है उसका उस पर आदेश है जो उसके बुरे कर्मों को नोट करता है" (द कोरान, सेल द्वारा, पृ. ३८४)। इस प्रकार समझे जाने पर, इन अंशों का महान महत्व है, परन्तु ऐतिहासिक अर्थ में वे केवल भ्रम उत्पन्न करते हैं।

> *लूका २३:४५ में उल्लिखित सूर्य के अंधकारमय होने का भी निम्न व्यक्तित्व से संबंध है। किसी मनुष्य अथवा अतिमानव के क्रूसारोपण में सौर-गोलक को अंधकारमय करने वाला कुछ नहीं है; परन्तु, प्रतीकों की भाषा में, सूर्य ज्ञान का प्रतिनिधित्व करता है, जो या तो पूर्ण और परिपूर्ण तथा सर्वव्यापी है, अर्थात् सर्वज्ञता, अथवा आंशिक और अपूर्ण। इनमें से पहला इंद्रियों और मन से स्वतंत्र है और केवल तभी उदित होता है जब उनकी क्रिया आध्यात्मिक ध्यान द्वारा पूर्णतः रुक जाती है। दूसरा वह ज्ञान है जो इंद्रियों और मन की क्रिया से उत्पन्न होता है। यह चेतना की उस छोटी सी किरण के, जो निकृष्ट प्रकार के ज्ञान के अर्जन हेतु मन के माध्यम से कार्य कर रही है, हट जाने से ही सूर्य के अंधकारमय होने का द्योतक है; क्योंकि मन तब अंधकार में डूब जाता है, मानो। इस प्रकार, 'सूर्य का अंधकारमय होना' सदैव निम्न अहंकार के लोप के साथ होता है, जो यीशु के क्रूसारोपण द्वारा प्रतीकित है।*

हम वर्तमान अवसर का लाभ उठाकर यूहन्ना बपतिस्मादाता के व्यक्तित्व के चारों ओर एकत्रित विसंगतियों की प्रकृति की जाँच कर सकते हैं, जिनका व्यक्तित्व समस्त बाइबिल में सर्वाधिक दुर्बोध व्यक्तित्वों में से एक है। उनके संबंध में पाई जाने वाली विसंगतियाँ इतनी गंभीर हैं कि उनके कृत्यों को ऐतिहासिक घटनाओं के रूप में देखना असंभव है, यद्यपि यह पूर्णतः असंभव

नहीं है कि यूहन्ना नामक कोई व्यक्ति रहा हो जो पश्चाताप के सिद्धांत का प्रचार करते हुए घूमता था।

वे तो, आरंभ में ही, मसीहा के चचेरे भाई हैं, और अपने चचेरे भाई की माता का स्वर सुनकर, अभी अजन्मे शिशु के रूप में, आनंद से उछल पड़ते हैं, यद्यपि कुछ ही समय पश्चात वे उन्हें पूर्णतः भूल जाते हैं और वस्तुतः अपने शिष्यों को यह पता लगाने भेजते हैं कि क्या वे वही हैं जिनका आगमन होना था (मत्ती ११:३)। यह और भी अधिक उल्लेखनीय है, इस तथ्य को देखते हुए कि यूहन्ना उस समय यीशु की स्थिति और गरिमा से पूर्णतः अवगत थे जब उनसे उन्हें बपतिस्मा देने को कहा गया। मत्ती (३:१४) के अनुसार, उन्होंने पहले यीशु को बपतिस्मा देने से इनकार कर दिया था, यह कहते हुए:"मुझे तुझसे बपतिस्मा लेने की आवश्यकता है, और तू मेरे पास आता है?"

यह तभी हुआ जब उन्हें आश्वस्त किया गया कि मसीह के लिए उनसे बपतिस्मा लेना उचित है,—"अभी ऐसा ही होने दे: क्योंकि इस प्रकार हमारे लिए समस्त धार्मिकता को पूर्ण करना उचित है," —(मत्ती ३:१५)—कि उन्होंने उन्हें बपतिस्मा दिया। इस पर आकाश यीशु के लिए खुल गया, और परमेश्वर की आत्मा कबूतर के रूप में उन पर उतरी। यूहन्ना ने यह सब स्वयं देखा, और घोषित किया:"और मैंने देखा, और साक्षी देता हूँ कि यह परमेश्वर का पुत्र है।" —(यूहन्ना १:३४)

अगले दिन यूहन्ना ने अपने दो शिष्यों को यीशु की ओर इंगित करते हुए कहा:"देखो परमेश्वर का मेमना।"* —(यूहन्ना १:३६)

इस प्रकार, यूहन्ना यीशु के व्यक्तित्व और मिशन की प्रकृति को उनके बपतिस्मे के समय ही भली-भाँति जानते थे। कि उन्हें इन महान बातों को अपनी ही आँखों से देखने के तीन वर्ष से भी कम समय में भूल जाना चाहिए, अपने स्वयं के मिशन के बावजूद, यह परिस्थितियों में निश्चय ही उल्लेखनीय है।

यूहन्ना का जीवन में मिशन प्रभु के मार्ग को जल के बपतिस्मे और पश्चाताप के सिद्धांत द्वारा सीधा करने तक सीमित प्रतीत होता है। वे आगामी मसीहा के साक्षी भी हैं, जिनके जूतों को उठाने के भी अयोग्य वे स्वयं को स्वीकार करते हैं। यीशु के बपतिस्मे की व्याख्या करने को कहे जाने पर, उन्होंने घोषित किया:—

> "जिसके पास दुल्हन है वह दूल्हा है: परन्तु दूल्हे का मित्र, जो खड़ा होकर उसे सुनता है, दूल्हे की वाणी सुनकर अत्यंत आनंदित होता है: इसलिए मेरा यह आनंद अब पूर्ण हो गया है। उसे

बढ़ना चाहिए, परन्तु मुझे घटना चाहिए। जो ऊपर से आता है वह सबसे ऊपर है: जो पृथ्वी का है वह पार्थिव है, और पृथ्वी की ही बात करता है: जो स्वर्ग से आता है वह सबसे ऊपर है।" —(यूहन्ना ३:२९-३१)

*इस अभिव्यक्ति में ऐसा कुछ नहीं है जो यीशु के व्यक्तित्व पर कोई विशेष अथवा अद्वितीय भेद प्रतिबिंबित करता हो; इसके विपरीत, यह स्पष्ट रूप से 'पैगन' पंथों से उधार ली गई है। बाद के ईसाइयों को बाइबिली किंवदंतियों और पैगन कथाओं के बीच घनिष्ठ साम्य ने चकित किया है, और कुछ ने तो प्रतिद्वंद्विता की भावना से उत्तरार्ध का लेखकत्व दुष्टात्मा को ही सौंप दिया है। जैसा श्री जोसेफ मैककेब (द बैंकरप्सी ऑफ रिलीजन, पृ. १९७) ने इंगित किया है—*

"ईसाई उत्सव के साथ साम्य—मिथ्राई मंदिरों में यह इस सीमा तक जाता था कि पुनरुत्थित देवता को 'परमेश्वर का मेमना जो संसार के पापों को दूर करता है' कहकर अभिवादित किया जाता था—यह फिर्मीकस मेटरनस को इतना विचलित करने वाला लगा कि उनका विश्वास था कि शैतान ने इन कथाओं को पैगनों तक इसलिए पहुँचाया ताकि उन्हें मृत्यु और पुनरुत्थान के यथार्थ (ईसाई) संस्करण को अंगीकार करने से विचलित किया जा सके!"

यूहन्ना के उपर्युक्त वर्णन से उनके मूल के विषय में कोई संदेह नहीं रहता। वे पश्चातापी बुद्धि के प्रतिनिधि हैं, ठीक जैसे मसीहा विजयी जीवन का प्रतिनिधित्व करते हैं। एक निम्न अहं का, तो दूसरा उच्चतर स्व का प्रतिनिधित्व करता है; अतः यूहन्ना यीशु के चचेरे भाई हैं। जब निम्न स्व सांसारिक सुख की खोज से थक जाता है और अपनी सीमा तक पहुँच जाता है, तो वह अपनी नियति पर चिंतन करना आरंभ करता है, और यह अनुभव करता है कि न मित्र, न धन, न पद, न शारीरिक बल, और न ही कुछ और उसे उसके समक्ष खड़े मृत्यु और विलोपन के आसन्न अंधकार से बचा अथवा मुक्त कर सकता है। तब वह संसार में अपनी एकाकीता की वेदना में पुकार उठता है, और मरणशीलों के सुखों और आनंदों से, जिन्होंने अब तक उसका ध्यान उसके यथार्थ स्वभाव से हटा रखा था, विरक्त होकर, धीरे-धीरे यह सीखता है कि समस्त आनंद, आशीष और अमरत्व का स्रोत उसका अपना यथार्थ स्व ही है, अन्य कुछ नहीं। यही वह अवस्था है जिसे 'जंगल में पुकारते हुए किसी की आवाज़' से उपमित किया गया है, जो कहती है, 'पश्चाताप करो क्योंकि स्वर्ग का राज्य निकट है।' अब, चूँकि बुद्धि की क्रियाशीलता केवल देह की शुद्धि के साथ ही चुक जाती है, जो जल के साधनों द्वारा पूर्ण की जा सकती है, और चूँकि बुद्धि के बजाय इच्छा-शक्ति ही आत्मा की प्रगति का यथार्थ कारण है, अतः बुद्धि का बपतिस्मा अनिवार्यतः जल का ही है। बौद्धिक स्व पार्थिव है, पृथ्वी का; परन्तु आत्मा स्वर्ग से है, अतः स्वर्गीय। अतः, बुद्धि को यह कहने पर

विवश किया जाता है कि वह मसीहा के जूतों का बंधन खोलने के भी अयोग्य है। पुनः, चूँकि केवल बुद्धि के माध्यम से ही कोई उच्चतर स्व के अस्तित्व से आश्वस्त हो सकता है, यह आगामी मसीहा का एकाकी साक्षी है, जिसके जन्म पर वह आनंद से उछल पड़ती है। परन्तु, चूँकि ज्ञान क्राइस्टोस का एक आवश्यक गुण है, वे प्रथम अवसर पर बुद्धि के बपतिस्मे के बिना नहीं रह सकते। बुद्धि आनंद की भोक्ता नहीं है, अतः दूल्हा नहीं, परन्तु दूल्हे की वाणी सुनकर आनंद का अनुभव करना उसके स्वभाव के अनुरूप है, क्योंकि वह जंगल को एक यथार्थ स्वर्ग में परिवर्तित करने वाला है। और, अंततः, चूँकि आत्मा की स्वतंत्रता का अर्थ है सर्वज्ञता की प्राप्ति, जो निम्न मानसिक उपकरण—बुद्धि, स्मृति, और इसी प्रकार के अन्य—के विनाश द्वारा उदित होती है, जैसा आगामी अध्यायों में स्पष्ट किया जाएगा, बुद्धि को यह कहते हुए वर्णित किया गया है, 'उसे बढ़ना चाहिए, परन्तु मुझे घटना चाहिए।' यूहन्ना द्वारा अपने शिष्यों को यह जानने के लिए भेजना कि क्या यीशु (आत्मा) मसीहा हैं, अर्थात् उद्धारक, इस तथ्य के बावजूद कि वे अपनी माता की वाणी पर आनंद से उछले थे, बुद्धि के स्वभाव के अनुरूप है, जो सदैव संदेह और हिचकिचाहट करती है, और अपने ही निष्कर्षों से कदाचित ही संतुष्ट होती है। इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि यूहन्ना बपतिस्मादाता का व्यक्तित्व उस मनुष्य के बौद्धिक स्व का प्रातिनिधिक है जो उच्चतर स्व के परिपूर्ण जीवन के प्रति सचेत हो गया है।

इसी प्रकार, बरअब्बा शारीरिक अथवा निम्न स्व का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिसका वासनामय स्वभाव समस्त प्रकार के दुष्कर्मों और अपराधों का कारण है। यहूदियों की बरअब्बा के प्रति पसंद उस मानवता के स्वभाव का द्योतक है जो देह से प्रेम करना और आत्मा को, जो अपने वैयक्तिक रूप में 'यीशु', अर्थात् आत्मा है, त्यागना पसंद करती है। सूरा बक़र (क़ुरान) का यह अंश—

> *सीएफ. "अरबी में सोल अथवा स्पिरिट कई अर्थों में प्रयुक्त होता था, जैसे, जीवन (पशु और वनस्पति), चेतना, रहस्योद्घाटन, महादूत, यीशु मसीह।" —फिलॉसफी ऑफ इस्लाम, पृ. ३०*
>
> "जब परमेश्वर ने कहा, हे यीशु, निश्चय ही मैं तुझे मृत्यु दूँगा, और तुझे अपने पास उठा लूँगा, और तुझे अविश्वासियों से मुक्त करूँगा"—

और सूरा निसा में यह अंश जो कहता है—"परन्तु उन्होंने उसे [यीशु को] न मारा, न क्रूस पर चढ़ाया, बल्कि उन्हें उसकी समानता वाले किसी अन्य द्वारा प्रतिस्थापित कर दिया गया"—

उपर्युक्त अवलोकन के प्रकाश में पढ़े जाने पर ही सुसंगत अर्थ रखते हैं। इस अर्थ में, वे न केवल बोधगम्य हो जाते हैं, बल्कि ईसाई धर्म और इस्लाम के अनुयायियों के बीच उत्पन्न हुई

गलतफहमी को भी टाल देते हैं। जीवन का सार, आत्मा, अमर और अविनाशी है; अतः उसे न तो मारा जा सकता है, न क्रूसित किया जा सकता है। यह केवल देह है, इच्छा का वस्तुकरण, जैसा शोपेनहावर इसे कहते हैं, अतः सार की समानता*, गॉस्पेल-लेखकों का बरअब्बा, जिसे मारा और क्रूसित किया जा सकता है। जीवन, अर्थात् आत्मा, अर्थात् इच्छा और देह के बीच समानता पर उत्पत्ति की पुस्तक के प्रथम अध्याय के २१वें पद में भी बल दिया गया है, जो कहता है:"परमेश्वर ने मनुष्य को अपने ही स्वरूप में रचा, परमेश्वर के स्वरूप में उसे रचा।"

जब लोग एक-दूसरे को समझने का प्रयास नहीं करते, तो वे परस्पर आरोप-प्रत्यारोप में लग जाते हैं, जिसका एक उचित नमूना डॉड्स की निम्नलिखित विचार-अभिव्यक्ति है, जो सिलेक्शन्स फ्रॉम द कोरान (पृ. १३२) में उद्धृत है:—"[मुहम्मद] का ईसाई धर्म का ज्ञान इतना अल्प और भ्रमित था कि यह समझना कठिन है कि अपोक्रिफल गॉस्पेलों पर पला हुआ सर्वाधिक अशिक्षित और भ्रमित संप्रदायी भी उन्हें गॉस्पेल की ऐसी धारणाएँ कैसे दे सका। इस्राएल के महान और प्रबोधक इतिहास का, एक इतिहास के रूप में, उन्हें कुछ भी ज्ञान नहीं है, और उन्होंने केवल तालमुद से कुछ बचकानी कथाएँ तथा हिब्रू पितृपुरुषों और महापुरुषों की कुछ विकृत किंवदंतियाँ ग्रहण कर ली हैं।"

जो लेखक अपने ही पंथ के प्रवर्तक के नाम बने शब्द के अर्थ को भी नहीं समझता, उसे यदि वह त्रुटि में पड़ता है तो क्षमा किया जाना चाहिए। 'यीशु' शब्द 'IS' मूल से व्युत्पन्न है, जो हिब्रू में 'jes' बन जाता है, और जिसका अर्थ 'esse', अर्थात् 'होना' है, दूसरे शब्दों में, वह जो 'है', अर्थात् जीवन, अर्थात् आत्मा। "यीशु का नाम," 'द परफेक्ट वे' (पृ. १११) के लेखक कहते हैं, "जिसके समक्ष हर घुटना झुकना चाहिए, परमेश्वर के समस्त पुत्रों का प्राचीन और सदा-दिव्य नाम है, आयेसस अथवा येशा, जो उद्धार करेगा, और इसा, प्रबुद्ध, अथवा आइसिस का दीक्षित। क्योंकि यह नाम आइसिस, मूलतः इश-इश, मिस्री में प्रकाश-प्रकाश का द्योतक था, अर्थात् द्विगुणित प्रकाश, और ज्ञात तथा जानने वाला एक हो गए, एक-दूसरे को प्रतिबिंबित करते हुए।"

'द लॉस्ट लैंग्वेज ऑफ सिंबॉलिज़्म' के लेखक भी टिप्पणी करते हैं:—"आइसिस नाम को प्लूटार्क ने ज्ञान के अर्थ में समझा था। लैपलैंड में आइसिस के तुल्य देवी की पूजा 'इसा' नाम से की जाती थी, और यह शब्द इसिया से संबंधित होना चाहिए, जो आइसिस का एक यूनानी रूपांतर है, जिसका अर्थ, प्लेटो के अनुसार, 'पवित्र एक', 'बुद्धि' और 'प्रत्यक्ष' है। संदिग्ध इस्सी, येस्सी,

इस्से, अथवा इस्सा 'एसे' से संबंधित है, जो 'होना' के लिए लैटिन क्रिया है, और एसे से ही एसेंस शब्द व्युत्पन्न है, जो आत्मा अथवा 'भीतर के प्रकाश' का एक दार्शनिक और काव्यात्मक पर्याय है। इस प्रकार यह संभावित प्रतीत होता है कि ओडिसी कुछ सीमा तक आत्मा का एक रूपक है, और यह कि ओडिसियस, वह भटकने वाला, वस्तुतः 'नोमन' है, कोई ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं, बल्कि, सिंड्रेला की भाँति, आत्मा, चिंगारी, 'भीतर का परमेश्वर', अथवा 'अंतरतम में निवासी' का व्यक्तिरूपण है। इस्सी पर, 'प्रकाश', और इस्सी, 'स्वयं' पर शब्द-क्रीड़ा, सिंड्रेला के इस विस्मयकारी बोध से तुलनीय है कि उसकी चमकीली आभा का वैभव स्वयं वही है।"

इसा हिंदू शास्त्रों के अनुसार ईश्वर के साथ-साथ व्यक्तिगत आत्मा का भी नाम है। श्री हेरोल्ड बेली, 'द लॉस्ट लैंग्वेज ऑफ सिंबॉलिज़्म' के लेखक, इंगित करते हैं कि 'इस्से' अथवा 'इशी' शब्द प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में अनेक दिशाओं में प्रकाश का द्योतक रहा है। यह विकिरणशील प्रकाश बुद्धि का प्रकाश है, जो आत्मा है।

अब यह स्पष्ट होना चाहिए कि यीशु शब्द का अर्थ केवल आत्मा है, जिसे निश्चय ही मारा नहीं जा सकता। अतः सूरा निसा का पहले से उद्धृत रहस्यमय कथन।

इन और इसी प्रकार के अन्य कारणों से, बरअब्बा की रिहाई, कब्र को सुरक्षित करना, और अन्य ऐसे रूपक, सभी इस तथ्य पर बल देते हैं कि अज्ञानी मानवता केवल देह की परवाह करती है, और आत्मा की पूर्णतः उपेक्षा करती है—एक बिंदु जो उपनिषदों में इंद्र, देव, और विरोचन, असुर, की दीक्षा के वृत्तांत में भली-भाँति उजागर होता है।

आधुनिक प्राच्यविद धर्म का गुण समझने में असफल रहते हैं, क्योंकि वे इसका अध्ययन ऐतिहासिक अन्वेषण की रेखाओं पर करने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु धार्मिक अभिलेखों की व्याख्या इतिहास के प्रकाश में करना, प्रायः, गाड़ी को घोड़े के आगे रखना है। यीशु के जीवन से जुड़े विरोधाभासों की प्रकृति, जब हम इसे इतिहासकार के दृष्टिकोण से अध्ययन करने का प्रयत्न करते हैं, इतनी जान-बूझकर और निश्चयपूर्ण है कि मनुष्यों के जगत में कोई एक भी तथ्य वास्तविक घटना के रूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता। एक ओर रूपक पर रूपक और रूपक पर उपमा की परतें चढ़ी हैं, तो दूसरी ओर घटनाओं के क्रम का उल्लंघन करने, व्यक्तित्वों का आविष्कार करने, तथ्यों की अवहेलना करने, कालक्रम की उपेक्षा करने, और हर संभव ढंग से, मानो इतिहास केवल उलट-पुलट होने के लिए ही बना हो, ऐसा आचरण करने का एक सुखद

संकल्प है। निष्कर्ष स्पष्ट है: कथावाचक ऐतिहासिक अर्थ में समझे जाने से बचने के लिए उत्सुक थे, और इसे व्यर्थ करने के लिए हर सावधानी बरती। इस प्रकार, गॉस्पेल, 'यीशु', आत्मा, की आध्यात्मिक प्रगति के अभिलेख हैं, न कि मनुष्य यीशु के 'जीवन और शिक्षाओं' के अनेक लेखकों द्वारा लिखे गए अनेक संस्करण।*

> *माननीय जे॰ एम॰ रॉबर्टसन, एम॰पी॰, की 'क्रिश्चियानिटी एंड माइथोलॉजी', पृष्ठ २७६, से निम्नलिखित की तुलना करें:—"यदि पूर्ववर्ती पृष्ठ किसी सीमा तक अपने उद्देश्य को पूर्ण करते हैं, तो उन्होंने यह दिखाया है कि ईसाई गॉस्पेलों में अनेक तथ्य, चमत्कारी और गैर-चमत्कारी दोनों, जिन्हें ईसाइयों द्वारा ऐतिहासिक, अथवा कम-से-कम एक उल्लेखनीय धार्मिक गुरु और पंथ-संस्थापक के जीवन और सिद्धांत के इर्द-गिर्द संचित माना जाता है, वस्तुतः कहीं अधिक प्राचीन कथाओं से लिए गए मात्र रूपांतरण हैं; और तदनुसार संस्थापक का कथित अथवा अनुमानित व्यक्तित्व उतना ही पौराणिक होने के संदेह के अधीन है जितना प्राचीन कथाओं के अर्धदेवताओं का.....व्यापक रूप से, तर्क यह है कि जब गॉस्पेल-यीशु की कथा में प्रत्येक प्रमुख अंश, सिद्धांत के विषय में भी उतना ही जितना कि कार्य के विषय में, न्यूनाधिक रूप से स्पष्टतः पौराणिक सिद्ध होता है, तो नाम के पीछे किसी मूर्त व्यक्तित्व में विश्वास का अधिकार देने वाला कुछ भी शेष नहीं रह जाता।*
>
> "ऐसा दृष्टिकोण, जैसा विद्वान जानते हैं, समालोचना के इतिहास में नया नहीं है, यद्यपि इसके आधार नए हो सकते हैं। दूसरी शताब्दी में, यदि पहली में नहीं, तो 'डोसेटे' संस्थापक को एक प्रकार के अलौकिक प्रेत के रूप में मानने लगे थे, जो केवल क्रूस पर दुख भोगता प्रतीत होता था; और अनेक ज्ञानवादी सदैव उन्हें एक अमूर्तन के रूप में मानते रहे। एक अथवा दूसरा दृष्टिकोण मध्यकालीन विधर्म में समय-समय पर पुनरावृत्त होता है। यीशु का एक 'डोसेटिक' दृष्टिकोण पादरियों और अन्य के उस गुप्त संगठन द्वारा अंगीकार किया गया था जो लगभग १०२२ में ऑरलियन्स में भंग किया गया; और इंग्लैंड में, अन्यत्र की भाँति, सोलहवीं शताब्दी में, संप्रदायी संस्थापक के व्यक्तित्व के अत्यंत रहस्यमय दृष्टिकोण अपनाते पाए जाते हैं। अठारहवीं शताब्दी में, पुनः, वोल्तेयर बोलिंगब्रोक के शिष्यों की बात बताते हैं जिन्होंने ऐतिहासिक समालोचना के आधार पर यीशु की ऐतिहासिकता को नकारा; और फ्रांसीसी क्रांति के काल में हमें न केवल वोल्नी और डुपुई के ग्रंथ मिलते हैं, जो गॉस्पेल-जीवनी को खगोलीय कथाओं के एक समूह में घटाते हैं, बल्कि स्ट्राउस द्वारा उल्लिखित वह अनाम जर्मन ग्रंथ भी, जो इसे यहूदी मन में पहले से विद्यमान एक आदर्श में घटाता है, यद्यपि विचलनों को स्वीकार करते हुए।"

उनके जीवन के तथ्यों का ऐतिहासिक सारतत्व उससे कहीं भिन्न नहीं हो सकता था जो इन पृष्ठों में वर्णित किया गया है।

संक्षेप में, पुनरुत्थान के सिद्धांत ने हमें जीवन के सर्वाधिक महत्वपूर्ण रहस्य प्रकट किए हैं। इसने हमें दिखाया है कि अमरत्व, जिसकी प्रत्येक आत्मा लालसा रखती है, धर्म की यथार्थ शिक्षा का अनुसरण करने से प्राप्त किया जा सकता है। इसने हमें यह भी दिखाया है कि यथार्थ प्रगति सदैव वैयक्तिक प्रयत्न पर निर्भर करती है, कभी किसी अन्य के अनुग्रह पर नहीं। निम्न स्वभाव, लोभी, वासनामय, हड़पने वाले स्व, की बलि के अतिरिक्त कुछ भी जीवन में प्रवेश का साधन नहीं हो सकता। मनुष्यत्व की स्थिति को प्राप्त होकर, आत्मा में अमरत्व और आनंद की अपनी दिव्य विरासत का दावा करने, और वह परमेश्वर बनने की शक्ति है जो वह सामर्थ्य में पहले से ही है। यदि इस अवसर का लाभ नहीं उठाया जाता, तो वह पुनः जन्म और मृत्यु के चक्र में गिर जाती है, अपने पार्थिव कर्मों के अनुसार स्वर्ग अथवा नरक में जीवन के विभिन्न अंतरालों के साथ। जब तक उसमें जीवन है, उसके पास बुराई के मार्ग से लौटकर गुरुओं के पदचिह्नों पर चलने का अवसर है; परन्तु एक बार जीवन-स्फुलिंग पदार्थ के इस दुर्बल, नश्वर ढाँचे से निकल जाए, तो मानव-जन्म से संलग्न विशेषाधिकार खो जाता है, और लंबे-लंबे समय तक पुनः प्राप्त नहीं हो सकता। न मित्र, न संबंधी, न गुरु, न संपत्ति, न ही नाम, यश, और इसी प्रकार की अन्य वस्तुएँ, आत्मा के लिए उसके मरणोपरांत अस्तित्व में किसी काम की हो सकती हैं। इस्लाम के पैगंबर के शब्द कितने सत्य हैं, जब वे कहते हैं:—

> "उस दिन से डरो जब कोई आत्मा किसी अन्य आत्मा के लिए संतुष्टि नहीं कर पाएगी; न ही उनकी ओर से कोई सिफ़ारिश स्वीकार की जाएगी, न ही कोई प्रतिकार लिया जाएगा, न ही उन्हें कोई सहायता मिलेगी।" —(सूरा बक़र)"कोई आत्मा अपने अतिरिक्त किसी और के लिए कोई पुण्य अथवा पाप अर्जित नहीं करेगी: और कोई भारग्रस्त आत्मा किसी अन्य का भार नहीं उठाएगी।" —(सूरा अनाम)

अध्याय ९

# पवित्र त्रित्व

THE HOLY TRINITY

"ताओ को विभाजित नहीं किया जाना चाहिए। यदि ऐसा किया जाए, तो वह अपनी एकता खो देगा। यदि वह अपनी एकता खो दे, तो वह अनिश्चित हो जाएगा; और इस प्रकार मानसिक विक्षोभ उत्पन्न करेगा,—जिससे कोई पलायन नहीं।" —कन्फ्यूशियस

अब तक हमने जीवन के सत्व को सामान्य शब्दों में निर्दिष्ट किया है, उसे आत्मा, चेतन-तत्व, मन, चेतना, और इसी प्रकार के नामों से पुकारते हुए; परन्तु अब यह आवश्यक हो जाता है कि हम तत्वमीमांसा में और गहरे उतरें, ताकि कुछ रहस्यमय सिद्धांतों की सार्थकता का बोध हो सके जिनका आशय समझना सदैव सरल नहीं होता। इसी श्रेणी में ईसाई मत का 'पवित्र त्रित्व' का सिद्धांत आता है, जिसकी विरोधाभासी प्रकृति धर्मशास्त्री के इस विजयी दावे से स्पष्ट है कि यह मनुष्य की सांत बुद्धि की समझ से परे है। तर्कशक्ति, हालाँकि, इस विषय में धर्मशास्त्र के इस कथन का समर्थन नहीं करती, और उस तत्वमीमांसीय कल्पना की, जिस पर प्रश्नगत सिद्धांत आधारित है, पूर्ण व्याख्या प्रस्तुत करती है। अतः अब हम तार्किक चिंतन के दृष्टिकोण से त्रित्व के रहस्य को सुलझाने के लिए आगे बढ़ेंगे। परन्तु ऐसा करने के लिए, सर्वप्रथम, कुछ और अत्यंत गूढ़ प्रकार के अमूर्तनों में जाना आवश्यक होगा, जिसके लिए तत्वमीमांसीय चिंतन की उन ऊँचाइयों तक पहुँचना आवश्यक होगा जो हममें से कुछ को प्रथम प्रयास में चढ़ने के लिए कुछ अधिक चक्करदार लग सकती हैं। तथापि हम पाठक को आश्वस्त कर सकते हैं कि परिणाम इस प्रक्रिया में लगे परिश्रम और कष्ट का भरपूर प्रतिफल देगा।

यह विषय उस विद्या से संबंधित है जिसे मनोविज्ञान कहा जाता है; परन्तु दुर्भाग्यवश, ज्ञान की वह शाखा अभी तक एक विज्ञान बनने से कोसों दूर है, क्योंकि मनोवैज्ञानिक अब भी स्वयं आत्मा (साइकी) के बिना ही आत्मा के विज्ञान की रचना पर तुले हुए हैं। अतः हमें स्वयं इस विषय का अन्वेषण करने के लिए आगे बढ़ना होगा, और तदनुसार, हम अब कल्पना के विश्लेषण से अपने अध्ययन का आरंभ करेंगे, विशेष रूप से स्वप्न-निर्माण के उसके कार्य के संदर्भ में।

जो कोई भी उसकी प्रकृति में झाँकने का कष्ट उठाएगा, उसे यह स्पष्ट हो जाएगा कि कल्पना इनसे मिलकर बनती है—(१) चेतना,(२) विचार, और(३) मानसिक ऊर्जा जो विचारों पर क्रिया करती है।

आइए क्षणभर के लिए स्वप्नों की ओर मुड़ें। प्रश्न यह है, स्वप्न कैसे रचा जाता है? क्या यह किसी एक विचार, अथवा एक ही 'मनोदशा' अथवा भाव में समाहित अधिक विचारों, का आलोकन नहीं है, ठीक जैसे जादू-लालटेन का प्रदर्शन उसकी स्लाइडों का आलोकन है? जादू-लालटेन में उपकरण तीन भागों से मिलकर बना है, अर्थात्, (१) एक दीपक, अथवा आलोककर्ता, (२) कुछ स्लाइडें, अथवा फ़िल्में, और (३) संचालक द्वारा प्रदत्त वह ऊर्जा जो स्लाइडों को दीपक के आगे सरकाता है। इसी प्रकार, मन के जीवंत बायोस्कोप का उपकरण भी ठीक इन्हीं तीन भागों से मिलकर बना है। चेतना आलोककर्ता है, जीवंत विचार, अर्थात् स्मृति, फ़िल्में प्रदान करती है, और इच्छा-शक्ति आवश्यक ऊर्जा प्रदान करती है। यह अपने आप में एक पूर्ण और सम्पूर्ण उपकरण है, और इसे किसी बाह्य संचालक की आवश्यकता नहीं है।

संक्षेप में, स्वप्नों के उपकरण की यही क्रियाविधि है, जिसे चेतना, स्मृति और इच्छा-शक्ति से मिलकर बना कहा जा सकता है। परन्तु चूँकि मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक मन के विभिन्न अवयवों की प्रकृति और कार्यों के विषय में पूर्णतः सहमत नहीं हैं, और चूँकि इन मानसिक शक्तियों का सटीक ज्ञान धार्मिक परंपराओं और कथाओं की व्याख्या के लिए एक निरपेक्ष आवश्यकता है, अतः हम स्वयं इस सत्य को जानने का प्रयत्न करेंगे।

भ्रम को दूर करने के लिए, सर्वप्रथम इच्छा-शक्ति की प्रकृति को समझना आवश्यक है, जो विभिन्न लेखकों के बीच एक तीव्र विवाद का विषय है। कुछ के अनुसार, जो वास्तव में और यथार्थतः विद्यमान है वह इच्छा-शक्ति है, जबकि अन्य के अनुसार, इच्छा-शक्ति तो मूल सत्व के पदार्थ में अवतरण की तीसरी अथवा चौथी मात्रा में उत्पन्न एक उत्पाद मात्र है। इस उत्तरार्ध वर्ग के व्यक्तियों में विशेष रूप से विवेकानंद आते हैं, जो इस प्रकार अभिव्यक्त होते हैं:—

> "मैं यहाँ यह टिप्पणी करूँगा कि शोपेनहावर और वेदांत के बीच एक अंतर है। शोपेनहावर कहते हैं कि इच्छा (डिज़ायर, अथवा विल) ही सब कुछ का कारण है। यह अस्तित्व की इच्छा ही है जो हमें प्रकट करती है, परन्तु अद्वैतवादी इसे नकारते हैं। वे कहते हैं कि यह बुद्धि है। इच्छा का एक भी कण ऐसा नहीं हो सकता जो प्रतिक्रिया न हो। इतनी सारी बातें इच्छा से परे हैं। यह तो केवल अहं में से गढ़ी गई कोई वस्तु है, और अहं स्वयं किसी और भी उच्चतर वस्तु,

बुद्धि, का उत्पाद है, और वह भी 'अव्यक्त' प्रकृति का एक रूपांतरण है।" —(ज्ञानयोग, खंड २, पृ. ५३-५४)

परन्तु हमें ऐसा प्रतीत होता है कि यह सारा भ्रम 'इच्छा' शब्द के अविवेकपूर्ण प्रयोग के कारण है, जिसके एक से अधिक अर्थ हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि जर्मन दार्शनिक ने इस शब्द का प्रयोग अधिकांशतः उस अर्थ में किया है जिसे आधुनिक यूरोपीय दर्शनशास्त्र में 'स्वयं-वस्तु' (थिंग इन इटसेल्फ) के नाम से जाना जाने लगा है, न कि मानव इच्छा के सीमित अर्थ में।* तथापि, 'इच्छा' शब्द स्वयं यह संकेत करता है कि वह उस वस्तु के समान नहीं हो सकती जिसे 'अंध' शक्ति कहा जा सकता है, अतः इसे किसी बुद्धिमान सत्ता के संदर्भ के अतिरिक्त किसी अन्य ढंग से प्रयोग करना भाषा का दुरुपयोग होगा, यद्यपि जिस प्रकार की इच्छा से हम मानवजाति के अपने अनुभव में परिचित हैं, वह निःसंदेह आत्मा और पदार्थ का ही एक उत्पाद है। इस प्रकार, एक स्थिति में इच्छा 'स्वयं-वस्तु' का एक अनिवार्य पक्ष है, परन्तु दूसरी में, यह उसी पक्ष का पदार्थ द्वारा उस पर आरोपित सीमाओं के माध्यम से स्वयं को अभिव्यक्त करना है।

*इसे पूर्णतः स्पष्ट करने के लिए 'द वर्ल्ड ऐज़ विल एंड आइडिया' से दो अंश लिए जा सकते हैं। प्रथम खंड के पृष्ठ १४२ पर कहा गया है:— "परिघटनात्मक अस्तित्व विचार है और कुछ नहीं। समस्त विचार, चाहे किसी भी प्रकार का हो, समस्त वस्तु, अस्तित्व है, परन्तु इच्छा अकेली ही स्वयं-वस्तु है। इस रूप में, यह पूर्णतः विचार नहीं है, बल्कि उससे पूर्णतः भिन्न प्रजाति की है; यह वह है जिसकी समस्त विचार, समस्त वस्तु, परिघटनात्मक उपस्थिति, दृश्यता, वस्तुकरण है। यह प्रत्येक विशिष्ट वस्तु का, और समग्र का भी, अंतरतम स्वभाव, गुठली है। यह प्रकृति के प्रत्येक अंध बल में, और मनुष्य के पूर्व-विचारित कार्य में भी, प्रकट होती है; और इन दोनों में महान अंतर केवल अभिव्यक्ति की मात्रा में है, न कि उस वस्तु के स्वभाव में जो स्वयं को अभिव्यक्त करती है।" पुनः, पृष्ठ १४५ पर:— "स्वयं-वस्तु के रूप में इच्छा अपनी परिघटनात्मक उपस्थिति से पूर्णतः भिन्न है, और परिघटना के उन समस्त रूपों से पूर्णतः मुक्त है जिनमें वह पहली बार तब प्रवेश करती है जब वह स्वयं को अभिव्यक्त करती है, और जो, इसलिए, केवल उसकी वस्तुनिष्ठता से संबंधित हैं, तथा स्वयं इच्छा के लिए बाह्य हैं।"*

हैराल्ड हॉफ़डिंग इच्छा के इन दोनों पक्षों के बीच के अंतर को भली-भाँति उजागर करते हैं (आउटलाइन्स ऑफ साइकोलॉजी, पृ. ९९-१००):—

"क्रियाशीलता चेतन जीवन का एक मूलभूत गुण है, क्योंकि सदैव एक ऐसे बल की पूर्वकल्पना करनी होती है जो चेतना के अनेकविध तत्वों को एक साथ बाँधे रखता है और उन्हें एक ही चेतना की विषयवस्तु में एकीभूत करता है। इससे स्वतंत्र, इच्छा-शक्ति के इस मूलभूततम रूप में, 'इच्छा' शब्द का प्रयोग दो भिन्न अर्थों में किया जाता है, एक संकीर्ण और एक व्यापक। संकीर्ण अर्थ में, विभिन्न संभावनाओं के बीच चुनाव करने की शक्ति के रूप में,

इच्छा-शक्ति केवल एक मानसिक विकास का उत्पाद है, कोई मूल तत्व नहीं। परन्तु यदि इच्छा-शक्ति को व्यापक अर्थ में समझा जाए, अनुभूति और संज्ञान द्वारा निर्धारित समस्त क्रियाशीलता के रूप में, तो कहा जा सकता है कि समस्त चेतन जीवन इच्छा-शक्ति में उसकी परिपूर्णतम अभिव्यक्ति के रूप में समाहित हो जाता है। चेतन व्यक्ति का विकास इच्छा-शक्ति (व्यापक अर्थ में) से संकीर्ण अर्थ की इच्छा-शक्ति की ओर बढ़ता है।"

यह जहाँ तक जाता है वहाँ तक सत्य है, परन्तु दुर्भाग्यवश यह इतना दूर नहीं जाता कि हमें इच्छा-शक्ति की प्रकृति समझने में सक्षम बना सके। हम इच्छा-शक्ति को, यहाँ तक कि उसके उच्चतम पक्ष में भी, अर्थात् स्वयं-वस्तु के रूप में, चेतना से वंचित मानने के अभ्यस्त हैं; परन्तु यदि हम इस बिंदु पर चिंतन करें, तो हमें यह देखने में असफल नहीं होना चाहिए कि इस संबंध में विचार का भ्रम मुख्यतः चेतना की उस गलत परिभाषा के कारण है जिससे हमने अपने मनों को ग्रस्त होने दिया है। वस्तुतः, समस्त मानसिक क्रियाशीलता, चाहे वह अनुभूति, इच्छा, अथवा चिंतन का रूप धारण करे, सदैव चेतना से संबद्ध रहती है। सामान्य बोलचाल में, हालाँकि, मनुष्य सामान्यतः चेतना का आरोपण केवल चिंतन पर करते हैं, और अभ्यास का बल इतना अधिक है कि जब हम मन की उन अभिव्यक्तियों से सामना करते हैं जिन्हें तर्कशक्ति के मार्गदर्शन की आवश्यकता नहीं होती, तो हम तत्काल उन्हें अचेतन घोषित कर देते हैं। हमारी मानसिक क्रियाओं का सूक्ष्म अध्ययन, हालाँकि, यह तथ्य उद्घाटित करता है कि इच्छा का प्रत्येक कृत्य सदैव अपनी प्रेरणा के रूप में एक विचार रखता है, चाहे वह विचार मन में सचेत रूप से उपस्थित हो, अथवा किसी अनुभूति की अवस्था के तल पर अचेतन रूप से पड़ा हो।

प्राप्त किए जाने वाले लक्ष्य का विचार सदैव इच्छा की क्रिया से पूर्व विद्यमान रहता है, इसलिए जहाँ कहीं भी हम निर्धारण अथवा चयन का सामना करते हैं, हमें उसके पीछे बुद्धि पाने की अपेक्षा करनी चाहिए। जब कोई पक्षी अपना घोंसला बनाता है, तो वह एक निर्धारण के साथ ऐसा करने आगे बढ़ता है, न कि यादृच्छिक रूप से। पक्षी के घोंसला बनाने के कृत्य और मनुष्य के अपना घर बनाने के कृत्य के बीच का अंतर इच्छा के संदर्भ में नहीं है, क्योंकि निर्माण करने का निर्धारण दोनों ही उदाहरणों में उपस्थित है, न ही उस लक्ष्य के संदर्भ में है जिसकी सेवा कृत्य द्वारा की जाती है, क्योंकि यह भी दोनों ही उदाहरणों में उपस्थित है, एक में आवश्यकता की एक प्रकार की संवेदना के रूप में अनुभूत, और दूसरे में एक विचार के रूप में प्रत्यक्षित; बल्कि अंतर मनुष्य में

देखी जाने वाली और पक्षी में संभवतः अनुपस्थित उस विवेचन-शक्ति के संदर्भ में है। अतः, लक्ष्य और उसे प्राप्त करने का निर्धारण दोनों ही स्थितियों में समान हैं, परन्तु अंतर उस विचार के संदर्भ में है जिसमें आश्रय-स्थल बनाने की आवश्यकता की अनुभूति मनुष्य के मामले में अनूदित होती है, परन्तु पक्षी के मामले में नहीं। तब, पक्षी का ज्ञान आवश्यकता की अनुभूति में निहित है, जबकि मनुष्य का ज्ञान उस घर के विचार को भी सम्मिलित करता है जिसमें वह अनुभूति उसकी श्रेष्ठतर बुद्धि द्वारा अनूदित हो जाती है।

सामान्यतः जिसे ज्ञान समझा जाता है, हालाँकि, उसके दायरे में अनुभूतियाँ और मानसिक प्रवृत्तियाँ सम्मिलित नहीं हैं। हम उस शब्द को विशेष रूप से अपने विचारों अथवा शुष्क तथ्यों तथा तर्कशास्त्र और अन्य संबद्ध विद्याओं के सूत्रों पर लागू करने के अभ्यस्त हैं, यद्यपि, सूक्ष्मता से कहें तो, ज्ञान अनुभूतियों और मानसिक प्रवृत्तियों के रूपांतरणों में ही संरक्षित रहता है। अतः, हम कह सकते हैं कि ज्ञान आत्मा में दो भिन्न रूपों में विद्यमान है, अर्थात्, मानसिक प्रवृत्तियों, अथवा अनुभूतियों, के रूप में, और विचारों के रूप में। पूर्व स्थिति में, यह हमारी सहज-प्रवृत्तियों और झुकावों, अर्थात् स्वभाव, को निर्धारित करता है, और उत्तर में, यह हमें चिंतन में सचेत विवेचन की ओर ले जाता है।

यह समझना कठिन नहीं होगा कि ज्ञान प्रवृत्तियों और अनुभूतियों के रूप में कैसे संरक्षित रह सकता है, यदि हम स्वयं पर शिक्षा के प्रभाव का अध्ययन करें। एक शिशु स्वभावतः विस्फोटक स्वभाव का होता है, और दूसरों के प्रति संकोच और विचार से रहित होता है। परन्तु एक वयस्क मनुष्य सामान्यतः एक बहुत भिन्न प्राणी होता है, और उसमें शिशु की बर्बरता बहुत कम शेष रहती है। मनुष्य की इन दोनों अवस्थाओं के बीच का अंतर निःसंदेह समाज के एक सदस्य के रूप में प्राप्त शिक्षा के कारण है। परन्तु प्रश्न यह है कि वह कौन-सी संकाय, अथवा अंग, है जो शिक्षा के परिणामस्वरूप रूपांतरित होता है?

भौतिकवादी शिक्षा के भंडार-गृह के रूप में मस्तिष्क की ओर संकेत करता है; परन्तु यह हो नहीं सकता। क्योंकि मस्तिष्क अनिवार्यतः नाशवान है, जबकि शिक्षा के प्रभाव आत्मा में तब भी बने रहते हैं जब बुद्धि क्षय को प्राप्त हो चुकी हो। आत्मा की किसी सेवा के लिए, शिक्षा को सर्वप्रथम स्वभाव को रूपांतरित करना चाहिए; क्योंकि यह चरित्र ही है, और केवल चरित्र ही, जो बुद्धि से अधिक जीवित रहता है। परन्तु स्वभाव को केवल ज्ञान के शुष्क सूत्रों से शुद्ध और सरल

रूप से रूपांतरित नहीं किया जा सकता; यह केवल अनुभव के आगे झुकता है, क्योंकि हम जो प्रिय है उसे अपनाते हैं और जो अप्रिय है उससे बचते हैं। अतः, शिक्षा तभी प्रभावी हो सकती है जब वह अनुभव का रूप धारण करे। इस प्रकार हमें उस संकाय की प्रकृति का सूत्र मिल जाता है जिसमें शिक्षा के परिणाम संरक्षित रहते हैं। वह है जो अनुभूत करती है। अब, अनुभूतियाँ तर्कशक्ति से पूर्णतः स्वतंत्र हैं और इच्छा से उद्भूत होती हैं, किसी सजीव में जीवन के रूप में प्रकट होती हुई। शोपेनहावर ने इसे तब पहचाना जब उन्होंने कहा:—

> "मानसिक और नैतिक गुणों के बीच का सम्पूर्ण अंतर अंततः इस तथ्य में प्रकट होता है कि बुद्धि काल के प्रभाव से अत्यंत महत्वपूर्ण परिवर्तन सहती है, जबकि इच्छा और चरित्र इससे अछूते रहते हैं...आयु की वृद्धि, जो धीरे-धीरे बौद्धिक शक्तियों को क्षीण करती जाती है, नैतिक गुणों को अछूता छोड़ देती है। हृदय की भलाई वृद्ध मनुष्य को तब भी सम्मानित और प्रिय बनाती है जब उसका सिर पहले से ही उन दुर्बलताओं को दिखाने लगा हो जो दूसरे बचपन का आरंभ हैं। कोमलता, धैर्य, ईमानदारी, सत्यनिष्ठा, निःस्वार्थता, परोपकार, आदि, समस्त जीवन भर बने रहते हैं, और वृद्धावस्था की दुर्बलताओं से नष्ट नहीं होते; जर्जर वृद्ध मनुष्य के प्रत्येक स्पष्ट क्षण में वे अक्षुण्ण रूप से प्रकट होते हैं, जैसे शीतकालीन बादलों से सूर्य। और, दूसरी ओर, द्वेष, विद्वेष, लोभ, कठोर-हृदयता, विश्वासघात, स्वार्थ, और हर प्रकार की नीचता भी हमारे अंतिम वर्षों तक अछूती बनी रहती है...हमारी प्रवृत्तियों में जो भी परिवर्तन होते हैं वे केवल वही हैं जो सीधे हमारी शारीरिक शक्ति के, और उसके साथ हमारी आनंद-क्षमताओं के, ह्रास से उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार विषयासक्ति असंयम को स्थान देगी, वैभव-प्रेम लोभ को, और घमंड महत्वाकांक्षा को; ठीक उस मनुष्य की भाँति जो दाढ़ी आने से पहले नकली दाढ़ी पहनता था, और बाद में, जब उसकी अपनी दाढ़ी सफेद हो जाती है, तो उसे भूरा रंग देता है। इस प्रकार, जबकि समस्त शारीरिक 'शक्तियाँ, पेशीय बल, इंद्रियाँ, स्मृति, बुद्धि, प्रतिभा, घिसती जाती हैं, और वृद्धावस्था में मंद पड़ जाती हैं, अकेली इच्छा अक्षय और अपरिवर्तित बनी रहती है: इच्छा की शक्ति और प्रवृत्ति वही बनी रहती है। वस्तुतः, अनेक बिंदुओं पर इच्छा वृद्धावस्था में और भी अधिक निर्णायक दिखाई देती है: इस प्रकार, जीवन से चिपके रहने में, जो, यह भली-भाँति ज्ञात है, बढ़ता जाता है; साथ ही दृढ़ता और हठ में, जिसे एक बार अपनाई गई बात के प्रति दिखाया जाता है, हठधर्मिता में; जिसे इस तथ्य से समझाया जा सकता है कि अन्य प्रभावों के प्रति बुद्धि की ग्रहणशीलता, और इस प्रकार उसमें प्रवाहित होने वाले प्रेरणा-तत्वों द्वारा इच्छा की गति, कम हो गई है...अत्यधिक आयु, बीमारी,

मस्तिष्क की क्षति, पागलपन, हमसे स्मृति को पूर्णतः छीन सकते हैं, परन्तु इससे व्यक्ति की पहचान नष्ट नहीं होती। यह उसी अभिन्न इच्छा और व्यक्ति के अपरिवर्तनशील चरित्र पर टिकी है। यही वह है जो दृष्टि की अभिव्यक्ति को भी अपरिवर्तनीय बनाता है। हृदय में मनुष्य है, सिर में नहीं। यह सत्य है कि, बाह्य जगत से अपने संबंध के परिणामस्वरूप, हम ज्ञान के विषय, जानने वाले 'मैं', को अपना यथार्थ स्व मानने के अभ्यस्त हैं, जो संध्या में बदल जाता है, नींद में लुप्त हो जाता है, और प्रातःकाल नवीन शक्ति के साथ अधिक तेजस्वी हो उठता है। यह, हालाँकि, मस्तिष्क का केवल एक कार्य मात्र है, न कि हमारा अपना स्व। हमारा यथार्थ स्व, हमारे स्वभाव की गुठली, वह है जो उसके पीछे है, और वस्तुतः इच्छा करने और न करने, संतुष्ट होने और असंतुष्ट होने, के अतिरिक्त कुछ नहीं जानता, इसके इन समस्त रूपांतरणों के साथ, जिन्हें अनुभूतियाँ, संवेग और वासनाएँ कहा जाता है। यही वह है जो अन्य को उत्पन्न करता है, जो उसके सोते समय उसके साथ नहीं सोता, और उसी प्रकार जब वह मृत्यु में डूबता है तब भी अक्षत बना रहता है। इसके विपरीत, जो कुछ भी ज्ञान से संबंधित है वह विस्मृति के अधीन है; यहाँ तक कि नैतिक महत्व के कृत्य भी कभी-कभी, वर्षों बाद, केवल अपूर्ण रूप से स्मरण किए जा सकते हैं, और हम अब यह सटीक और विस्तृत रूप से नहीं जानते कि हमने किसी संकटपूर्ण अवसर पर कैसा आचरण किया। परन्तु स्वयं चरित्र को, जिसकी साक्षी केवल कृत्य देते हैं, हम भूल नहीं सकते; वह अब भी उतना ही वही है जितना तब था।"*

चरित्र का, वस्तुतः, बुद्धि से बहुत कम साझा है, बल्कि यह इच्छा पर निर्भर करता है; क्योंकि पूर्व निर्णय की संकाय है और उत्तर क्रिया की। यह इच्छा में ही है कि चरित्र अपने गुण उद्घाटित करता है, विवेचन में नहीं; अतः यह संभव है कि किसी अत्यंत बौद्धिक मनुष्य का हृदय बुरा हो, और किसी उत्कृष्ट चरित्र वाले मनुष्य का मस्तिष्क मंद हो।

अतः, चरित्र स्वयं इच्छा में संरक्षित है, और जीवन की समस्त विभिन्न क्रियाशीलताओं का, अनुभूतियों, संवेगों, वासनाओं और स्वभाव के रूप में प्रकट, योग है; यह शिक्षा का उत्पाद है। हम इस प्रकार कह सकते हैं कि इच्छाएँ सुख और दुख के अनुभवों से रूपांतरित होती हैं, और अपनी बारी में, आत्मा की भावी मनोवृत्ति और प्रवृत्तियाँ निर्धारित करती हैं। परन्तु इच्छा को अचेतन तभी माना जा सकता है जब उसे बल के रूप में देखा जाए, न कि जब उसे चरित्र के भंडार-गृह के रूप में लिया जाए, जो आत्मा की समस्त विभिन्न प्रवृत्तियों के योग के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

*द वर्ल्ड ऐज़ विल एंड आइडिया, खंड २, पृ. ४५६, ४५७ और ४६०।*

क्योंकि, एक प्रवृत्ति किसी निश्चित लक्ष्य की ओर एक झुकाव है, और प्राप्त किए जाने वाले विषय के प्रति सचेत अथवा अवचेतन जागरूकता की ओर संकेत करती है। इस लक्ष्य को मानसिक क्षितिज से हटा दें, और आप इच्छा को तत्काल शुद्ध ऊर्जा तक घटा देंगे, उन समस्त लक्षणों से रहित जो मन की उपस्थिति के द्योतक हैं जो इच्छा के अनुषंगी हैं। परन्तु इच्छा कुछ भी नहीं है यदि वह किसी निश्चित लक्ष्य की ओर झुकी हुई और उसे प्राप्त करने के लिए संकल्पित ऊर्जा नहीं है। अतः, अचेतन इच्छा शब्दों में ही एक विरोधाभास है। यह सत्य है कि अहं इच्छा के कृत्य में विवेचन की सहायता से आगे नहीं बढ़ता, परन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि इच्छा के समस्त कृत्य चरित्र पर निर्भर करते हैं, जो विगत अनुभव का परिणाम है। जहाँ आचरण की दिशा पहले से ही निर्धारित है, वहाँ इच्छा का कृत्य अवचेतन है, परन्तु जहाँ इसे परिस्थितियों के अनुसार कार्यान्वित किया जाना है, जो मार्ग में बाधाओं के रूप में उपस्थित हो सकती हैं, अथवा नहीं भी, वहाँ चेतना बुद्धि के रूप में प्रकट होकर इच्छा के पदचिह्नों का मार्गदर्शन करती है।

इसके अतिरिक्त, इच्छा का कोई कृत्य नहीं हो सकता जहाँ किसी न किसी प्रकार की इच्छा की जागरूकता न हो, अतः जागरूकता इच्छा-क्रिया की एक पूर्ववर्ती शर्त है। परन्तु जागरूकता और चेतना एक ही वस्तु के मात्र दो भिन्न नाम हैं; अतः, इच्छा का प्रत्येक यथार्थ कृत्य एक सचेत कृत्य है। इसके अतिरिक्त, यदि इच्छा स्वयं में 'अंध' है, तो वह उस 'लालटेन' (बुद्धि) से किस प्रकार लाभान्वित हो सकती है जिसे वह अपने कदमों के मार्गदर्शन के लिए प्रयुक्त करती है? तब, या तो इच्छा स्वयं ही 'लालटेन' बन जाती है, अथवा उसके पीछे कोई अन्य है जो इच्छा पर सवार है, और अपने हाथ में लालटेन लिए हुए है। परन्तु जब हम इच्छा को स्वयं-वस्तु के रूप में प्रस्थापित करते हैं, तो हम अन्य सभी वस्तुओं को अस्तित्व से वंचित कर देते हैं; अतः, इच्छा को, शोपेनहावर के अपने ही सिद्धांत के अनुसार, स्वयं ही अपने पथ को आलोकित करने का कार्य करना होगा। इसके अतिरिक्त, यदि इच्छा को शिक्षित किया जा सकता है, अर्थात्, ज्ञान द्वारा नियंत्रित, तो उसकी अपनी प्रकृति में शिक्षा के लिए एक सुप्त क्षमता अवश्य होनी चाहिए, क्योंकि हम पत्थरों को एक पेटी में ज्ञान के ग्रंथों, मान लीजिए एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका के साथ पैक करके शिक्षित नहीं कर सकते। अतः, इच्छा, स्वयं-वस्तु के रूप में देखे जाने पर, चेतना के अतिरिक्त कुछ और नहीं हो सकती, जो अकेली ही ज्ञान का भंडार-गृह हो सकती है। इच्छा, बल के रूप में देखे जाने पर, जीवन की लय है, दूसरे शब्दों में, स्वयं-वस्तु, अर्थात् चेतना, की क्रियाशीलता की ऊर्जा।

सत्य यह है कि शोपेनहावर ने स्वयं को अपने गलत नामकरण से भटकने दिया, और जिस भ्रम में इससे परिणत हुए, उसमें वे उस सुदृढ़ निष्कर्ष को भूल गए जिस पर वे पहले ही पहुँच चुके थे। अपने 'एसे ऑन द फोरफोल्ड रूट ऑफ सफिशिएंट रीज़न' में उन्होंने पहले ही यह प्रतिपादित किया था (पृ. १६९):—

> "अब इच्छा करने वाले का ज्ञाता विषय के साथ तादात्म्य, जिसके गुण से 'मैं' शब्द दोनों को समाहित और निर्दिष्ट करता है, ब्रह्मांड की गुत्थी है, और इसलिए अव्याख्येय है। क्योंकि हम केवल विषयों के बीच के संबंधों को ही समझ सकते हैं; परन्तु दो विषय कभी एक नहीं हो सकते, सिवाय एक समग्र के भागों के रूप में। यहाँ, जहाँ विषय की बात है, जिन नियमों से हम विषयों को जानते हैं वे अब लागू नहीं होते, और ज्ञाता का उसके साथ जो इच्छा करने के रूप में जाना जाता है—अर्थात्, विषय और वस्तु का—यथार्थ तादात्म्य तत्काल दिया गया है। अब, जिसने भी इस तादात्म्य की व्याख्या करने की सम्पूर्ण असंभवता को स्पष्ट रूप से समझ लिया है, वह निश्चय ही इसे उच्चतम कोटि का चमत्कार कहने में मुझसे सहमत होगा।"

चिंतन दिखाता है कि अनुभूतियाँ भी अस्तित्व की अचेतन अवस्थाएँ नहीं हैं, यद्यपि वे सदैव बुद्धि की संगति से मुक्त होती हैं, और कभी-कभी उसे धुंधला भी कर देती हैं।

यह थोड़े चिंतन से स्पष्ट हो जाएगा। प्रश्न यह है: 'अनुभूति' अपने आप में क्या है? क्या यह शुद्ध क्रियाशीलता अथवा ऊर्जा का ही एक अन्य नाम है? निश्चय ही नहीं, क्योंकि विश्लेषण यह तथ्य उद्घाटित करता है कि अनुभूतियाँ आपस में उतनी ही भिन्न होती हैं जितने विचार, इस प्रकार घृणा का संवेग प्रेम के संवेग से मूलतः भिन्न है। और फिर भी क्रियाशीलता दोनों में समान है। यदि हम इस विचार को एक गणितीय समीकरण के रूप में अभिव्यक्त करें, तो हमें कहना होगा कि प्रेम का संवेग = ऊर्जा + प्रेम का विचार*, और घृणा का संवेग = ऊर्जा + घृणा का विचार, इत्यादि। तब, अनुभूतियाँ एक-दूसरे से ऊर्जा के संदर्भ में नहीं, बल्कि विशुद्ध और केवल उन विचारों के संदर्भ में भिन्न होती हैं जो अपने सत्व से मन को संतृप्त करते हुए हमारी मानसिक क्रियाशीलता को रंग देते हैं। अतः, एक संवेग एक विचार है जो अनुभूति में रूपांतरित हो गया है, ठीक जैसे एक कृत्य एक विचार है जो एक प्रक्रिया में तरलीकृत होकर अहं द्वारा प्रभावी बनाया गया है। संवेग और अनुभूतियाँ इस प्रकार जीवन की अवचेतन प्रवृत्तियाँ हैं, इसलिए नहीं कि उस क्षण चेतना उपस्थित नहीं है, बल्कि इसलिए कि वह उस अनुभूति के परिणामस्वरूप निष्प्रभावी हो जाती है

जिसकी उपस्थिति मन में किसी सचेत चुनाव, अथवा विवेचन, के लिए कोई स्थान नहीं छोड़ती, जब तक वह चेतना के क्षेत्र पर अधिकार बनाए रखती है।

> "जब हम यांत्रिक रूप से कोई अभ्यस्त कृत्य करते हैं," बर्गसाँ लिखते हैं (क्रिएटिव एवोल्यूशन, पृ. १५१-५२), "जब निद्राचारी स्वचालित रूप से अपना स्वप्न अभिनीत करता है, तो अचेतनता सम्पूर्ण हो सकती है; परन्तु यह केवल इस तथ्य के कारण है कि कृत्य के निरूपण को स्वयं कृत्य के निष्पादन द्वारा रोक दिया जाता है, जो विचार से इतनी पूर्णता से मिलता-जुलता है, और उसमें इतनी सटीकता से बैठता है, कि चेतना उनके बीच कोई स्थान पाने में असमर्थ रहती है। निरूपण को क्रिया द्वारा रोक दिया जाता है। इसका प्रमाण यह है कि यदि कृत्य की सम्पन्नता किसी बाधा द्वारा रोकी अथवा विफल कर दी जाए, तो चेतना पुनः प्रकट हो सकती है। वह वहाँ थी, परन्तु उस क्रिया द्वारा निष्प्रभावी थी जिसने निरूपण को पूर्ण करते हुए उसे भर दिया था। बाधा कुछ भी सकारात्मक नहीं रचती; वह केवल एक शून्य बनाती है, एक रोक हटाती है। निरूपण के प्रति कृत्य की अपर्याप्तता ही वह है जिसे हम यहाँ चेतना कहते हैं। जहाँ बिना किसी वास्तविक क्रिया के अनेक समान रूप से संभव क्रियाएँ इंगित की जाती हैं (जैसे किसी अनिर्णीत विवेचन में), चेतना तीव्र होती है। जहाँ सम्पन्न की गई क्रिया ही एकमात्र संभव क्रिया है (जैसे निद्राचारी, अथवा अधिक सामान्यतः स्वचालित, प्रकार की क्रियाशीलता में), चेतना शून्य तक घट जाती है। निरूपण और ज्ञान फिर भी उस स्थिति में विद्यमान हैं यदि हमें व्यवस्थित गतियों की एक सम्पूर्ण श्रृंखला मिले जिसका अंतिम अंश पहले से ही प्रथम में पूर्वाकृत हो, और यदि, इसके अतिरिक्त, चेतना किसी बाधा के आघात पर उनसे चमक उठे।"*

यह कथन कि ज्ञान अनिवार्यतः स्वयं-वस्तु में सम्मिलित है, मन में भ्रम उत्पन्न कर सकता है, क्योंकि मानव मन यह प्रश्न पूछने पर बल देता है, यह ज्ञान सबसे पहले कहाँ से आया? कड़ाई से कहें तो, प्रश्न स्वयं ही अतार्किक है, क्योंकि दार्शनिकों द्वारा परिकल्पित स्वयं-वस्तु अपनी यथार्थ प्रकृति में शुद्ध चेतना और शाश्वत है, अतः काल-सीमा का विचार उसे तनिक भी प्रभावित नहीं कर सकता। और, जहाँ तक जागरूकता का प्रश्न है, यह नहीं कहा जा सकता कि चेतना किसी भी समय उससे वंचित रही हो। दूसरे शब्दों में, हम काल के किसी बिंदु की कल्पना नहीं कर सकते जब चेतना पहली बार अपने ही मन में उदित हुई हो, ठीक जैसे हम ब्रह्मांड में ऊर्जा को पहली बार, एक नई अभिव्यक्ति के रूप में, अस्तित्व में आते हुए नहीं सोच सकते। वस्तुतः, ज्ञान केवल चेतना

की अवस्थाओं में ही निहित है, और इनके संबंध में प्रत्येक आत्मा की अनंत क्षमता है, जैसा पूर्व अध्याय में दर्शाया जा चुका है। हम आगे देखेंगे कि ज्ञान की यह अनंत क्षमता हमारे वैयक्तिक कर्मों द्वारा अवरुद्ध रहती है, और आत्मा के उनके दुष्ट प्रभाव से मुक्त होते ही यथार्थ बन जाती है। शुद्ध आत्मा की चेतना को, तब, केवल पूर्ण और परिपूर्ण ही चित्रित किया जा सकता है; और, यदि हम भौतिक ब्रह्मांड को भी विचार से हटा दें, जो हम विचार में करने में सक्षम हैं, तो हमें अनिवार्यतः एक सर्वज्ञ आत्मा को उसकी अपनी अवस्थाओं और अस्तित्व की चेतना प्रदान करनी होगी। तब, एक पूर्ण आत्मा द्वारा धारित ज्ञान, उस समस्त के ज्ञान से मिलकर बना होगा जो उसका अपना स्वभाव प्रकट करने में सक्षम है; यह, बहुत बड़ी सीमा तक, वास्तव में विद्यमान वस्तुओं का ज्ञान नहीं होगा, बल्कि उन समस्त वस्तुओं के रूपों का होगा जो संभावना के गर्भ में पड़ी हैं। अतः, एक शुद्ध आत्मा को अपने विषय में जो ज्ञान है, उसमें उस समस्त का ज्ञान सम्मिलित है जो है, अथवा कभी हो सकता है; और यदि हम आवश्यक और आकस्मिक क्रिया के बीच के अंतर को स्मरण करें, जिसे लाइबनिट्ज़ ने स्पष्ट रूप से देखा, तो यह प्रतीत होगा कि मानव इच्छा की स्वतंत्रता* भी परमेश्वर के ज्ञान की पूर्णता पर कोई संभावित आपत्ति प्रस्तुत नहीं कर सकती।

*पूर्व-निर्धारणवाद के प्रश्न पर विचार करने के लिए वर्तमान अवसर का लाभ उठाया जा सकता है। इच्छा स्वभावतः स्वतंत्र है; वह स्वयं स्वतंत्रता है, और अपने बंधन से स्वयं को मुक्त करने की शक्ति रखती है। अतः, प्रत्येक बद्ध आत्मा को यदि वह अपने बंधनों के विनाश के लिए प्रयत्न करे तो अवश्य मुक्त हो जाना चाहिए। यही आत्मा की वह नियति है जो उसके स्वभाव के बल द्वारा उसके लिए पूर्व-निर्धारित है। परन्तु आत्मा की यही स्वतंत्रता यह भी अभिप्रेत करती है कि उसे स्वयं के लिए यह चुनने की शक्ति है कि वह बंधन से मुक्त होगी, अथवा उसमें बनी रहेगी। इसका तात्पर्य यह कहने के समान है कि यह सब इच्छा का ही प्रश्न है। जब आत्मा इंद्रिय-वासनाओं के फलों से तृप्त हो जाती है, तो उसका स्वतंत्र स्वभाव उसे आत्म-ज्ञान की ओर ले जाता है, अर्थात्, उसकी अपनी स्वाभाविक स्वतंत्रता के ज्ञान की ओर, जो, उस पर उदित होकर, उसे अपने बंधन नष्ट करने में सक्षम बनाता है, अन्यथा कोई भी उसकी चयन में हस्तक्षेप नहीं करता। स्व का ज्ञान, हम कह सकते हैं, नियति के बल से आता है, क्योंकि इंद्रिय-सुख आनंद की क्षतिपूर्ति नहीं करते; और, जैसे कोई व्यक्ति जो स्वयं को महान कार्यों में सक्षम जानता है, अनुपयुक्त परिवेश में डाले जाने पर कुड़कुड़ाता है, वैसे ही स्वभावतः आनंदमय आत्मा भी सांसारिक समृद्धि और आनंद के बीच भी असहज अनुभव करती है। आत्मा उस मनुष्य के समान है जो अपने ही परिवार में एक सेवक के वेश में प्रवेश करता है, और अपने ही घर में सेवक की भूमिका निभाने से उत्पन्न उत्तेजना के परिणामस्वरूप, स्वयं को अपने वेश और कार्य के साथ तादात्म्य कर लेता है, और भूल जाता है कि वह स्वामी है। अब, यह स्पष्ट है कि उसकी सेवा की समाप्ति उसकी अपनी पसंद का एक सरल प्रश्न है; और कोई भी उसे उसकी इच्छा के विरुद्ध इसमें बाध्य नहीं कर सकता। परन्तु क्या वह कभी अपनी यथार्थ स्थिति की स्मृति अथवा ज्ञान पुनः प्राप्त करेगा, यह उन शक्तियों की प्रकृति पर निर्भर करता है जो उसे उससे रोकती हैं। यह, हालाँकि, अनुमान लगाया जा सकता है कि, क्योंकि नई स्थिति की उत्तेजना स्वयं आनंद नहीं है, उसका अपना भीतरी स्वभाव, शीघ्र अथवा विलंब से, उसे सेवा की एकरसता से असंतुष्ट बना देगा। जैसे-जैसे वही सामान्य कार्य वही पुरानी संवेदनाओं*

*के साथ उसके भाग्य में आता है, उसका भीतरी स्वभाव, जो सेवा के समस्त आनंदों से मिलकर भी कहीं अधिक आनंदमय है, निश्चय ही उसे उसकी नियति के बोध के प्रति जगा देगा और उस पर चिंतन में लगा देगा। यही योग का आरंभ है। यहाँ नियति है, परन्तु ऐसी नियति जिसे कोई बाहर से उस पर आरोपित नहीं करता; यह उसी का एक अंश है। जो लोग पूर्व-निर्धारणवाद के विरोध में स्वयं को खड़ा करते हैं, वे यह भूल जाते हैं कि जब तक भविष्य को हमारी बुद्धि द्वारा, कम-से-कम कुछ सीमा तक, समाहित करना और ऐसे शब्दों में हमारे सम्मुख लाना संभव न हो जो अस्पष्ट अथवा अनिश्चित न हों, तब तक आत्मा की स्वतंत्रता की भीतरी लालसा व्यर्थ होगी, और उतनी ही व्यर्थ धर्म की शिक्षा तथा विज्ञान की सटीक गणनाएँ। यहाँ तक कि जब कोई कलाकार चित्र बनाने बैठता है, तब भी उसके मन में एक विचार होता है जिसे वह कैनवास पर उतारने का प्रयत्न करता है। वह निःसंदेह इस विचार को जितना चाहे बदलने के लिए स्वतंत्र है, परन्तु व्यवहार में, वह अपनी कलात्मक सहज-प्रवृत्तियों द्वारा नियंत्रित होता है, और अपने समक्ष के चित्र को अपने मन के चित्र से भिन्न होने नहीं देगा, यद्यपि वह ऐसा कर सकता है। आगे का विश्लेषण यह तथ्य उद्घाटित करता है कि मानसिक विचार विगत छापों के तत्वों से बना है, जो धारणाओं, विश्वासों, प्रवृत्तियों और संवेगों के रूप में मन में संरक्षित हैं। इच्छा भी, इस प्रकार, अपने ही घर में अपना शत्रु पालती है, अर्थात्, अपने ही स्वभाव में अपनी सीमाएँ रखती है। अतः, इच्छा के संदर्भ में स्वतंत्रता शब्द का यथार्थ अर्थ यह है कि उसे उसकी अपनी पसंद के विरुद्ध आरोपित नहीं किया जा सकता।*

इच्छा की स्वतंत्रता के प्रश्न से निपटते हुए, वह वस्तु जिसे दार्शनिक सामान्यतः उपेक्षित कर देते हैं, वह इच्छा का वह तत्व है जो उसकी क्रियाशीलता के क्षेत्र को निर्धारित करता है और उसे प्रयत्न करने पर विवश करता है। इसी तत्व के प्रभाव में इच्छा बुद्धि द्वारा प्रबंधनीय बन जाती है। अतः यह संभव हो जाता है कि उसकी क्रियाओं की गणना गणितीय शुद्धता के साथ भी की जा सके, बशर्ते उसकी समस्त परिस्थितियों और प्रेरणाओं को जानना संभव हो। परन्तु यह सामान्य मानवजाति के लिए असंभव है, यद्यपि उनके लिए सरल है जिनमें सर्वज्ञता अथवा यथार्थ प्रकार की दिव्यदृष्टि उदित हो चुकी है।

हमें भय है, कि इच्छा-स्वतंत्रता के संबंध में उपर्युक्त विचार प्रस्तुत करते हुए हम बर्गसाँ से मतभेद रखते हैं। परन्तु बर्गसाँ का पूर्व-निर्धारणवाद का भय, और इसके विरुद्ध द्वार बंद रखने की उनकी उत्सुकता, उन्हें अपने पैरों से उखाड़ ले गई है। वे यह परिभाषित करने से इनकार करते हैं कि उनका स्वतंत्रता का विचार क्या व्यक्त करता है, इस कारण से कि इससे पूर्व-निर्धारणवाद की स्वतंत्र इच्छा के विरुद्ध विजय सुनिश्चित हो जाएगी। इस तीक्ष्ण चिंतक ने अधिक-से-अधिक जिस बात के प्रति स्वयं को प्रतिबद्ध किया है, वह केवल यह कहना है कि 'स्वतंत्रता ठोस स्व और उस कृत्य के बीच का संबंध है जिसे वह करता है।' परन्तु वे तुरंत यह जोड़ने के लिए पर्याप्त सावधान हैं कि 'यह संबंध अपरिभाष्य है, केवल इसलिए कि हम स्वतंत्र हैं।' इस प्रकार, अवधि, विस्तार, बहुलता, और इसी प्रकार के विचारों के अपने सूक्ष्म विश्लेषणों के बावजूद, कोई उन्हें मन से

खारिज करने का अधिकार रखता है, केवल इसलिए कि वे हमें स्वतंत्रता की अपनी धारणा समझने में सक्षम नहीं बनाते। परन्तु शब्द को उसके साधारण अर्थ में लेते हुए, अर्थात्, संयम अथवा आवश्यकता की अनुपस्थिति के द्योतक के रूप में, यह स्पष्ट है कि पूर्ण स्वतंत्रता की धारणा एक विशुद्ध काल्पनिक संकल्पना है। यहाँ तक कि देवता भी किसी भी प्रकार की समस्त आवश्यकता से मुक्त नहीं हैं। अग्नि को जलना ही होगा, जल को बहना ही होगा, क्रियाशीलता को सदैव निष्क्रियता के विपरीत ही रहना होगा, और इसी प्रकार आगे। बर्गसाँ के अपने ही कथन के अनुसार, यहाँ तक कि शुद्ध अवधि भी अपने समस्त शाश्वत विस्तार में किसी विशेष संवेदना का अनुभव केवल एक बार करने के लिए अभिशप्त है। परन्तु स्वतंत्रता का अर्थ है इच्छानुसार कुछ भी करने की शक्ति, और यदि उसकी इच्छा को झुकाने के लिए एक भी 'अवश्य' शेष रह जाए तो इससे उसका समस्त आकर्षण और मूल्य छिन जाएगा; क्योंकि ऐसा 'अवश्य' स्पष्ट रूप से विशुद्ध आवश्यकता का ही प्रतीक होगा। तब, इच्छा-स्वतंत्रता का अर्थ क्या है?

यदि हम वस्तुओं से जुड़ी आवश्यकता के विचार का विश्लेषण करें, तो हम इसे दो श्रेणियों में विभाजित होते हुए देखते हैं। पहली वह वर्ग है जिसमें यह केवल क्रियात्मक है, जैसा उपर्युक्त उदाहरणों में; परन्तु दूसरी उन समस्त प्रकरणों को सम्मिलित करती है जहाँ आवश्यकता क्रियात्मक नहीं, बल्कि कोई ऐसी वस्तु है, एक रोक अथवा संयम, जो सजीव, अथवा प्रकृति, से बाह्य परिवेश और परिस्थितियों द्वारा आरोपित है। यह आवश्यकता के दूसरे वर्ग में ही है कि संयम का विचार स्थित है, क्योंकि जो क्रियात्मक है उसे संयम कदाचित ही कहा जा सकता है। अतः, अहं को, शुद्ध प्रवाह, अर्थात् अवधि, के रूप में परिकल्पित, स्वतंत्र माना जाना चाहिए। शुद्ध अवधि, हालाँकि, अपने ही स्वभाव द्वारा सहन करने के लिए निर्धारित है, जिसका तात्पर्य यह कहने के समान है कि वह ऐसा करने से इनकार नहीं कर सकती। यहाँ फिर से पूर्व-निर्धारणवाद की वह विजय है जिससे बर्गसाँ न्यायोचित रूप से भयभीत रहते हैं।

स्वतंत्रता की उच्चतम संकल्पना केवल परमेश्वर के संबंध में ही कल्पनीय है, और फिर भी वे भी कुछ कृत्यों के लिए पूर्व-निर्धारित हैं, उदाहरणार्थ, उन्हें विद्यमान रहना ही होगा, क्योंकि अस्तित्व उनका स्वभाव है। मनुष्य आत्महत्या कर सकता है और करता भी है, परन्तु यह देवत्व का विशेषाधिकार प्रतीत नहीं होता। परन्तु, चूँकि किसी ऐसे कृत्य का सम्पादन जिसके लिए कोई प्रकृति द्वारा पूर्व-निर्धारित है, पीड़ा का कारण नहीं, बल्कि, इसके विपरीत, उसका स्वतंत्र सम्पादन

सुख और आनंद का स्रोत है, अतः हम इसे स्वतंत्रता पर एक संयम नहीं मानते। इसके अतिरिक्त, इच्छा-क्रिया सदैव अपने उद्देश्य के रूप में सुख की खोज करती है, और सुख का उच्चतम रूप केवल उस क्रिया के सम्पादन के साथ संगत है जो किसी के स्वभाव के लिए सर्वाधिक अनुकूल हो। अतः, स्वतंत्रता, कहा जा सकता है, अपने स्वभाव के अनुरूप कृत्य के सम्पादन से अप्रभावित रहती है। इस सीमा तक, अतः, जहाँ तक अहं क्रिया करता है, उसे स्वतंत्र कहा जा सकता है, क्योंकि समस्त क्रियाशीलता इच्छा की अभिव्यक्ति है, और इच्छा अपने ही स्वभाव द्वारा क्रियाशीलता के लिए निर्धारित है।

पुनः, चूँकि समस्त कृत्य इच्छा द्वारा सम्पन्न किए जाते हैं, हम आगे बढ़कर कह सकते हैं कि प्रत्येक कृत्य इच्छा की ओर से एक स्वतंत्र कृत्य है। हमें, हालाँकि, विवेचन और क्रिया के बीच के अंतर को ध्यान में रखना चाहिए। क्रिया करने का संकल्प और उस कृत्य का वास्तविक सम्पादन, चाहे वह संकल्प के कितना ही सख्ती से अनुरूप क्यों न हो, दो भिन्न वस्तुएँ हैं, क्योंकि पूर्व में स्वतंत्रता यथार्थ से अधिक भ्रामक है। यदि कोई किसी भी ढंग से संकल्प लेने के लिए स्वतंत्र है, तो विवेचन करने की आवश्यकता ही क्या है? विवेचन मुख्यतः वैयक्तिक लाभ की ओर निर्देशित है, और विवेचनात्मक चेतना को सुझाई गई समस्त संभावित पद्धतियों में से, वह चुनी जाती है जो दी गई परिस्थितियों में सर्वाधिक लाभ सुनिश्चित करती प्रतीत होती है। तब, परिस्थितियाँ ही बुद्धिमान प्राणियों की भावी क्रियाशीलता निर्धारित करती हैं। परन्तु परिस्थितियों का अर्थ विचारों, इच्छाओं, प्रेरणाओं, हितों, और इसी प्रकार की वस्तुओं के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? दबाव, चाहे नैतिक हो अथवा शारीरिक, यहीं रुक जाता है, क्योंकि विवेचन का तथ्य स्वयं ही यह संकेत है कि अधिकांश स्थितियों में इच्छा को उससे कहीं अधिक प्राप्त है जिसे 'हॉब्सन्स च्वाइस' कहा जाता है। इसके अतिरिक्त, एक बार जब मन बना लिया जाता है और संकल्प रूप ले लेता है, तो कृत्य स्वयं अहं द्वारा अपनी ही इच्छा से सम्पन्न किया जाता है, चाहे यह पूर्व मानसिक निर्धारण द्वारा उसके लिए कितना भी पूर्व-निर्धारित क्यों न रहा हो। वह कृत्य, अथवा बल्कि वह प्रेरणा जो क्रियाशीलता की ओर ले जाती है, अपने आरंभ के लिए, स्वयं अहं की इच्छा पर निर्भर करती है, और किसी भी बाह्य बल द्वारा आरंभ नहीं की जा सकती। बाह्य बल अधिक-से-अधिक जो प्राप्त कर सकता है वह यह है कि वह अहं को उस कदम के लाभ, अथवा हानि, पर विचार करने के लिए प्रेरित करे जिसे उठाने की इच्छा की जा रही है, और इस प्रकार तर्क, अथवा किसी अन्य बौद्धिक

प्रेरणा-पद्धति द्वारा उसकी सहमति सुनिश्चित करे; परन्तु कृत्य का सम्पादन विशेष रूप से स्वयं अहं की इच्छा पर निर्भर करता है। इस प्रकार, अहं का प्रत्येक कृत्य, जैसा हम इच्छा-क्रिया की प्रक्रिया में जानते हैं, स्वतंत्र है। परन्तु चूँकि, हिचकिचाहट के क्षण में, संभावित मार्गों का चुनाव वैयक्तिक परिस्थितियों द्वारा निर्धारित होता है, और चूँकि क्रिया केवल पूर्व में लिए गए अंतिम संकल्प का कार्यान्वयन मात्र है, अतः पूर्व-निर्धारणवाद यह तथ्य स्थापित करने का दावा कर सकता है कि अहं के लिए केवल एक ही मार्ग संभव था, क्योंकि वह अपने प्रभुत्वशाली आवेश और प्रेरणा द्वारा निर्देशित हुए बिना नहीं रह सकता था। स्वतंत्र इच्छा के समर्थक, हालाँकि, यह कहकर उत्तर दे सकते हैं कि विवेचन बुद्धि का कृत्य था, इच्छा का नहीं। परन्तु इससे भी उनके पक्ष को कोई आगे बढ़त नहीं मिलती, क्योंकि इच्छा बुद्धि के अंतिम संकल्पों को निष्ठापूर्वक कार्यान्वित करती है, सिवाय उस सीमा तक जहाँ वे स्वयं बुद्धि द्वारा, क्रियाशीलता के आगामी चरणों में, रूपांतरित होते हैं। इसके अतिरिक्त, बुद्धि और इच्छा एक ही वस्तु के केवल दो पक्ष हैं, आत्मा के भिन्न कार्य होने के नाते।

इससे यह निकलता है कि यथार्थ स्वतंत्रता केवल उसी की है जो अपने कृत्यों के लाभ अथवा हानि की गणना में व्यस्त नहीं है। अतः, केवल वही स्वतंत्र हो सकता है जोअपने कृत्यों के लाभ अथवा हानि की गणना से अप्रभावित रह सके।* यह उन 'परिस्थितियों' का शिकार नहीं होता; दूसरे शब्दों में, स्वतंत्रता समस्त सत्ताओं में से केवल उसी का आवश्यक गुण है, अतः स्वभाव है, जो स्वयंपर्याप्त है। मुक्त आत्मा ही इस अर्थ में स्वतंत्र है, अतः। अमुक्त अहं, इच्छा के रूप में देखे जाने पर, अपने विचारों और प्रेरणाओं, अर्थात् इच्छाओं, के प्रभुत्व के अधीन है, और उसे स्वतंत्र नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार हम इस चक्कर भरे ढंग से भारत के उस प्राचीन बंधन-सिद्धांत पर लौट आते हैं, जिसे केवल इच्छाओं की बलि देकर ही उखाड़ा जा सकता है, जैसा शास्त्र सिखाते हैं।

परन्तु भेदों की यह गुप्त समरूपता केवल विशुद्ध अमूर्तनवाद के क्षेत्र में ही संभव है; जहाँ तक मूर्त प्रकृति का प्रश्न है, वह स्वयं को शोपेनहावर की उस योजना के अनुकूल नहीं ढालती जो सब कुछ को एक ही निर्भेद अस्तित्व अथवा बल में घटा देती है, जिसे 'होने की इच्छा' कहा गया है। यह कांटीय दर्शन था अथवा उपनिषद, जो उनकी त्रुटि का कारण बना, हम नहीं जानते; परन्तु यह स्पष्ट है कि रासायनिक बंधुता, गुरुत्वाकर्षण और इच्छा बिल्कुल एक ही वस्तु नहीं हैं। यह तर्क

दिया जा सकता है कि चूँकि द्रव्य स्वयं में और किसी बाह्य कारण से स्वतंत्र होकर विद्यमान हैं, उन्हें अपनी ही इच्छा के गुण से विद्यमान माना जाना चाहिए, जिसे, इस कारण, 'होने की इच्छा' कहा जाना चाहिए, परन्तु यह तर्क पदार्थ के एक परमाणु के मामले में पूर्णतः ध्वस्त हो जाता है, जिसके विषय में यह नहीं माना जा सकता कि वह क्षण-प्रतिक्षण अस्तित्व बनाए रखने का कोई मानसिक संकल्प बना रहा है। किसी अन्य मामले में भी यह परिकल्पना किसी वैध तर्क द्वारा समर्थित नहीं है।

> *इच्छा के स्वभाव पर लौटते हुए, उसके गठन पर और प्रकाश स्मृति की संकाय द्वारा पड़ता है, जिसमें पहले से भोगे जा चुके अनुभव के तथ्यों का पुनरुत्पादन निहित है। यह प्रत्यक्ष पर टिकी है, जो, अपनी बारी में, इंद्रिय-उद्दीपन पर इच्छा की प्रतिक्रिया पर निर्भर करती है, जिसके परिणामस्वरूप वह उसी का रूप धारण कर लेती है जिसे वह जानती है। यह आवश्यक है, क्योंकि अन्यथा विषय और मन के बीच एक अंतराल रह जाएगा, जिसे किसी अन्य वस्तु द्वारा पाटा जाना कल्पनातीत है। इसका तात्पर्य यह कहना है कि मन को उपलब्ध ज्ञान का एकमात्र साधन अनुभूति की संकाय है, जो पाँच भिन्न रूपों में प्रकट होती है, अर्थात्, ध्वनि, स्पर्श, दृष्टि, स्वाद और गंध। जहाँ तक दृश्य-प्रत्यक्ष का प्रश्न है, किसी ने भली-भाँति कहा है कि दृष्टि स्पर्श का ही एक अन्य रूप है। वास्तव में, मन एक निश्चित आवृत्ति पर कंपित होने पर दीप्तिमान हो जाता है, और इस प्रकार रंगों को अनुभूत करता है। जब इंद्रिय-उत्तेजना मन तक पहुँचती है, तो वह प्रत्यक्ष के केंद्रों में इच्छा से टकराती और उसे चुनौती देती है। तब विक्षोभ द्वारा उत्पन्न आघात, अर्थात् संवेदना, ध्यान को जगाती है, जो, इच्छा के अवचेतन क्षेत्र में निवासित शक्तियों और बलों को अपनी सहायता के लिए बुलाकर, स्थिति से निपटने में आगे बढ़ती है। चेतना की देहरी पर प्रकट होने वाले तत्वों में से, जिनकी लय उस अवरुद्ध संवेदना के तत्वों से मेल खाती है, वे बाह्य उद्दीपन के साथ सहानुभूतिपूर्ण कंपन करते हैं, मानो बाहर से आए अपने भाइयों का स्वागत कर रहे हों, और इस प्रकार प्रत्यक्ष को जन्म देते हैं।*

ये तत्व मन में तैयार बिंब के रूप में नहीं, बल्कि उबलती हुई सक्रिय संभावनाओं, अथवा बलों, के एक विषम पुंज के रूप में विद्यमान हैं, मानो घोल में धारित। वे स्थान में सटी हुई वस्तुओं की भाँति एक-दूसरे से पृथक नहीं हैं, बल्कि परस्पर व्याप्त हैं। अतः, जब उनमें से कुछ निश्चित संख्या को कंपन में डाला जाता है, तो शेष, मानो, दबा दिए जाते हैं। परिणाम यह है कि कंपायमान तत्व चेतना के क्षेत्र में एक अनालोकित क्षेत्र में आलोकित रेखाचित्रों की भाँति उभरकर आते हैं। इस प्रकार वह बिंब बनता है जो उद्दीपन की दिशा में बाहर की ओर प्रक्षेपित होता है। इसी से यह कथन उत्पन्न होता है कि मन स्वयं उस विषय का रूप धारण कर लेता है जिसे वह जानता है। बाह्य उद्दीपन पर आंतरिक प्रतिक्रिया की जागरूकता ही वह है जिसे प्रत्यक्ष कहा जाता है। यह देखा जाएगा कि सामान्य, अथवा विवरण-रहित, प्रत्यक्ष विशिष्टताओं के ज्ञान से पूर्व आता है, क्योंकि विस्तृत संज्ञान एक बौद्धिक प्रक्रिया है और प्रत्यक्ष की अखंड एकता से भागों को पृथक करने से

आरंभ होता है। समझ के सहज रूपों की सहायता से, ध्यान प्रत्यक्षित पुंज को 'व्यष्टियों' में काटता है, और इन्हें अंगों और भागों में। तब यह उन्हें उन विभिन्न तत्वों में विघटित करता है जिनसे वे बने हैं, और इस प्रकार उनकी संरचना जानता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जिन सरल तत्वों से एक मानसिक बिंब बना है वे मन में विद्यमान हैं; बाह्य उद्दीपन की एकमात्र सेवा यह है कि वह उन्हें कंपन में डाल दे। परन्तु मन में इन तत्वों के अस्तित्व के बिना, हम किसी विगत प्रत्यक्ष का स्मरण करने में कभी सक्षम नहीं होते, क्योंकि स्मरित छाप केवल भीतर से ही आती है।

मनोविज्ञान पर कोई भी ग्रंथ यह दिखाएगा कि संवेदना कोई सरल तत्व नहीं है, बल्कि यह उस बाह्य उत्तेजना को दिया गया नाम है, जिसे मन के आंतरिक क्षेत्र में स्वीकार किए जाने और वहाँ इच्छा की तत्कालीन प्रचलित मनोवृत्ति द्वारा संचालित, अर्थात् नियंत्रित, किए जाने के पश्चात, प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ, यदि हम अपना दायाँ हाथ गर्म जल में और बायाँ हाथ ठंडे जल में डुबोएँ, और फिर दोनों को कुनकुने जल से भरे किसी पात्र में डाल दें, तो पूर्व को वह ठंडा प्रतीत होगा और उत्तर को गर्म। यहाँ, स्पष्टतः, बाह्य उत्तेजना दोनों हाथों के मामले में समान बनी रहती है, फिर भी वे भिन्न संवेदनाओं से प्रभावित होते हैं। यह स्पष्ट रूप से दर्शाता है कि बाह्य उत्तेजना क्रमशः दोनों हाथों में प्रचलित संवेदनाओं द्वारा संचालित है।

इसी प्रकार, जब बाह्य जगत के किसी खंड से किरणें आँख पर पड़ती हैं, तो वे मस्तिष्क की स्नायुओं में कुछ गतियाँ उत्पन्न करती हैं। ये गतियाँ, अथवा कंपन, तत्कालीन प्रचलित शरीर-भाव के साथ मिलकर, वह संवेदना बनाती हैं जिसे अहं अनुभूत करता है और जिसके प्रति सचेत होता है। यदि यह संवेदना कोई सामान्य-सी हो, और अहं का ध्यान आकर्षित करने के लिए पर्याप्त रुचिकर न हो, तो उन गतियों को अभ्यासवश उनसे जुड़ी प्रेरक-प्रतिक्रियाओं में निर्वहन होने दिया जाता है; अन्यथा अहं उन्हें उनकी प्रगति के मार्ग में ही अवरुद्ध कर देता है और बुद्धि को उनके कारण अथवा कारणों का निर्धारण करने के लिए आमंत्रित करता है। तब ध्यान* क्रियाशील हो जाता है, और बाह्य जगत की उस वस्तु द्वारा संचालित होने के लिए स्वयं को उघाड़ देता है। इसका परिणाम, पहले से परिचित ढंग से, उस मानसिक बिंब के निर्माण में होता है जो बाहर की ओर प्रक्षेपित होता है।

*कुछ मनोवैज्ञानिक ध्यान में चेतना की एक मनोवृत्ति के बजाय किसी मनोवृत्ति की चेतना देखते हैं, परन्तु वे इस महत्वपूर्ण तथ्य को दृष्टि से खो देते प्रतीत होते हैं कि देह और मन दोनों एक-दूसरे पर क्रिया और प्रतिक्रिया करते हैं, अतः यह संभव है कि देह को किसी विशेष मनोवृत्ति में डालकर अहं का ध्यान सुरक्षित किया जाए, ठीक जैसे यह संभव है कि इच्छा के एक कृत्य द्वारा देह को उसी*

*मनोवृत्ति को अपनाने पर विवश किया जाए। उत्तरार्ध स्थिति में, देह की दृश्य मनोवृत्ति ही एकमात्र वह वस्तु है जो मन की अवस्था को इंगित करती है, और इससे यह अनुमान निकल सकता है कि ध्यान से सदैव पहले शारीरिक मनोवृत्ति होती है। वास्तव में, हालाँकि, इच्छा स्वयं देह को ध्यान की मनोवृत्ति में डालने में सक्षम है। बर्गसाँ के साथ, हम कह सकते हैं कि ध्यान का प्राथमिक कार्य उस तार-लिपिक के कार्य से तुलनीय है जो किसी महत्वपूर्ण संदेश की प्राप्ति पर, उसकी शुद्धता जाँचने के लिए, उसे शब्द-दर-शब्द वापस भेजता है। ध्यान का विश्लेषणात्मक कार्य केवल एक अधिक पूर्ण संश्लेषण प्राप्त करने का प्रयत्न है। ध्यान की परिघटनाओं की सम्पूर्ण परिधि को भौतिकवादी परिकल्पना, अथवा प्रभाव-सिद्धांत, जैसा विलियम जेम्स ने इसे कहा है, पर व्याख्यायित करना असंभव है; हम केवल यह कहकर अपनी समझ को संतुष्ट कर सकते हैं कि आत्मा की रुचि, अपने आसपास चल रही गतिविधियों में, उसे अपना मन मोड़ने और किसी विशेष विषय, अथवा विवरण, पर ध्यानपूर्वक ध्यान देने को विवश करती है। ध्यान की प्रवृत्ति को निरस्त करने और उस पर अधिकार जमाने की आत्मा की शक्ति, जिस पर भौतिकवादी मनोवैज्ञानिकों ने उचित विचार नहीं किया, उनकी परिकल्पना पर किसी भी अर्थ में व्याख्यायित नहीं की जा सकती। यदि ध्यान अभिवाही उद्दीपन का, अथवा उससे संबद्ध विचारों का, प्रभाव है और उसी के द्वारा बुलाया जाता है, तो अहं की ओर से इच्छा के एक कृत्य द्वारा उसका निषेध कैसे व्याख्यायित किया जाए? प्रो॰ विलियम जेम्स स्वयं प्रभाव-सिद्धांत के विरुद्ध झुके हुए हैं, जैसा वे अपने 'प्रिंसिपल्स ऑफ साइकोलॉजी' के प्रथम खंड के पृष्ठ ४४८ की टिप्पणी में स्पष्ट रूप से कहते हैं। अपने स्वभाव में, ध्यान जीवन की भीतरी शक्तियों के एक बिंदु पर अभिसरण को द्योतित करता है, जो वर्तमान में निरंतर गतिशील रहता है और वैयक्तिक सजीव तथा बाह्य जगत के बीच संवेदना और क्रिया का माध्यम बनाता है। यह मानसिक एकाग्रता का बिंदु है, और तनाव की स्थिति में होने पर इच्छा की एक मनोवृत्ति को अभिप्रेत करता है।*

इस प्रकार, प्रत्यक्ष अभिवाही उद्दीपन पर मन की प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप उत्पन्न होता है। परन्तु ऐसी प्रतिक्रिया के बिना, उद्दीपन केवल गतियों के रूप में स्वयं को समाप्त कर लेगा; यह मस्तिष्क-कोशिकाओं को गति प्रदान कर सकता है, परन्तु विषय के ज्ञान को, अर्थात् उसकी उपस्थिति की जागरूकता की भावना को, कभी जन्म नहीं दे सकता। मानसिक प्रतिक्रिया को दबा दें, और आप विषय की जागरूकता को दृष्टिपटल पर उसके फोटो और मस्तिष्क की गतियों तक घटा देंगे, जिन्हें प्रत्यक्षित अथवा संज्ञात करने वाला कोई नहीं होगा।

प्रत्यक्ष का कृत्य केवल मन में घटित होता है, न कि मन के 'शारीरिक' रूप से उस स्थान पर जाने से जहाँ देखा गया विशेष विषय वस्तुतः स्थित है। यदि उत्तरार्ध सत्य होता, तो हम कभी किसी विषय को एक साथ पूर्ण रूप से नहीं देख पाते, क्योंकि तब ध्यान केवल उसकी सतह के एक छोटे-से भाग पर ही निर्देशित हो सकता था, और क्योंकि दूरी ही अकेली दृष्टि के क्षेत्र को विस्तृत करती है। इसके अतिरिक्त, दूर की वस्तुएँ बहुत भिन्न प्रतीत होतीं जितनी वे प्रतीत होती हैं, यदि प्रत्यक्ष की संकाय वस्तुतः उनके पास जाती हो। भ्रम भी तब असंभव होता; क्योंकि यह

उद्दीपन की प्रकृति के गलत बोध के परिणामस्वरूप उत्पन्न होता है। इसके अतिरिक्त, दूरी के बदलने के साथ वस्तुएँ बड़ी अथवा छोटी प्रतीत न होतीं।

जब हम रियलिस्टिस्कोप की स्लाइडों को उस चतुर छोटे उपकरण के माध्यम से देखते हैं, तो हमें यह विश्वास हो जाता है कि प्रत्यक्ष विषय पर घटित नहीं हो सकता; क्योंकि यदि ऐसा होता, तो उपकरण के दोहरे चित्र और मन द्वारा संज्ञात विषय के बीच कोई अंतर नहीं होना चाहिए था। न केवल ऐसा नहीं है, बल्कि, इसके विपरीत, दोनों के बीच शायद ही कोई साम्य है। उपकरण में एक दोहरा चित्र है, परन्तु मन केवल एक ही विषय देखता है; और, चित्र द्वारा नंगी आँख को प्रस्तुत छोटे समतल पृष्ठ के स्थान पर, मन एक जीवन-आकार, जीवंत विषय देखता है। यदि प्रत्यक्ष विषय पर घटित होता, तो यह कल्पना करना कठिन है कि यह धोखा कैसे उत्पन्न हो सकता है। भ्रम किसी विषय पर एक शीघ्र दृष्टि के कारण हो सकता है; परन्तु यहाँ जितनी अधिक ध्यान से चित्र को देखा जाता है, मन में भ्रामक बिंब उतना ही स्पष्ट हो जाता है। न रियलिस्टिस्कोप के काँच, न उसके चित्र, उस संयुक्त और आवर्धित बिंब के तनिक भी समान हैं जिसे मन वस्तुतः प्रत्यक्षित करता है। स्पष्टतः, तब, प्रत्यक्ष का कृत्य चित्रों पर घटित नहीं होता। न ही यह काँचों पर घटित हो सकता है, क्योंकि उन पर कोई बिंब नहीं है। इसके अतिरिक्त, यदि दृश्य-प्रत्यक्ष उन पर घटित होता, तो कम-से-कम वे स्वयं दृश्य होने चाहिए थे। तथ्य यह है कि मन में समस्त दृश्य-प्रत्यक्षों को बाह्य स्थान में प्रक्षेपित करने की प्रवृत्ति है।

> "यह बड़ी सीमा तक अभ्यास के कारण प्रतीत होता है। जो जन्म से अंधे रहे हैं, वे किसी शल्य-क्रिया द्वारा दृष्टि प्राप्त करने पर विषयों को आँख के अत्यंत निकट कल्पित करते हैं, और उनमें बाह्यता की वह स्पष्ट भावना नहीं होती जो अधिकांश व्यक्तियों में होती है। धीरे-धीरे, और शिक्षा की एक प्रक्रिया द्वारा, जिसमें स्पर्श-इंद्रिय एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है, वे विषयों के बाह्य संबंधों का ज्ञान प्राप्त करते हैं। पुनः, फॉस्जीन (आँख दबाने से उत्पन्न प्रकाश-बिंब), जब पहली बार उत्पन्न होते हैं, आँख में प्रतीत होते हैं, परन्तु कल्पना के एक प्रयत्न द्वारा, उनके प्रति सचेत होने पर, हम उन्हें अंतरिक्ष में स्थानांतरित कर सकते हैं, यद्यपि वे कभी बहुत दूर प्रतीत नहीं होते।" (देखें 'विज़न' पर लेख, एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका, ११वाँ संस्करण)

रियलिस्टिस्कोप में प्रयुक्त चतुर युक्ति का प्रभाव चित्रों द्वारा प्रसारित प्रकाश-किरणों को इस प्रकार रूपांतरित करना है कि वे मूल विषय से निकलने वाली किरणों के समान हो जाएँ। अतः,

जब ऐसी रूपांतरित किरणों से बना बिंब दृष्टिपटल पर बनता है, तो मन, रियलिस्टिस्कोपिक उत्तेजना और सामान्य विषय से आने वाली उत्तेजना के बीच के साम्य से निर्देशित होकर, अपने सामान्य ढंग से उस पर क्रिया करता है, इस प्रकार, वास्तव में अनुभूत संवेदना का मूल कारण बनने में सक्षम, एक जीवन-आकार विषय के मानसिक बिंब को बाह्य स्थान में प्रक्षेपित करता है।

इन मानसिक बिंबों को बाह्य स्थान में प्रक्षेपित करने की मन की शक्ति के संबंध में, शोपेनहावर टिप्पणी करते हैं:—

> "यदि देखना विशुद्ध संवेदना मात्र होता, तो हम विषय की छाप को उल्टा प्रत्यक्षित करते, क्योंकि हम उसे इसी रूप में प्राप्त करते हैं; परन्तु उस स्थिति में, हम इसे अपनी ही आँख के भीतर की किसी वस्तु के रूप में प्रत्यक्षित करते, क्योंकि हम संवेदना पर ही रुक जाते। वास्तव में, हालाँकि, समझ अपने कारण-नियम के साथ तत्काल हस्तक्षेप करती है, और, चूँकि उसने संवेदना से उस दिशा का आँकड़ा प्राप्त कर लिया है जिसमें किरण दृष्टिपटल पर पड़ी, वह दोनों रेखाओं पर उस दिशा का पश्चगामी अनुसरण करते हुए कारण तक जाती है; जिससे इस बार क्रॉसिंग विपरीत दिशा में होती है, और कारण स्वयं को अंतरिक्ष में एक बाह्य विषय के रूप में सीधा प्रस्तुत करता है, अर्थात्, उस स्थिति में जहाँ से उसने मूलतः अपनी किरणें भेजी थीं, न कि उस स्थिति में जहाँ वे दृष्टिपटल तक पहुँचीं।" *

विषय का स्थानीकरण उत्तेजना की गुणवत्ता द्वारा निर्धारित होता है, जो परिस्थितियों के साथ बदलती है। परिणामस्वरूप, मन कभी-कभी बड़ी वस्तुओं को छोटा और इसका विपरीत भी प्रत्यक्षित करता है। यह, हालाँकि, विषय नहीं है जो बड़ा अथवा छोटा हो जाता है, बल्कि केवल उसका मानसिक प्रतिरूप, जिसकी प्रकृति उत्तेजना की प्रकृति द्वारा निर्धारित होती है, उदाहरणार्थ, जिस चाँद को हम देखते हैं वह यथार्थ चाँद बिल्कुल नहीं है, बल्कि मन द्वारा प्रक्षेपित उसका मानसिक बिंब है। चूँकि थोड़ी दूरी पर एक छोटा चाँद उतनी ही संवेदना उत्पन्न करेगा जितनी अनुपातिक रूप से अधिक दूरी पर एक बड़ा चाँद, अतः प्रत्यक्षकारी संकाय उस क्षण संतुष्ट हो जाती है जब आंतरिक कंपनों और बाह्य उत्तेजना के बीच सामंजस्य प्राप्त हो जाता है। अतः, प्रक्षेपित मानसिक बिंब का आकार और दूरी उत्तेजना की प्रकृति द्वारा निर्धारित होते हैं। यह बताता है कि क्यों छोटे बच्चे चाँद को हाथ के निकट कल्पित करते हैं, और गोद के शिशु उसे पकड़ने का व्यर्थ प्रयत्न करते हैं। जैसा बर्गसाँ कहते हैं:—

"स्पष्ट प्रत्यक्ष दो विपरीत प्रवाहों द्वारा घटित होता है, जिनमें से एक, अभिकेंद्री, बाह्य विषय से आता है, और दूसरा, अपकेंद्री, अपना उद्गम-बिंदु उसमें रखता है जिसे हम 'शुद्ध स्मृति' कहते हैं। अकेला प्रथम प्रवाह उसके साथ आने वाली यांत्रिक प्रतिक्रियाओं के साथ एक निष्क्रिय प्रत्यक्ष देगा। दूसरा, स्वयं पर छोड़ दिया जाए, तो एक ऐसा स्मरण उत्पन्न करता है जो यथार्थीकृत होता है—प्रवाह जितना स्पष्ट होता जाता है, उतना ही अधिक यथार्थ। साथ में, ये दोनों प्रवाह अपने संगम-बिंदु पर वह प्रत्यक्ष बनाते हैं जो स्पष्ट और पहचाना हुआ है।"—(मैटर एंड मेमोरी, पृ. १६३)

यह तथ्य कि रियलिस्टिस्कोप का भ्रम उसकी प्रकृति की जागरूकता के बावजूद बना रहता है, यह सिद्ध करता है कि तर्कशक्ति का समझ के प्रत्यक्षात्मक कार्य से कोई लेना-देना नहीं है, क्योंकि अन्यथा मोहभंग होने पर मानसिक रूप से प्रक्षेपित बिंब को स्लाइडों जैसा हो जाना चाहिए था। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि बाह्य कंपनों की गुणवत्ता के अतिरिक्त कुछ भी मानसिक बिंब की प्रकृति निर्धारित नहीं करता।

स्मृति के विचार की ओर बढ़ते हुए, यह देखा जाएगा कि यह प्रत्यक्ष से केवल इस सीमा तक भिन्न है कि जो उद्दीपन इसे उत्पन्न करता है वह बाह्य जगत की किसी वस्तु से नहीं, बल्कि मन के भीतर से ही उत्पन्न होता है। ठीक वही मानसिक तत्व जो प्रत्यक्ष में कंपित होते हैं, वे भी स्मरण में कंपन में डाले जाते हैं, जिनकी अपूर्णताएँ इच्छा के अपने ही स्वभाव के कारण हैं। क्योंकि, इच्छा में छापें इतनी मिश्रित और परस्पर व्याप्त हो जाती हैं कि प्रायः किसी विशेष संवेदना को पूर्ण और सम्पूर्ण रूप से पृथक करके स्मरण करना असंभव होता है। अतः, इन स्मरित संवेदनाओं की सहायता से बनाए गए बिंब सामान्यतः खंडित, गलत ढंग से समूहित, और झूठे विवरणों से भरे होते हैं। यदि कोई स्थान होता जहाँ स्मृति-बिंब संग्रहीत रहते, जैसे किसी दीर्घा में चित्र, अथवा किसी एल्बम में फोटो, तो ऐसा नहीं होना चाहिए था।

इसके अतिरिक्त, जब कभी इंद्रियों की आंतरिक उत्तेजना होती है, जैसे गहन एकाग्रता में, मन ऐसे स्पष्ट और जीवंत बिंब बनाकर बाह्य स्थान में प्रक्षेपित करता है जो व्यक्ति को धोखा देते हैं। इन्हें दिवा-स्वप्न (हैलुसिनेशन) कहा जाता है, यद्यपि संबंधित व्यक्ति के लिए वे पूर्णतः यथार्थ हैं, सर्वाधिक उल्लेखनीय मामले वे हैं जिनमें दृष्टि और स्पर्श की इंद्रियाँ एक साथ उत्तेजित होती हैं। ये दिवा-स्वप्नात्मक बिंब कहाँ से उत्पन्न हो सकते हैं, यदि वे उसी क्षण मन द्वारा न रचे जाएँ?

यहाँ तक कि पूरक पश्च-बिंब, जो किसी विषय को कुछ मात्रा में ध्यान से देखने के पश्चात दिखाई देता है, यह भी दर्शाता है कि यह अपने अस्तित्व का ऋणी मन की क्रियाशीलता को है, और उसी क्षण बनता है। यह निश्चय ही मस्तिष्क-द्रव्य में बिंबों के रूप में स्मृति के संरक्षण को सिद्ध नहीं करता।

तब, स्मृति क्या है? क्या यह तथ्यों और आँकड़ों का भंडार-गृह है, इस रूप में, अथवा विगत अनुभवों और घटनाओं का एक अभिलेख अथवा रिकॉर्ड? कि विगत किसी न किसी रूप में मन में संरक्षित है, यह विवाद से परे है, क्योंकि उसकी झलकें कभी-कभी उसके कथित विलोपन के पश्चात भी पकड़ ली जाती हैं। सम्मोहित विषयों तथा डूबने का अनुभव सह चुके पुरुषों की अद्भुत स्मृति, विगत की प्रत्येक घटना के संरक्षण को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है।

स्मृति का अर्थ किसी विगत घटना के स्मरण, अर्थात्, चेतना में, पहले से भोगे जा चुके अनुभव, अथवा पहले से अनुभूत किसी संवेदना, की पुनरावृत्ति, के अतिरिक्त कुछ नहीं है। अतः, प्रत्यक्ष और स्मरण के बीच का अंतर केवल इसमें है कि, जबकि पूर्व को उत्पन्न करने वाली उत्तेजना बाहर से आती है, वह जो उत्तर को लाती है मन के भीतर से ही उत्पन्न होती है। जब संवेदना के कारण सजीव के बाहर स्थित होते हैं, तो मन की प्रतिक्रिया से उत्पन्न मानसिक बिंब उन पर आरोपित होने के लिए बाहर जाते हैं, और दृश्य-प्रत्यक्ष उत्पन्न करते हैं; परन्तु जब वे भीतर से उत्पन्न होते हैं, तो वे ऐसे रूपों को जन्म देते हैं जो, बाहर जगत में पोषण के लिए कुछ भी ठोस न पाकर, क्षणभंगुर और अस्थायी बने रहते हैं—घटनाओं की छायामय आत्माएँ, बजाय प्रत्यक्ष की यथार्थताओं के।

अवलोकन दर्शाएगा कि विगत दो पूर्णतः भिन्न ढंगों में संरक्षित है, अर्थात्, पहला, स्वभाव अथवा चरित्र के रूपांतरण के रूप में, जो, जैसा हमने देखा, शिक्षा का भंडार-गृह है, और दूसरा, प्रेरक-क्रियाविधियों (मोटर मैकेनिज़्म) के रूप में जिन्हें 'स्वचालित गतियों की एक संवृत प्रणाली में एक आरंभिक आवेग द्वारा सम्पूर्ण रूप से गति में डाला जाता है, जो एक ही क्रम में एक-दूसरे का अनुसरण करती हैं, और, साथ मिलकर, एक ही मात्रा में समय लेती हैं' (मैटर एंड मेमोरी)। किसी पाठ को कंठस्थ करना इसी प्रकार का एक उदाहरण है। जैसा बर्गसाँ टिप्पणी करते हैं, यह स्मृति बुद्धिमत्तापूर्वक निर्मित उन क्रियाविधियों के सम्पूर्ण समूह के अतिरिक्त कुछ नहीं है जो हमें वर्तमान स्थिति के अनुकूल स्वयं को ढालने में सक्षम बनाती हैं। यह जीवन के उन निम्नतर रूपों में

अत्यंत सामान्य है जो केवल अपनी सहज-प्रवृत्तियों द्वारा निर्देशित होते हैं। स्मृति के बजाय आदत, यह हमारे विगत को अभिनीत करती है, परन्तु उसके बिंब को नहीं उभारती। जहाँ तक स्मृति के दूसरे रूप का प्रश्न है, यह स्पष्ट है कि इच्छा मुख्यतः वहाँ संलग्न है जहाँ विगत को स्वभाव अथवा चरित्र के रूपांतरण के रूप में संरक्षित किया जाता है, क्योंकि यह अनुभव से सीधे प्रभावित होती है। और यह समस्त प्रकार की मानसिक छापों के संबंध में सत्य पाया जाएगा, जिस सीमा तक ऐसी छापें अनुभव को अभिप्रेत करती हैं और इच्छा के लिए शिक्षा का स्रोत हैं। क्योंकि कोई भी मानसिक छाप प्रभाव से पूर्णतः रहित नहीं है, अतः यह असंभव है कि वह किसी न किसी प्रकार किसी की सहज-प्रवृत्तियों अथवा चरित्र को प्रभावित अथवा प्रभावशाली न करे। यह दिखाने के लिए पर्याप्त है कि स्मृति लगभग विशेष रूप से इच्छा की संगिनी है।

इच्छा में ही वह आरंभिक कठिनाई भी निहित है जिसका अनुभव तब होता है जब हम कुछ नया सीखने का प्रयत्न करते हैं; क्योंकि उसे विशेष विचारों के अनुरूप प्रतिक्रिया देने अथवा उसकी प्रवृत्तियों और स्वभाव के विरुद्ध विशेष मनोवृत्तियों में बाध्य करना सरल नहीं है। अतः, जब तक ध्यान कहीं और स्थिर रहता है, कितनी भी पुनरावृत्ति मन पर कोई स्थायी छाप नहीं छोड़ेगी।

सीखने की प्रक्रिया भी स्मृति की प्रकृति पर पर्याप्त प्रकाश डालती है। जब कोई किसी अज्ञात विदेशी भाषा में कोई जटिल वाक्यांश सुनता है, तो वह उसे उसी क्षण दोहरा नहीं सकता; परन्तु उसकी पुनरावृत्ति सरल हो जाती है, यदि उसे उसे बनाने वाली सरल ध्वनियों में तोड़ दिया जाए। जो कारण है कि हम किसी शब्द, अथवा वाक्यांश, को तब दोहरा सकते हैं जब उसकी संरचना ज्ञात हो, और अन्यथा नहीं, वह इस तथ्य में निहित है कि समस्त ध्वनियों के सरलतर 'तत्व' आत्मा में, कंपन की विभिन्न क्षमताओं के रूप में, विद्यमान हैं, परन्तु तैयार शब्दों और वाक्यांशों के रूप में नहीं, अतः शब्दों का उच्चारण वास्तव में कुछ सरल ध्वनियों का शीघ्र क्रम में उच्चारण है। अतः, जिस क्षण शब्दों की संरचना का व्यावहारिक ज्ञान हो जाता है, उनका उच्चारण सरल हो जाता है। ये तथ्य यह अनुमान न्यायोचित ठहराते हैं कि नवजात शिशु और वयस्क के बीच का अंतर, ध्वन्यात्मक पुनरुत्पादन के संबंध में, आत्मा की क्षमताओं के संबंध में नहीं, बल्कि, विशुद्ध और केवल, शिक्षा में, अर्थात्, उन क्षमताओं को नियंत्रित करने वाली विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक प्रक्रियाओं के ज्ञान में निहित है। इस अर्थ में, स्मृति मन के सरलतर तत्वों को जटिल रूपों में संयोजित करने की संकाय है, पुनरावृत्ति की बारंबारता इच्छा को आश्चर्यजनक

तीव्रता से, मानो बिना किसी प्रयत्न के, यह क्रिया करने में सक्षम बनाती है। जब नए रूप की लय मन में दृढ़ता से स्थापित हो जाती है, तो हम इसे आदत अथवा स्वभाव कहते हैं; और यही आदत, अथवा स्वभाव, है जो किसी नई वस्तु के प्रवेश का विरोध करती है। इच्छा का सुख-प्रिय स्वभाव उसे प्रचलित मार्ग छोड़कर नए पथों पर निकलने के प्रति विमुख बना देता है। यह हर प्रकार के कष्ट से घृणा करती है, परन्तु परिचित भूमि पर विचरण करने में आनंदित होती है। अतः, जिन वस्तुओं से यह पर्याप्त रूप से परिचित नहीं हुई है, वे भूल जाने की संभावना रखती हैं। विशुद्ध रटंत द्वारा अर्जित ज्ञान, अतः, बहुमूल्य समय की बर्बादी के समतुल्य है। अतः, जो विचार परिचित विचारों से संबद्ध हैं वे इच्छा पर बलपूर्वक लादे गए ज्ञान के टुकड़ों से अधिक चिरस्थायी हैं।

मन की विशेषता यह है कि वह एक समय में केवल एक ही विचार, अथवा चेतना की अवस्था, के प्रति सचेत हो सकता है, यद्यपि यह विचार, अथवा अवस्था, कोई सरल वस्तु होने की आवश्यकता नहीं, बल्कि उतनी ही जटिल हो सकती है जितनी कल्पना चित्रित कर सकती है, बशर्ते कि यह एक सुसंहत, सुसम्बद्ध समग्र हो। अतः, कोई भी तथ्य, अथवा चेतना की अवस्था, जो उस विचार, अथवा अनुभूति, में जो चेतना के क्षेत्र पर अधिकार रखती है, अपना उपयुक्त स्थान नहीं पाती, सहजता से स्वीकार अथवा स्मरण नहीं की जाएगी। इच्छा की यही विशेषता उसकी उस अरुचि की भी व्याख्या करती है जो उसे बिखरे विचारों, अथवा ज्ञान के टुकड़ों, से बोझिल होने के प्रति है।

स्मरण की संकाय और इच्छा के बीच घनिष्ठ संबंध इस तथ्य से और भी स्पष्ट है कि जब हम किसी भूली हुई घटना को स्मरण करने के लिए स्मृति को उकसाते हैं, तो केवल इच्छा ही तनाव में डाली जाती है, अर्थात्, प्रतिबिंबित होती है। कुछ लोगों का विचार है कि स्मरण मानसिक अवधारणाओं का स्वभाव साझा करते हैं जो, वे मानते हैं, मस्तिष्क में विद्यमान हैं। इस कथन का ठीक-ठीक क्या अर्थ है, यह समझना सरल नहीं है, जब तक इसका अर्थ यह न हो कि अवधारणाएँ और विचार मस्तिष्क के द्रव्य में कहीं, अपनी निश्चित रूपरेखाओं और 'व्यष्टियों' सहित, दूसरे शब्दों में, तैयार बिंबों के रूप में, विद्यमान हैं। अतः यह देखना आवश्यक हो जाता है कि एक अवधारणा का संभावित अर्थ क्या हो सकता है।

भौतिक जगत में प्रत्यक्षित भौतिक विषय से आगे बढ़ते हुए, हमें सर्वप्रथम स्वयं विषय प्राप्त होता है जिसका मन में प्रतिरूपण प्रत्यक्ष-बिंब कहलाता है। विषय की अनुपस्थिति में, उसका

स्मरण एक स्मृति-बिंब है जिसमें प्रत्यक्ष-बिंब की मूर्तता का अभाव है। इस स्मृति-बिंब को, हालाँकि, अवधारणा के साथ भ्रमित नहीं किया जाना चाहिए, क्योंकि इसकी, एक बिंब के रूप में, अपनी स्पष्ट रूपरेखा और आकृति है, जैसा उन्हें मूल विषय में काल के किसी विशेष क्षण देखा गया था। एक अवधारणा, इसके विपरीत, वह है जो समझ अपने प्रत्यक्षित से गढ़ती है। यह एक ऐसा विचार है जो अपनी प्रजाति से संबंधित के अतिरिक्त सब कुछ से वंचित कर दिया गया है, ताकि यह सम्पूर्ण वर्ग के लिए सत्य हो, परन्तु उसमें किसी व्यष्टि का प्रतिनिधित्व न करे, सिवाय इस सीमा तक कि वह अपने बिरादरी के अन्य सदस्यों के साथ, सम्पूर्ण वर्ग की विशिष्ट विशेषताएँ साझा करे। जैसा एक आधुनिक मनोवैज्ञानिक कहते हैं, एक अवधारणा में तादात्म्य को उसके मूर्त परिवेश से हटाकर स्वयं में देखा जाता है। उदाहरणार्थ, 'मनुष्य' की अवधारणा प्रत्येक मनुष्य के लिए सत्य होगी, चाहे वह लंबा हो अथवा छोटा, मोटा हो अथवा दुबला, युवा हो अथवा वृद्ध, चाहे वह अभी विद्यमान हो, अथवा विगत में विद्यमान रहा हो, अथवा अभी जन्म लेना बाकी हो। दूसरे शब्दों में, एक अवधारणा विचार का प्रतीक है, जो किसी विषय को उन साम्य-लक्षणों को इंगित करके परिभाषित करती है जो उसकी प्रजाति अथवा वर्ग के समस्त सदस्यों में समान हैं, परन्तु उन लक्षणों को छोड़ देती है जिनके संबंध में यह अन्यों से भिन्न है। यह स्पष्टतः असंभव है कि यह प्रत्येक व्यष्टि का बिंब हो, यद्यपि उन सभी को किसी-न-किसी ढंग से इसमें लपेटा हुआ कहा जा सकता है; क्योंकि एक बिंब किसी विशेष विषय की, जैसा वह हमें किसी विशेष अवसर पर प्रतीत हुआ, समानता के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

अनेक अवधारणाओं का, स्पष्टतः, कोई रूप नहीं होना चाहिए, उदाहरणार्थ, काल, क्योंकि हम मानसिक रूप से केवल उन्हीं विषयों को रूप प्रदान कर सकते हैं जिन्हें हमने प्रत्यक्षित किया है, परन्तु कभी उन्हें नहीं जो प्रत्यक्ष से परे हैं। अतः, यह धारणा कि अवधारणाएँ और विचार चेतना में तैरते हैं, केवल दृश्य विषयों के प्रत्यक्षों से निकाले गए अमूर्तनों पर, यदि तनिक भी, लागू हो सकती है। यहाँ त्रिभुज की अवधारणा के संबंध में बर्कले का प्रसिद्ध उदाहरण उपयोगी सिद्ध होता है। यह किसी विशेष प्रकार के त्रिभुज की अवधारणा नहीं है, न ही किसी विशेष आकार अथवा आयाम के किसी त्रिभुज की, बल्कि विशुद्ध और केवल त्रिकोणीयता की। यदि त्रिभुज की अवधारणा एक बिंब होती, तो निश्चय ही इसे कागज़ पर पुनरुत्पादित करना सरल होना चाहिए था; परन्तु जिस क्षण हम ऐसा करने का प्रयत्न करते हैं, हम पाते हैं कि हमारा चित्र या तो एक

समकोण, अथवा किसी अन्य प्रकार का, त्रिभुज है, कुछ निश्चित आयामों के साथ, न कि शब्द के किसी भी अर्थ में त्रिभुज का सामान्य विचार। इस प्रकार हम देखते हैं कि त्रिभुज की अवधारणा किसी भी दशा में एक बिंब नहीं हो सकती, बल्कि बिंबों का एक गुण है; यह केवल त्रिकोणीयता के गुण का प्रतिनिधित्व कर सकती है, इससे अधिक कुछ नहीं। किसी वर्ग से संबंधित अनेक व्यष्टियों से, अथवा एक ही व्यष्टि के अनेक चरणों से, समस्त भेदकारी लक्षणों को अमूर्त कर दें, और आपको, एक स्थिति में, वर्ग की अवधारणा प्राप्त होगी, और, दूसरी में, व्यष्टि विषय की। अब, चूँकि मूल मूर्त प्रत्यक्ष मानसिक प्रतिक्रिया से उत्पन्न होता है, अतः भेदकारी लक्षणों को हटाने के पश्चात जो शेष रहता है, वह अनिवार्यतः उतनी ही प्रतिक्रिया का रेखाचित्र होना चाहिए जितनी उस वर्ग के लिए समान है जिससे विषय संबंधित है। अतः, अवधारणाएँ और विचार मन में बिंबों के रूप में नहीं, बल्कि 'तरल' संभावनाओं के रूप में विद्यमान हैं जिन्हें इच्छानुसार चिंतन में यथार्थीकृत किया जा सकता है। एवाल्ड हेरिंग प्रतिपादित करते हैं (ऑन मेमोरी एंड द स्पेसिफिक एनर्जी ऑफ द नर्वस सिस्टम):—

> "हमारी अवधारणाएँ चेतना के मंच पर केवल क्षणभंगुर रूप से प्रकट होती हैं; वे शीघ्र ही दृश्यपटल के पीछे लुप्त हो जाती हैं, अन्यों के लिए स्थान बनाने हेतु। केवल मंच पर ही वे अवधारणाएँ हैं, ठीक जैसे एक अभिनेता केवल मंच पर ही राजा है। दृश्यपटल के पीछे वे क्या बनी रहती हैं? क्योंकि वे किसी-न-किसी रूप में विद्यमान हैं, यह हम जानते हैं; उन्हें पुनः प्रकट करने के लिए केवल एक संकेत की आवश्यकता है। वे अवधारणाओं के रूप में जारी नहीं रहतीं, बल्कि स्नायु-द्रव्य की कुछ निश्चित प्रवृत्तियों के रूप में, जिनके गुण से कल उत्पन्न की गई वही ध्वनि आज पुनः उद्भावित की जा सकती है।"

हम डॉ॰ हरमन टी॰ लुकेंस को भी उद्धृत कर सकते हैं, जो टिप्पणी करते हैं:—

> "जब हम किसी कृत्य को, जो हमने किया है, अथवा किसी संवेदना को, जो हमने अनुभूत की है, स्मरण करते हैं, तो इसमें और मूल कृत्य अथवा अनुभूति में इतनी समानता होती है कि इसमें बहुत कम संदेह रह जाता है कि तंत्रिका-तंत्र के वे ही भाग मानसिक पुनरुत्पादन में संलग्न हैं जो पूर्व की शारीरिक उत्पत्ति में थे। हम जानते हैं कि प्रत्येक क्रिया शरीर के भागों को उसी क्रिया को पुनः करने की प्रवृत्ति के साथ छोड़ती है, इस प्रकार दूसरी बार का सम्पादन अधिक सरल बना देती है। यह तथ्य आदत के मूल में स्थित है, और ऐसा प्रतीत होता है कि यही तथ्य स्मृति का भी आधार है।" —(थॉट एंड मेमोरी, पृ. ४५-४६)

हम पहले ही इंगित कर चुके हैं कि अवधारणाएँ किस प्रकार और कहाँ संरक्षित रहती हैं, और इस बिंदु पर और विस्तार करने की आवश्यकता नहीं।

तथ्य यह है कि कुछ रोगों में और वृद्धावस्था में भी स्मृति क्षीण हो जाती है, यह उसकी सजीव पर निर्भरता का सुझाव देता है, यद्यपि यह अनिवार्यतः हमें उस निष्कर्ष तक नहीं ले जाता जो कुछ लेखकों ने इससे निकाला है, अर्थात्, मस्तिष्क की क्षति अथवा व्यक्ति की दैहिक मृत्यु के पश्चात स्मृति के जीवित रहने की कोई संभावना नहीं है। मस्तिष्क अभिव्यक्ति का वाहन है, संरक्षण का अंग नहीं; अतः इसका विनाश केवल अभिव्यक्ति को प्रभावित करता है, परन्तु स्वयं संरक्षण की संकाय को स्पर्श नहीं करता।

पूर्वोक्त कारणों से, हमें बिंबों के रूप में स्मृति के संरक्षण की परिकल्पना को अस्वीकार करना होगा, और यह मानना होगा कि समस्त स्मृतियाँ इच्छा में आदतों, प्रवृत्तियों, अनुभूतियों और संवेगों के रूप में संरक्षित रहती हैं। इन मानसिक प्रवृत्तियों और झुकावों का पुंज भौतिक देह की मृत्यु के साथ मिटता नहीं, बल्कि उस केंद्रक का निर्माण करता है जो जीवन से जीवन तक संक्रमित होता है, जैसा आगे और अधिक पूर्णता से दर्शाया जाएगा।

बर्गसाँ ने स्पष्ट रूप से दर्शाया है कि मानव देह एक संवेदी-प्रेरक सजीव है; अपनी क्रियाशीलता से यह ध्यान को वर्तमान तक सीमित रखता है, और इस प्रकार चिंतन को अवरुद्ध करता है। परन्तु जब कभी क्रिया अनिर्धारित होती है, तो चिंतन की संकाय को वर्तमान संकट में मार्गदर्शन के सिद्धांत की खोज में विगत अनुभव में जाने का अवसर मिलता है। तब हम चिंतन (रिफ्लेक्ट: री, पीछे, और फ्लेक्सियो, मोड़ना अथवा घुमाना) करते हैं, अर्थात्, हम अपनी इच्छा को उसके अपने विगत अनुभव पर वापस मोड़ते हैं, इस प्रकार उसे भिन्न-भिन्न लयों में कंपित कराते हैं, जब तक अपेक्षित स्मृति प्राप्त नहीं हो जाती।

तब, विगत मन में बिंबों के रूप में नहीं,* बल्कि आत्मा की प्रवृत्तियों के रूप में संरक्षित है। समस्त ज्ञान इसी ढंग से संचित है। बर्गसाँ यह मानने में सही हैं कि हम अपने सम्पूर्ण विगत के साथ कार्य करते हैं, क्योंकि ज्ञान इच्छा के प्रशिक्षण को अभिप्रेत करता है, उसके उन आवेगों को परिवर्तित और रूपांतरित करके जो आत्मा की स्वचालित क्रियाशीलता निर्धारित करते हैं।

*सीएफ. "स्मृति, जैसा हमने सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, स्मरणों को किसी दराज़ में रखने, अथवा उन्हें किसी रजिस्टर में अंकित करने, की संकाय नहीं है। न कोई रजिस्टर है, न कोई दराज़; ठीक-ठीक कहें तो कोई संकाय भी नहीं है, क्योंकि एक संकाय रुक-रुककर कार्य करती है, जब वह चाहे अथवा जब वह कर सके, जबकि विगत का विगत के ऊपर संचय बिना किसी शिथिलता*

*के निरंतर चलता रहता है। वास्तव में, विगत स्वयं ही, स्वचालित रूप से, संरक्षित रहता है। अपनी सम्पूर्णता में, संभवतः, यह हमारा प्रत्येक क्षण अनुसरण करता है; जो कुछ भी हमने अपने आरंभिक शैशव से अनुभूत, चिंतित अथवा इच्छित किया है, वह वहाँ है, वर्तमान पर झुका हुआ जो उसमें सम्मिलित होने वाला है, चेतना के उन द्वारों पर दबाव डालता हुआ जो उसे बाहर ही छोड़ना चाहेंगे। मस्तिष्कीय क्रियाविधि ठीक इस प्रकार व्यवस्थित है कि वह इस विगत के लगभग सम्पूर्ण भाग को अचेतन में वापस धकेल दे, और देहरी के परे केवल उसी को प्रवेश दे जो वर्तमान स्थिति पर प्रकाश डाल सके अथवा अभी तैयार की जा रही क्रिया को आगे बढ़ा सके—संक्षेप में, केवल वही जो उपयोगी कार्य दे सके। अधिक-से-अधिक, कुछ अनावश्यक स्मरण आधे-खुले द्वार से स्वयं को घुसाने में सफल हो सकते हैं। ये स्मृतियाँ, अचेतन से आए संदेशवाहक, हमें स्मरण कराती हैं कि हम अनजाने में क्या-क्या खींचते चल रहे हैं। परन्तु, यद्यपि हमें इसका कोई स्पष्ट विचार न हो, हम अस्पष्ट रूप से अनुभूत करते हैं कि हमारा विगत हमारे लिए वर्तमान बना रहता है। हम वस्तुतः क्या हैं, हमारा चरित्र क्या है, यदि हमारे जन्म से—नहीं, यहाँ तक कि हमारे जन्म से पूर्व भी, क्योंकि हम अपने साथ जन्मपूर्व प्रवृत्तियाँ लाते हैं—हमने जो इतिहास जिया है उसका संघनन नहीं? निःसंदेह, हम अपने विगत के केवल एक छोटे भाग के साथ ही सोचते हैं, परन्तु यह हमारे सम्पूर्ण विगत के साथ है, जिसमें हमारी आत्मा का मूल झुकाव भी सम्मिलित है, कि हम इच्छा करते, चाहते और कार्य करते हैं। हमारा विगत, तब, समग्र रूप से, अपने आवेग में हमें प्रकट होता है; यह प्रवृत्ति के रूप में अनुभूत होता है, यद्यपि इसका केवल एक छोटा भाग ही विचार के रूप में ज्ञात है....हम एक भी क्षण को पुनः नहीं जी सकते, क्योंकि हमें उसके पश्चात आने वाले समस्त की स्मृति मिटाकर आरंभ करना होगा। भले ही हम इस स्मृति को अपनी बुद्धि से मिटा सकें, हम इसे अपनी इच्छा से नहीं मिटा सकते।"—क्रिएटिव एवोल्यूशन, पृ. ५-६*

हम अब विचारों के साहचर्य की समस्या की ओर अपना ध्यान मोड़ सकते हैं। प्रश्न यह है: वह कौन-सा बल है जो अचेतन की गहराइयों से विगत की छापों और स्मरणों को खींच निकालता है?

हमने कहा है कि प्रत्यक्ष आगत उद्दीपन पर मन की प्रतिक्रिया है, और इसके बिना यह बाह्य उत्तेजना द्वारा उत्पन्न विशुद्ध यांत्रिक गतियों तक घट जाएगा। बाहर से आने वाले कंपनों की तीव्रता और आवृत्ति मन को लगभग उसी प्रकार कंपायमान करती है जिस प्रकार किसी वायलिन के तार को उसके निकट उसकी ही ध्वनि बजाए जाने से सहानुभूतिपूर्ण प्रतिक्रिया में डाला जाता है। यह हमें साम्य प्रदान करता है, जो पहले उदाहरण में अनुभूत होता है, विचारित नहीं। परन्तु मन सजीव में कोई एकाकी तार नहीं है; यह एक बल-केंद्र है जो एक बिंदु पर भिन्न तीव्रता और लय की अनंत संख्या में परस्पर व्याप्त धाराओं के संकेंद्रण को अभिप्रेत करता है। यदि यह एक एकाकी तार होता, तो यह विभिन्न प्रकार की स्वरों और धुनों के प्रति कभी अनुक्रिया में कंपित नहीं हो सकता था। अतः, हमें मन को पाँच खंडों अथवा लय के प्रकारों में विभाजित करना होगा, जो पाँच इंद्रियों की विशिष्ट संवेदनाओं के अनुरूप हैं, और फिर इन खंडों को अनेक तारों में उपविभाजित करना होगा जो बाहर से आने वाले कंपनों की ठीक गुणवत्ता को पुनरुत्पादित कर सकें। अब, मान लीजिए आँख पुरुषों के एक समूह पर पड़ती है। दृष्टिपटल से गुज़रने वाली धाराएँ मानसिक तारों

की एक निश्चित संख्या को, जो उनकी आवृत्ति के अनुरूप हैं, कंपन में डाल देंगी। मान लीजिए ये तार दृश्य-खंड A के $A_1$, $A_2$, $A_3$, $A_4$, $A_5$ से An तक हों। स्पष्टतः, अगली बार जब आँख उस समूह के किसी सदस्य पर पड़ेगी, तो यह इन्हीं में से कुछ तारों को कंपन में डाल देगी, और ये, अपनी बारी में, शेष से अनुनाद उभारने की प्रवृत्ति रखेंगे जो, उस समूह के प्रत्यक्ष के समय, जिसका बाद में देखा गया व्यक्ति सदस्य था, एक समग्र के रूप में उनके साथ कंपित हुए थे। अतः, हम यह प्रतिपादित कर सकते हैं कि साम्य का साहचर्य अनुक्रिया की समानता अथवा साम्य से उत्पन्न होता है, जबकि सामीप्य का साहचर्य उस संबंध पर निर्भर करता है जो एक साथ कंपित होने से उत्पन्न होता है। जैसा बर्गसाँ कहते हैं, साहचर्य प्राथमिक तथ्य नहीं है; वियोजन ही वह है जिससे हम आरंभ करते हैं, और प्रत्येक स्मृति की स्वयं में अन्यों को समेट लेने की प्रवृत्ति को मन की प्रत्यक्ष की अखंड एकता की ओर स्वाभाविक वापसी द्वारा व्याख्यायित किया जाना चाहिए (मैटर एंड मेमोरी)। प्रत्येक बार जब कोई अपनी आँखें खोलता है, वे दृश्य जगत के सम्पूर्ण कोएक दृष्टि में यांत्रिक रूप से अपने समक्ष का सम्पूर्ण दृश्य समेट लेती हैं; और इस विषम पुंज, अथवा प्रत्यक्ष की एकता, में से व्यष्टियों को तराशना ध्यान के लिए आरक्षित है।

अतः, सामीप्य आरंभ में ही दिया हुआ है; यह अन्य सामीप्य-स्थित व्यष्टियों से किसी 'व्यष्टि' के ध्यानपूर्ण वियोजन द्वारा धुंधला हो जाता है, ताकि किसी को केवल ध्यान के तनाव को शिथिल करना हो सम्पूर्ण चित्र को विकसित करने के लिए।

निम्नलिखित रेखाचित्र, जो बर्गसाँ की 'मैटर एंड मेमोरी' से लिया गया है, और हमारी आवश्यकताओं के अनुकूल रूपांतरित किया गया है, सामीप्य द्वारा साहचर्य की क्रियाविधि को समझने के लिए लाभप्रद ढंग से अध्ययन किया जा सकता है:

S संवेदी-प्रेरक क्रियाशीलता का बिंदु है, जो ब्रह्मांड में, P से F तक, अर्थात् विगत से भविष्य तक, निरंतर यात्रा करता है, जिसे रेखाचित्र में समतल U द्वारा दर्शाया गया है। शंकु ASB स्मृति की सम्पूर्ण क्षमता का प्रतिनिधित्व करता है जो S पर, संवेदी-प्रेरक क्रियाशीलता के बिंदु पर, अतः ध्यान के बिंदु पर, अपने 'अभिलेख' भरती है। शंकु के शीर्ष S और आधार AB के बीच, तब, उन समस्त रूपांतरणों के लिए स्थान है जो स्मरण की संकाय बाह्य जगत से निरंतर प्राप्त करती है। इस स्थान में, परत-दर-परत, समस्त वे छापें व्यवस्थित हैं जिन्हें आत्मा विगत से अपने साथ लाई है, प्रत्येक परत अथवा अभिलेख एक ही समय में बनी सम्पूर्ण छापों से मिलकर बनी है। A' B'

और A" B" ऐसे ही दो अभिलेख हैं। अब, मान लीजिए S पर क्रियाशीलता समतल U पर अवरुद्ध हो जाती है, और ध्यान, क्रिया के क्षेत्र से हटकर, भीतर की ओर, स्मृति के क्षेत्र में, किसी विगत अनुभव की खोज में यात्रा करता है। तब उसे इन विगत छापों की परतों के बीच आगे-पीछे यात्रा करनी होगी, जब तक वह अपेक्षित स्मृति प्राप्त न कर ले। यदि, हालाँकि, विगत की छायाओं के इस पीछा में उसका मार्गदर्शन करने के लिए कुछ न होता, तो उसका श्रम विशाल होता, और प्रायः व्यर्थ; परन्तु, सौभाग्यवश, साम्य का सिद्धांत तत्काल उसकी सहायता को आता है, और, पहले से बताए गए ढंग से, उसे स्मृति के क्षेत्र में अगणित अभिलेखों में से किसी एक में एक समान छाप शीघ्रता से हस्तगत करने में सक्षम बनाता है। साम्य द्वारा परत निश्चित हो जाने पर, ध्यान अब स्मृति की 'शंक्वाकार मीनार' के शीर्ष और आधार के बीच ऊपर-नीचे नहीं भटकता, बल्कि साम्य द्वारा पहुँची गई उस मंज़िल की खोज में व्यस्त हो जाता है। अब, चूँकि वे समस्त छापें जो एक ही प्रत्यक्ष-कृत्य में एक साथ प्रस्तुत हुई थीं, स्थान में सामीप्य के कारण इसी विशेष मंज़िल में संग्रहीत हैं, वे सभी ध्यान के खोज-प्रकाश के अंतर्गत आती हैं, अपेक्षित 'बिंब' प्रदान करते हुए। इसी ढंग से स्मरण की प्रक्रिया मन में, सचेत अथवा अचेत रूप से, चलती है। पुनर्प्राप्त छाप अहं की एक अनुभूति है, प्रत्यक्ष की भाँति, और इसी कारण इसे स्मरण कहा जाता है। जहाँ तक स्मरण की संकाय के कार्य का प्रश्न है, नियम यह है कि यह क्रिया द्वारा अवरुद्ध होती है, क्योंकि क्रियाशीलता केवल जिया गया स्मृति है, और आप या तो अपनी स्मृति को जी सकते हैं अथवा उसे बिंबों के रूप में अपने समक्ष रख सकते हैं, दोनों नहीं। परन्तु जब कभी मन की क्रिया दो अथवा अधिक विकल्पों के बीच डगमगाती है, तो जो ज्ञान अभिनीत किया गया होता, वह, केवल चिंतन की परिस्थिति से, उसी क्षण निरूपणों में ठोस हो जाता है। स्मृति इस प्रकार क्रियाशीलता के तनाव के शिथिल होने से अपनी विषयवस्तु प्रदर्शित करने के लिए मुक्त हो जाती है, और धारा के स्वयं पर मुड़ने से उत्पन्न होती है, जिससे प्रतिबिंबित भाग आलोकित हो जाता है, और, मानो, जीवन की झुकावों और प्रवृत्तियों की धारा के अनालोकित भाग की पृष्ठभूमि में उभर आता है। जितना अधिक ध्यान क्रिया से विरत होता है, उतना ही अधिक चिंतन होगा, और उतनी ही समृद्ध स्मृति। अतः चिंतन और क्रिया विपरीत दिशाओं में स्थित हैं, और एक-दूसरे को अवरुद्ध करते हैं। दूसरे शब्दों में, तनाव का शिथिलन क्रियाशीलता की धारा की विषयवस्तु को स्मृतियों में फैलाता है, और क्रिया का सम्पादन स्मरणों को प्रेरक प्रवृत्तियों में तरलीकृत करता है। भौतिक

जीवन की अनिवार्यताएँ, हालाँकि, मनुष्य को विरले ही अपने ध्यान को वर्तमान से इतनी पूर्णता से विरत करने देती हैं कि वह अपने सम्पूर्ण विगत को अपने समक्ष फैला सके; अतः, जो संसार में गहराई से लीन है, उसके लिए उस स्तर का शिथिलन प्राप्त करना लगभग असंभव है जो उसे पूर्ण ज्ञान प्रदान करे। परन्तु, जब कभी और जहाँ कहीं भी कोई गुरु संसार की ओर से पूर्णतः पीठ फेरकर स्व-चिंतन में लीन हो गया है, स्मृति ने उससे कभी कोई रहस्य नहीं छिपाया है। शास्त्रों में यह कथन कि किसी के समस्त पूर्व-जन्मों का ज्ञान आत्मा में संचित है, इस प्रकार शाब्दिक रूप में सत्य है। मनुष्य अपनी स्मृति में समाधिस्थ ज्ञान के विशाल भंडार से अनभिज्ञ है, अपनी आत्मा की इंद्रिय-प्रवृत्तियों के कारण, जो निम्न मन में संक्षेपित हैं, जो, एक पेंसिल की नोक की भाँति पतली और तीक्ष्ण होकर, उसे सांसारिक वासनाओं की खोज में नाक पकड़कर घुमाती है। परन्तु ऋषियों ने संसार की ओर से दृढ़तापूर्वक पीठ फेर ली, और अपने पूर्व अवतारों, अर्थात् जीवनों, की स्मृति प्राप्त कर ली।

एक प्रबुद्ध संत की विशाल स्मृति और हमारी उसी नाम की त्रुटिपूर्ण संकाय के बीच का अंतर इस तथ्य में निहित है कि हममें यह एक अवचेतन अवस्था में बनी रहती है, हमारी इंद्रियों की दासता से ध्यान को मुक्त करने में हमारी असमर्थता के कारण। प्रायोगिक सम्मोहन ने, हालाँकि, यह तथ्य उजागर किया है कि हमारी लड़खड़ाती स्मृति भी अद्भुत करतब सम्पन्न करने में सक्षम है, जब कभी ध्यान को किसी के सांसारिक सरोकारों से विरत कर अचेतन की गहराइयों में, जिसे व्यक्तिगत मन भी कहा जाता है, गोता लगाने दिया जाता है।

यहाँ तक कि भविष्य का ज्ञान भी उस सत्ता के लिए संभव है जो अपने ध्यान को देह से हटा लेता है। यह ज्ञात है कि मुनियों ने न केवल मनुष्यों के पूर्व-जीवनों को प्रत्यक्षित किया, बल्कि उनके भावी अवतारों को भी।

इस प्रकार के ज्ञान को घेरती प्रतीत होने वाली कठिनाइयाँ उसी क्षण लुप्त हो जाती हैं जब हम इस तथ्य को पहचान लेते हैं कि स्वभाव अथवा चरित्र के समस्त परिवर्तन, जो भावी जन्मों का एकमात्र कारण हैं, आत्मा के द्रव्य के रूपांतरणों के रूप में संचित हैं, ताकि यदि किसी की दृष्टि पदार्थ के पर्दों को भेदकर इन परिवर्तनों को प्रत्यक्षित करने के लिए पर्याप्त तीक्ष्ण हो, तो वह बिना किसी कठिनाई के पुनर्जन्म के बीजों की प्रकृति खोज सकता है। इसके अतिरिक्त, चूँकि निर्वाण केवल आत्मा की अपने ही स्वभाव में, अर्थात् सत्व की पवित्रता में, प्रतिष्ठा है, और चूँकि चरित्र,

पुनर्जन्म के बीज, को रूपांतरित करने वाला प्रत्येक कर्म अपने विशिष्ट चिह्न पीछे छोड़ता है, अतः भावी पुनर्जन्मों की सम्पूर्ण परिधि आत्मा की कर्म-बही में पठनीय होनी चाहिए। यह व्याख्या विगत के संबंध में भी उतनी ही सत्य है, जो, जैसा पहले ही कहा जा चुका है, इसी प्रकार चरित्र के रूपांतरणों के रूप में संरक्षित है। अतः, जो व्यक्ति उस बल-रेखाओं के परिवर्तनों को, जो किसी व्यक्ति को उसके विगत से जोड़ती हैं, प्रत्यक्षित करने के लिए पर्याप्त तीक्ष्ण और भेदक दिव्यदृष्टि विकसित करता है, वह आत्मा के पूर्व अवतारों को सहज ही इंगित कर सकता है।

हमने कहा है कि जीवन की प्रवृत्तियों की धारा, भौतिक परिवेश की अनिवार्यताओं और उसमें अहं की क्रिया के कारण, एक ऐसे बिंदु तक पतली और तीक्ष्ण हो जाती है जो निरंतर भविष्य के विरुद्ध दबाव डालता है, और जिससे देह में सभी दिशाओं में प्रेरक आवेग विकीर्ण होते हैं, इसे संसार में आसपास के पिंडों पर क्रिया करने में सक्षम बनाते हुए। परन्तु मान लीजिए यह विकिरण अवरुद्ध हो जाता है। इस अवरोध का परिणाम बहिर्गामी ऊर्जा का रुकना और बिंदु का परिणामी विस्तार होगा। यदि प्रक्रिया यहीं रुक जाए, तो आत्मा को केवल पूर्णता और विस्तार की अनुभूति होगी; न कोई क्रिया होगी न चिंतन। परन्तु यदि संचित बल को बाहर निकलने दिया जाए, तो शारीरिक क्रिया अनिवार्यतः उसके निर्वहन का अनुसरण करेगी; और यदि इसे वापस स्वयं पर परावर्तित किया जाए, तो ध्यान और भीतर की ओर यात्रा करेगा और चिंतन के कृत्य से ही बने त्रिभुज पर फैल जाएगा। यह त्रिभुज, जिसका शीर्ष संवेदी-प्रेरक बिंदु है और जिसका आधार धारा के आर-पार खींची गई एक काल्पनिक रेखा है जो चिंतन की सीमा को चिह्नित करती है, विचार का रूप है, जिसके माध्यम से, स्मृति और स्मरण के रूप में, वह विगत अनुभव अवक्षेपित होता है जो तरल गत्यात्मक धारा में संचित हुआ था। यह प्रक्रिया प्रकाश की किरण के स्पेक्ट्रम के रंगों में टूटने के समान है, परन्तु यह स्वचालित नहीं है। यह इच्छा पर निर्भर करती है, क्योंकि जब अहं की क्रियाशीलता के लिए दो अथवा अधिक दिशाएँ खुली हों, और वह उनमें से एक को चुने, तो चयन का तत्व स्वचालिता और संयोग की परिकल्पना का खंडन करने के लिए वहाँ है। बुद्धि, चिंतन और विश्लेषण की संकाय, इस प्रकार 'भेदों' की रचना के साथ ही उदित होती है। परन्तु यह एक उत्पत्ति, अथवा रचना, तभी है जब हम क्रिया के दृष्टिकोण से आरंभ करें। त्रिभुज,* भेद,

*गूढ़विद्या का बिंदु और त्रिभुज इससे अधिक कुछ अर्थ नहीं रख सकते। प्रथम लोगोस इच्छा है, चेतना की ऊर्जा, जीवन की अनवरत क्रियाशीलता में संलग्न मानी गई, और तदनुसार, एक वृत्त में एक बिंदु द्वारा प्रतीकित है। यह बिंदु अगली बार विस्तारित होते हुए परिकल्पित किया जाता है, परन्तु इस प्रकार नहीं कि धारा को स्वयं पर परावर्तित करे। यह उस अनुभूति की अवस्था को*

*द्योतित करता है जो चेतना का प्राथमिक कार्य है, और एक वृत्त में एक व्यास द्वारा दर्शाया जाता है। तीसरा चरण चिंतन के कृत्य से गठित होता है, जिसके परिणामस्वरूप धारा का उलटाव होता है, और इसे क्रॉस, अथवा यूनानी टाऊ, अर्थात् अक्षर T, द्वारा दर्शाया जाता है। कभी-कभी क्रॉस को एक चतुष्फलक से प्रतिस्थापित किया जाता है, जिसमें चार समान और समबाहु त्रिभुजों की आकृति होती है। एक क्रॉस के चारों ओर लिपटे सर्प का प्राचीन प्रतीकवाद आध्यात्मिक ऊर्जा के इन्हीं तीन संचलनों को अभिव्यक्त करने का एक अन्य ढंग है। सर्प ऊर्ध्वगामी धारा के लिए खड़ा है, आत्म-सचेत इच्छा की ऊर्जा; क्रॉस का आड़ा भाग वृत्त में व्यास के विचार का प्रतिनिधित्व करता है, जैसा ऊपर दर्शाया गया, और ऊर्ध्वाधर छड़ धारा के स्वयं पर वापस फेंके जाने की ओर इंगित करती है। यह प्रतीक इस प्रकार ब्रह्मांड की उत्पत्ति की पूर्ण व्याख्या, स्वप्न के सादृश्य पर, प्रदान करने के लिए रचा गया है, और चेतना के तीन कार्यों की ओर भी संकेत करता है, अर्थात्, अनुभूति, इच्छा और चिंतन।*

और उसका प्रत्यक्षकर्ता भी, ये सभी धारा में पहले से ही विद्यमान थे, केवल सुप्त, अर्थात् अव्यक्त, अवस्था में; उन्हें केवल तात्कालिक क्रिया से ध्यान के हट जाने की आवश्यकता थी ताकि वे चेतना के क्षेत्र में आ सकें।

हमें जीवन की प्रवृत्तियों की धारा की प्रकृति पर थोड़ा और अधिक ठहरना होगा ताकि हम उस मनोविज्ञान को समझ सकें जिसे निम्न मन कहा जाता है। स्पष्टतः, ये प्रवृत्तियाँ, विभिन्न व्यक्तियों में भिन्न होने के कारण, सभी को आत्मा के लिए स्वाभाविक नहीं माना जा सकता। इसका अर्थ है कि वे शुद्ध आत्मा के स्वाभाविक आवेग, आवेश अथवा अनुभूति के रूपांतरण हैं। परन्तु, चूँकि आवेगों को बल के अतिरिक्त किसी वस्तु द्वारा रूपांतरित नहीं किया जा सकता, और चूँकि बल किसी न किसी प्रकार के पदार्थ से पृथक अकल्पनीय है, अतः जीवन की प्रवृत्तियाँ आत्मा और पदार्थ के संमिश्रण का प्रभाव होनी चाहिए, क्योंकि आत्माओं के साथ संयुक्त होने के लिए कोई अन्य द्रव्य नहीं है। इसका तात्पर्य यह कहने के समान है कि इच्छा, स्मृति और चिंतन, सांत मन के तीन सर्वाधिक महत्वपूर्ण लक्षण, आत्मा और पदार्थ के मिलन का उत्पाद हैं।

जहाँ तक चिंतन की संकाय का प्रश्न है, यह केवल वहीं संभव है जहाँ बहिर्गामी धारा को स्वयं पर वापस फेंकने की संवेदनशीलता हो; अतः, जहाँ अनियंत्रित वासनाएँ अथवा इंद्रियासक्ति अस्तित्व की प्रमुख विशेषता हैं, वहाँ तर्कशक्ति, चिंतन की संकाय, अपनी अनुपस्थिति के लिए विशिष्ट होनी चाहिए। तदनुसार, जीवन के समस्त निम्न रूप, जो अपने जागृत क्षणों में निरंतर क्रिया और संवेदना में लीन रहते हैं, अतर्क सत्ताएँ हैं, यद्यपि उनकी आत्माएँ अपने स्वाभाविक गुणों के संबंध में शुद्ध आत्मा के सर्वाधिक पूर्ण नमूनों से किसी भी प्रकार निम्न नहीं हैं। उनके मामले में प्रवृत्तियों की धारा भौतिक अशुद्धियों से इतनी लदी हुई है कि इसे स्वयं पर परावर्तित नहीं किया

जा सकता। जैसे-जैसे हम सत्ता के क्रम में ऊपर उठते हैं, कुछ पंचेंद्रिय पशुओं—बंदर, घोड़े, हाथी, और इसी प्रकार के अन्य—में किसी न किसी प्रकार की कच्ची और अपूर्ण चिंतनशीलता स्पष्ट होने लगती है, यह दर्शाते हुए कि उनकी आत्माओं द्वारा वहन किए जाने वाले अशुद्धियों के बोझ में पर्याप्त कमी आई है, यद्यपि इतनी नहीं कि तर्कशक्ति को पूर्ण खेल मिल सके। पशु-जगत में जीवन के ये दो मुख्य प्रकार हैं; इनसे परे, एक तीसरा, निम्नतम—धातुएँ, वनस्पतियाँ, और इसी प्रकार के अन्य—है, जिनकी विशेषता जीवन का विशुद्ध वनस्पतीय कार्य मात्र है। उनमें केवल स्पर्श की इंद्रिय है, और वे अपना सम्पूर्ण जीवन एक यांत्रिक ढंग से बिताते हैं, मानो भारी नशे में हों। उनमें न स्मृति है, न चिंतन, न ही सहज-प्रवृत्तिगत चेतना।

जैन धर्म के अनुसार, सजीव या तो सैनी (मन, अर्थात् चिंतन अथवा विचार के अंग वाले) हैं अथवा असैनी (अ = नहीं + सैनी, अतः मनरहित)। सैनी विवेचन की शक्ति का आनंद उठाते हैं, और यदि सिखाया जाए तो सीखने में सक्षम हैं; वे पुकारे जाने पर उत्तर देते हैं, और उन्हें प्रशिक्षित भी किया जा सकता है।

मन का अंग (द्रव्य मन) सूक्ष्म पदार्थ का एक पिंड है जो चिंतन अथवा विचार का साधन है। जैसा पहले ही कहा जा चुका है, प्रत्येक सजीव इससे संपन्न नहीं है, असैनी में न सच्ची इच्छाशक्ति है, न निर्णय, बल्कि केवल संवेदना की शक्ति और बाह्य उद्दीपन के प्रति सहज-प्रवृत्तिक अथवा यांत्रिक ढंग से प्रतिक्रिया करने की शक्ति है। समस्त सजीव पदार्थ, यह देखा जाएगा, उत्तेजनीय और संकुचनशील है, और बाह्य उत्तेजना के प्रति यांत्रिक, सहज-प्रवृत्तिक ढंग से प्रतिक्रिया करने में सक्षम है। सरलतम सजीव इसी विवरण के हैं; जैसे-जैसे हम कार्बनिक जीवन में ऊपर उठते हैं, श्रम-विभाजन विद्यमान पाया जाता है; स्नायु-कोशिकाएँ विविधीकृत और एक व्यवस्थित ढंग से समूहबद्ध प्रकट होती हैं। बर्गसाँ टिप्पणी करते हैं:—

> "जब कोई बाह्य वस्तु अमीबा के किसी प्रवर्ध को स्पर्श करती है, तो वह प्रवर्ध सिकुड़ जाता है; जीवद्रव्य-पुंज का प्रत्येक भाग समान रूप से उत्तेजना ग्रहण करने और उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया देने में सक्षम है, प्रत्यक्ष और गति यहाँ एक ही गुण, संकुचनशीलता, में समाहित होकर। परन्तु, जैसे-जैसे सजीव अधिक जटिल होता जाता है, श्रम-विभाजन होता है; कार्य विभेदित हो जाते हैं, और इस प्रकार निर्धारित शारीरिक-रचनात्मक तत्व अपनी स्वतंत्रता त्याग देते हैं। हमारे अपने जैसे किसी सजीव में, संवेदी कहलाने वाले स्नायु-तंतु विशेष रूप से उत्तेजना को एक केंद्रीय क्षेत्र तक प्रसारित करने का अधिकार रखते हैं जहाँ से कंपन प्रेरक

> तत्वों तक पहुँचाया जाएगा। तब ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने व्यक्तिगत क्रिया त्याग दी है ताकि सम्पूर्ण देह के संचालन में, चौकियों के रूप में, अपना हिस्सा ले सकें। परन्तु फिर भी वे, अकेले-अकेले, विनाश के उन्हीं कारणों के प्रति उजागर रहते हैं जो सम्पूर्ण सजीव के लिए खतरा हैं; और जबकि यह सजीव गति करने में, और इस प्रकार किसी खतरे से बचने अथवा किसी हानि की भरपाई करने में सक्षम है, संवेदनशील तत्व उस सापेक्ष अचलता को बनाए रखता है जिसकी निंदा श्रम-विभाजन उसे देता है" (मैटर एंड मेमोरी)।

द्रव्य मन अत्यंत सूक्ष्म द्रव्य से बना है, और स्नायु-द्रव्य तथा स्नायु-कोशिकाओं के कार्य के विशेषीकरण की सीमा को चिह्नित करता है। यह अपने आप में सचेत नहीं है, क्योंकि चेतना उस पदार्थ की नहीं है जिससे यह बना है। वस्तुतः, यह मन, एक ढंग से, ज्ञान की सीमा निर्धारण का साधन है, क्योंकि यह चेतना के क्षेत्र को उस तक सीमित कर देता है जो काल के किसी विशेष क्षण में वस्तुतः ध्यान का विषय है।

बिंदु को स्पष्ट करने के लिए, पूर्ण और अखंडित सर्वज्ञता प्रत्येक आत्मा का स्वभाव है; परन्तु यह उन आत्माओं के मामले में, जो अभी भी संसरण में संलग्न हैं, केवल सामर्थ्य में ही ऐसा है; क्योंकि उनके मामले में आत्मा की पवित्रता, पदार्थ के संपर्क से, न्यूनाधिक रूप से दूषित है, कोई भी संसरणशील आत्मा ऐसी नहीं है जिसे इस प्रदूषण से पूर्णतः मुक्त कहा जा सके। ठीक जैसे हाइड्रोजन और ऑक्सीजन का घनिष्ठ संयोग उन गैसों को उनकी वायवीय स्वतंत्रता से वंचित कर देता है, मानो, उसे तरलों की मात्र तरलता तक घटाकर, उसी प्रकार आत्मा और पदार्थ का संमिश्रण आत्मा की सर्वज्ञ संकाय की हानि और सीमा के लिए उत्तरदायी है। जहाँ पदार्थ के साथ संगति निकृष्टतम प्रकार की है, जैसे जीवन के निम्नतम रूपों—धातुओं और वनस्पतियों—के मामले में, ज्ञान स्पर्श की मात्र संवेदनाओं और बाह्य उद्दीपन के प्रति यांत्रिक प्रतिक्रिया तक घट जाता है। कम अभागे मामलों में, अन्य इंद्रिय-अंग भी प्रकट होते हैं, परन्तु विवेचन, अर्थात्, चिंतन और स्मृति (सिवाय उसके जिसे आदत-स्मृति कहा जाता है), प्रकट नहीं होते, जब तक आत्मा चिंतन का केंद्रीय अंग और पशु-वासनाओं तथा इच्छाओं की प्रचंड धारा के अंधाधुंध वेग को रोकने की शक्ति अर्जित न कर ले। चिंतन का अंग स्नायु-तंत्र के केंद्रीय टेलीफोन-विनिमय-केंद्र के समान है जहाँ समस्त स्नायु—संवेदी और प्रेरक दोनों—अपने अंतिम सिरे रखते हैं। कार्यालय-प्रभारी लिपिक आत्मा है, वह आत्म-सचेत बल, जिसकी आत्म-चेतना सीधे उसकी प्रवृत्तियों, इच्छाओं

और वासनाओं की प्रकृति पर निर्भर करती है और उनसे प्रभावित होती है। ये इच्छाएँ और प्रवृत्तियाँ सभी शक्तिशाली बल हैं जो पदार्थ के साथ आत्मा के संयोग के गुण से उसके संविधान में उत्पन्न होते हैं। वे मानसिक धारा को कूड़े से अवरुद्ध करते हैं, और चिंतन को रोकते हैं। इस प्रवृत्ति-धारा का बिंदु, सर्प मनस् का सिर, ध्यान है, जो आगत संवेदी उद्दीपन की गुणवत्ता की परीक्षा उसके कंपनकारी आवेग के प्रति स्वयं को उघाड़कर करता है, और जो अपने भीतरी सिरे पर ऊर्जा की वृद्धि द्वारा किसी प्रेरक स्नायु को गति में डाल देता है।

ध्यान का प्रयोग ही, बाह्य विषय को मानसिक धारा के बिंदु से जोड़ना, वह द्विविध कारण है जो किसी वस्तु के विस्तृत ज्ञान का, साथ ही उस समय वस्तुतः कार्यरत इंद्रिय के अतिरिक्त अन्य समस्त इंद्रियों के लिए द्वार बंद करने का, कारण है।

जहाँ बुद्धि अपना आलोकित तेज नहीं बिखेर रही, वहाँ जीवन के कृत्यों पर पहरा देने वाली चेतना की मात्रा, समय-समय पर, संवेदी-प्रेरक बिंदु पर, आगत उद्दीपन के साथ घर्षण अथवा क्रिया के प्रति प्रतिरोध के परिणामस्वरूप, निकलने वाली चिंगारियों से मिलकर बनी है। परन्तु चिंतन से उत्पन्न दीप्ति बौद्धिक आलोक है जिससे तर्कशक्ति आत्मा के भीतरी संबंधों का बाह्य के साथ समायोजन करती है।

मन का नियंत्रण मस्तिष्क के माध्यम से किया जाता है, जो इसके और स्नायु-तंत्र के बीच अंतर्स्थापित है। परिधि से आने वाले अभिकेंद्री आवेग मस्तिष्क से होकर गुज़रते हैं, ठीक जैसे इच्छा से उत्पन्न होने वाले प्रेरक आवेग इसके माध्यम से क्रियाशीलता के वांछित मार्ग तक अपना रास्ता खोजते हैं। यह इसलिए है क्योंकि मस्तिष्क, एक लूप के रूप में, संवेदी और प्रेरक दोनों तंत्रों के ऊपर अध्यारोपित है, जिनके माध्यम से अहं भौतिक जगत के संपर्क में आता है। बर्गसाँ मस्तिष्क के कार्य का वर्णन इस प्रकार करते हैं:—

> "हमारी राय में मस्तिष्क एक प्रकार के केंद्रीय टेलीफोन-विनिमय-केंद्र के अतिरिक्त कुछ नहीं है; इसका कार्यालय संचार की अनुमति देना है, अथवा उसमें विलंब करना। यह जो प्राप्त करता है उसमें कुछ नहीं जोड़ता; परन्तु, चूँकि प्रत्यक्ष के समस्त अंग इसे अपने अंतिम प्रवर्ध भेजते हैं, और चूँकि मेरुरज्जु तथा मेडुला ऑब्लांगेटा की समस्त प्रेरक क्रियाविधियों के इसमें उनके प्रत्यायित प्रतिनिधि होते हैं, यह वास्तव में एक केंद्र गठित करता है, जहाँ परिधीय उत्तेजना किसी न किसी प्रेरक क्रियाविधि के साथ संबंध में आती है, चुनी हुई और अब निर्धारित नहीं।" —मैटर एंड मेमोरी, पृ. १९-२०

मस्तिष्क, हालाँकि, चुनने वाला नहीं है, क्योंकि चयन अहं का है, और इसलिए भी कि मस्तिष्क उस पदार्थ से बना है जो स्वभावतः अचेतन है। जो अहं को मस्तिष्क से जोड़ता है वह मन का केंद्रीय अंग है, जो इतने सूक्ष्म द्रव्य से बना है कि यह दिव्यदृष्टि के अतिरिक्त अदृश्य है। इस केंद्रीय अंग (द्रव्य मन) की जिस द्रव्य से रचना हुई है उसकी प्रकृति इस तथ्य से स्पष्ट है कि यह एक सिरे पर मस्तिष्क के सूक्ष्मतम स्नायु-तंतुओं के, और दूसरे सिरे पर इच्छा के सूक्ष्म और अत्यंत सूक्ष्म द्रव्य के, जो इंद्रिय-प्रत्यक्ष की पहुँच से पूर्णतः परे है, संपर्क में है। द्रव्य मन मनस् से भिन्न है, जो व्यक्तिगत इच्छा का ही एक अन्य नाम है जो वासना के रूप में प्रकट होती है; क्योंकि जहाँ भौतिक मन केवल विवेचन, प्रशिक्षण, स्वेच्छिक गति और बुद्धिमान वाणी के लिए अहं के हाथ में एक उपकरण है, वहाँ वासना करने वाला मनस् अहं की ही गत्यात्मक ऊर्जा का, किसी विशेष ढंग अथवा ढंगों में झुका हुआ, प्रतिनिधित्व करता है। दूसरे शब्दों में, मनस् में जीवन की वह ऊर्जा निहित है जो इच्छा के चार सामान्य रूपों, अर्थात्, आहार (भोजन), भय, मैथुन (यौन-भोग) और परिग्रह (सांसारिक वस्तुओं के प्रति आसक्ति), के संबंध में तृप्ति की खोज में झुकी हुई है, और चार प्रकार की वासनाओं—क्रोध, मान, माया और लोभ—द्वारा जमा की गई अशुद्धियों से लदी हुई है, जो इच्छा से उत्पन्न होती हैं और उसी में जड़ी हुई हैं। द्रव्य मन, दूसरी ओर, वासनाओं की विशेषता नहीं रखता। यह, स्विचों की एक प्रणाली की भाँति, अहं और बाह्य जगत के बीच के यातायात को नियंत्रित करने के लिए अभिप्रेत है, और विभिन्न प्रकार की गतियों को प्रसारित करके अपना कार्य निर्वहन करता है। परन्तु यह गति का उद्गम नहीं है, क्योंकि यह इच्छा का कार्य है। और इन गतियों को उत्पन्न करने में इच्छा का कार्य अत्यंत सरल विवरण का है: इसे केवल किसी विचार पर टिकना है ताकि किसी भी वांछित ढंग में गति उत्पन्न हो सके। जैसा विलियम जेम्स इंगित करते हैं, प्रत्येक विचार अंततः या तो एक गति उत्पन्न करने की, अथवा किसी ऐसी गति को रोकने की, जो अन्यथा उत्पन्न होती, प्रवृत्ति रखता है। परन्तु स्वयं में एक विचार क्या है? क्या यह किसी संवेदना का, विशुद्ध और सरल, मानसिक प्रतिरूप नहीं है? विलियम जेम्स हमें बताते हैं:—

> "निम्नतर केंद्र केवल वर्तमान संवेदनाओं से क्रिया करते हैं; गोलार्ध प्रत्यक्षों और विवेचनाओं से क्रिया करते हैं, जिन संवेदनाओं को वे प्राप्त करते हैं वे केवल इनके सूचक के रूप में सेवा करती हैं। परन्तु प्रत्यक्ष क्या हैं यदि एक साथ समूहबद्ध संवेदनाएँ नहीं? और विवेचनाएँ क्या हैं यदि कल्पना में, उन संवेदनाओं की प्रत्याशाएँ नहीं जो एक अथवा दूसरे ढंग से अनुभूत

होंगी, यह इस पर निर्भर करते हुए कि क्रिया इस मार्ग को अपनाती है अथवा उसे? यदि मैं किसी खड़खड़ाते साँप को देखकर एक ओर हट जाता हूँ, यह विचार करते हुए कि वह कितना खतरनाक प्राणी है, तो जो मानसिक सामग्री मेरे सावधानी-भरे चिंतन का गठन करती है वह उसके सिर की गति, मेरे पैर में अचानक दर्द, आतंक की एक अवस्था, अंग की सूजन, कँपकँपी, बड़बड़ाहट, बेहोशी, इत्यादि, इत्यादि, तथा मेरी आशाओं के विनाश की, न्यूनाधिक जीवंत, कल्पनाएँ हैं। परन्तु ये समस्त कल्पनाएँ मेरे विगत अनुभवों से निर्मित हैं। वे उसका पुनरुत्पादन हैं जो मैंने अनुभूत अथवा देखा है। वे, संक्षेप में, दूरस्थ संवेदनाएँ हैं, और गोलार्ध-रहित प्राणी तथा सम्पूर्ण प्राणी के बीच का अंतर संक्षेप में यह कहकर व्यक्त किया जा सकता है कि एक अनुपस्थित वस्तुओं के आगे झुकता है, दूसरा केवल उपस्थित वस्तुओं के।"

विवेचन की यही प्रक्रिया है: विगत के स्मरण जगाए और भिन्न-भिन्न ढंगों में पुनःसमूहित किए जाते हैं जब तक कल्पना की स्वीकृति प्राप्त नहीं हो जाती; और ये पुनःसमूहन ही उसका गठन करते हैं जिसे विचार-प्रवाह कहा जाता है। इस प्रकार मन के केंद्रीय अंग का कार्य सरल गतियों के माध्यम से निर्वहन होता है। द्रव्य मन एक प्रकार का संचालन-पटल है जो एक सिरे पर मस्तिष्क से, स्नायुओं की उत्तोलक-छड़ों के माध्यम से, जुड़ा है। इसका संचालक भी दूसरे सिरे पर इससे जुड़ा है, और जीवनभर इससे टूट नहीं सकता। यही गति की उत्तोलक-छड़ों और अहं के बीच का यह अविच्छेद्य संबंध है जिसके कारण इच्छा का प्रत्येक तात्कालिक कृत्य भी देह का एक तात्कालिक कृत्य है, सिवाय तब जब गति को मस्तिष्क द्वारा क्षीण होने दिया जाता है। मामलों की इस उत्तरार्ध श्रेणी में, गति मस्तिष्क के कुछ भागों तक संप्रेषित होती है जहाँ यह केवल अंकुरित अथवा सामर्थ्यगत गतियों को उभारती है, और संभवतः अंततः उस अंग के आसपास के सीरमी द्रव द्वारा अवशोषित हो जाती है। यही कारण है कि विवेचनाएँ कोई शारीरिक गति उत्पन्न नहीं करतीं, यद्यपि इच्छा का प्रत्येक यथार्थ कृत्य देह का भी एक तात्कालिक कृत्य है, जैसा पहले ही कहा जा चुका है।

गति की उत्पत्ति के विषय में, चिंतन इसे इच्छा की ओर से एक विशुद्ध यांत्रिक प्रक्रिया का परिणाम प्रकट करता है। अहं अपनी संवेदनाओं, प्रत्यक्षों और विवेचनाओं से प्रभावित होता है और परिणामस्वरूप एक क्षोभ की अवस्था में डाल दिया जाता है। इच्छा की ये अनुभूतियाँ अथवा क्षोभ द्रव्य मन में अंतर्निहित स्नायु-सिरों तक संप्रेषित होते हैं, जो देह अथवा मस्तिष्क-कोशिकाओं की

विशिष्ट गतियाँ उत्पन्न करते हैं। जहाँ चयन का तत्व आता है वह उस चुनाव में है जो प्रेरक-आवेग के लिए एक पथ को दूसरे के बजाय खोलता है। परन्तु यह अहं का कार्य है, और उस पदार्थ द्वारा सम्पन्न नहीं किया जा सकता जो निर्णय-शक्ति से संपन्न नहीं है। विवेचन, इसी प्रकार, मस्तिष्क का कार्य नहीं हो सकता, यद्यपि यह चिंतन में संलग्न होने पर अहं की क्रियाशीलता का सम्पूर्ण भार वहन करता है; क्योंकि जो चेतना से रहित है उसकी गति की कितनी भी मात्रा किसी भी कल्पनीय रासायनिक अथवा यांत्रिक प्रक्रिया द्वारा कभी विचार नहीं बन सकती। विचार-प्रवाह वास्तव में अहं की अनुभूतियों अथवा चेतना की अवस्थाओं की एक शृंखला है, जो चिंतन से उत्पन्न होती हैं और आत्मा द्वारा अनुभूत की जाती हैं। यह सत्य है कि कठोर मानसिक श्रम के पश्चात मस्तिष्क में जड़ता की एक संवेदना अनुभूत होती है, परन्तु मस्तिष्क किसी भी दृष्टि से चिंतक नहीं है। वस्तुतः, अपनी कुछ कोशिकाओं की गति के अतिरिक्त, मस्तिष्क विवेचन से संबद्ध नहीं है और चिंतन के केंद्रीय अंग, अथवा अहं, का आसन भी नहीं है, जिसका मुख्यालय निःसंदेह हृदय में स्थित है। यह इस तथ्य से स्पष्ट है कि हृदय, न कि सिर, सीधे किसी की वासनाओं और संवेगों से प्रभावित होता है, जो वृद्धावस्था में मस्तिष्क के अपक्षय और क्षय से पूर्णतः अप्रभावित रहते हैं। इसके अतिरिक्त, चूँकि वासनाएँ और संवेग विवेचन के कार्य के उचित सम्पादन में भी हस्तक्षेप करते हैं, उन्हें स्वयं द्रव्य मन से संबद्ध होना चाहिए, जो, इसी कारण, इच्छा के साथ, अर्थात्, हृदय के क्षेत्र में, उसी स्थान पर स्थित होना चाहिए। जैसा शोपेनहावर कहते हैं, हृदय में मनुष्य है, सिर में नहीं। कठोर मानसिक श्रम के पश्चात मस्तिष्क में अनुभूत जड़ता अथवा भारीपन की अनुभूति की व्याख्या संभवतः इस तथ्य में निहित है कि प्रक्रिया में संलग्न मस्तिष्क के भाग कुछ समय पश्चात गर्म और अतिश्रमित हो जाते हैं। ठीक जैसे अत्यधिक कार्य के परिणामस्वरूप उँगलियों में थकान की अनुभूति उत्पन्न होती है, यद्यपि अहं का मुख्यालय हाथों में स्थित नहीं है, उसी प्रकार मस्तिष्क के कुछ भाग अत्यधिक तनाव में डाले जाने पर थकान के लक्षण दिखाते हैं।

चिंतक स्वयं न होते हुए भी, द्रव्य मन विवेचन के लिए अपरिहार्य है, क्योंकि विचार करने में अंकुरित गतियों अथवा 'संवेदनाओं' की एक शृंखला निहित है जो मस्तिष्क और इसके तथा इच्छा के बीच अंतर्स्थापित केंद्रीय स्नायु-अंग की अनुपस्थिति में संभव नहीं है। इसी कारण जीवन के वे समस्त निम्न रूप, जो मस्तिष्क तथा चयन और नियंत्रण के केंद्रीय अंग से संपन्न नहीं हैं, चिंतन से भी रहित हैं। अपनी क्रियाशीलता को नियंत्रित करने में असमर्थ, वे विवेचन करने में भी असमर्थ

हैं। उनके कृत्य समस्त उनकी सहज-प्रवृत्तियों द्वारा निर्धारित होते हैं; वे वर्तमान में जीते हैं और निर्णय तथा चयन में असमर्थ हैं। विवेचन के लाभ स्पष्ट हैं, और विलियम जेम्स द्वारा अपने 'प्रिंसिपल्स ऑफ साइकोलॉजी' के प्रथम खंड के पृष्ठ २१-२२ पर आने वाले निम्नलिखित अंश में स्पष्ट रूप से उजागर किए गए हैं:—

> "भोजन ग्रहण करने को एक उदाहरण के रूप में लें, और मान लें कि यह निम्नतर केंद्रों का एक प्रतिवर्ती सम्पादन है। पशु किसी भी परिस्थिति में, जब भी प्रस्तुत हो, उस पर झपटने के लिए घातक और अनियंत्रणीय रूप से अभिशप्त होगा; वह इस प्रेरणा की अवज्ञा करने में उतना ही असमर्थ है जितना जल आग जलाए जाने पर उबलने से इनकार करने में। उसका जीवन बार-बार अपनी अति-भोजन-प्रियता का प्रतिफल चुकाएगा। प्रतिशोध के प्रति, अन्य शत्रुओं के प्रति, जालों के प्रति, विषों के प्रति, अतिपूर्णता के खतरों के प्रति, उजागर होना उसके अस्तित्व के नियमित अंग होने चाहिए। खतरे को चारे के आकर्षण के विरुद्ध तौलने के लिए किसी भी विचार का, और थोड़ी देर और भूखा रहने की किसी भी इच्छाशक्ति का, उसका अभाव, मानसिक क्रम में उसकी निम्नता का सीधा मापदंड है। और वे मछलियाँ जो, हमारी कनर और स्कल्पिन की भाँति, काँटे से जल में वापस फेंके जाने के तुरंत बाद ही स्वचालित रूप से पुनः काँटे को पकड़ लेती हैं, यदि उनकी अतिशयोक्तिपूर्ण जननक्षमता उनकी अविवेकशीलता की क्षतिपूर्ति न करती, तो शीघ्र ही अपनी बुद्धि की अवनति की कीमत अपनी प्रजाति के विलोप से चुका देतीं। भूख और उसके द्वारा प्रेरित कृत्य, फलतः, समस्त उच्चतर कशेरुकी प्राणियों में मस्तिष्क के कार्य बन गए हैं।"

भोजन के संबंध में लाभ के विषय में जो सत्य है, वह उन समस्त अन्य कार्यों के संबंध में भी सत्य है जिनके निष्पादन में विवेक एक सद्गुण है। मस्तिष्क और द्रव्य मन से रहित पशु न रुक सकता है, न स्थगित कर सकता है, न विवेचन कर सकता है, न तुलना कर सकता है, न किसी एक प्रेरणा को दूसरे के विरुद्ध सूक्ष्मता से तौल सकता है। परन्तु तर्कशील चिंतन के इन आवश्यक अंगों का अभाव ही उसे इन लाभों से वंचित नहीं करता; इसके विपरीत, उनका अभाव स्वयं उसी के दरवाज़े पर रखा जाना चाहिए। क्योंकि, आधुनिक इसके विपरीत जो भी कहें, यह मस्तिष्क नहीं है जो अहं का निर्माण करता है, बल्कि अहं है जो मस्तिष्क को संगठित करता है, ताकि मस्तिष्क की अनुपस्थिति संगठनकारी अहं अथवा स्वयं इच्छा की प्रवृत्तियों की स्थूलता और निम्नता के लिए उत्तरदायी हो। यह मस्तिष्क अथवा केंद्रीय मनस् नहीं है जो हमें रुकने और

विवेचन करने पर विवश करता है, बल्कि जीवन की उन शुद्धतर सहज-प्रवृत्तियों का बल है जो निःसंदेह किसी पूर्व-जन्म की अवस्था अथवा अवस्थाओं में विकसित हुई थीं। जब उन सहज-प्रवृत्तियों के परिणामस्वरूप देह संगठित हुई, तो मस्तिष्क और केंद्रीय अंग उचित क्रम में विकसित हुए। भौतिक मस्तिष्क निःसंदेह तर्कशील जीवन की क्रियाविधि का एक आवश्यक अंग है, और इसके द्रव्य को क्षति सदैव मन के कार्यों की एक संगत क्षीणता अथवा हानि के साथ होती है, परन्तु यह उस व्यष्टिता से चिह्नित नहीं है जो हमारे मानसिक सत्व का सर्वाधिक अपरिहार्य लक्षण है, और इस कारण, इसे चेतना अथवा आत्मा का आसन नहीं माना जा सकता। यह किसी रेलवे-जंक्शन के शंटिंग-यार्ड के समान है, और मानसिक रोलिंग-स्टॉक की गतियों को नियंत्रित करने में पूर्णतः असमर्थ है। यही अवलोकन द्रव्य मन पर भी लागू होते हैं, जो मस्तिष्क से उसी संबंध में खड़ा है जिस संबंध में शंटिंग-यार्ड में एक सिग्नल-बॉक्स रेलवे-लाइनों से खड़ा है। यह भी अचेतन है, और, इसलिए, इच्छा से उत्पन्न होने वाले मानसिक आवेगों को नियंत्रित करने में असमर्थ है।

भारतीय दर्शनशास्त्र के मनस्, चित्त, बुद्धि और अहंकार, जिनके लिए विभिन्न भाषाओं में उपयुक्त समतुल्य ढूँढ़ना सदैव सरल नहीं होता, मानसिक 'सामग्री' के चार भिन्न पक्ष हैं, मनस् (मनस् के समान) जीवन की प्रवृत्तियों की धारा का बिंदु, अर्थात्, ध्यान, चित्त, मानसिक धारा की शय्या, मानो, बुद्धि, चिंतन की संकाय, जिसे बुद्धि (इंटेलेक्ट) भी कहा जाता है, और अहंकार, 'मैं-पन' की भावना, अर्थात्, केंद्रीय विनिमय-केंद्र का 'प्रभारी लिपिक।' इस सम्पूर्ण धारा में जीवंत, अर्थात् सक्रिय, प्रवृत्तियों के रूप में संरक्षित स्मृति-अभिलेख भरे पड़े हैं, जिन्हें संस्कृत में संस्कार (छापें) कहा जाता है। अब, चूँकि हमारे पास कोई ऐसी छाप भी नहीं हो सकती जो अभौतिक हो, संस्कारों का कोई-न-कोई भौतिक आधार होना चाहिए, अर्थात्, वे किसी न किसी सूक्ष्म पदार्थ से बने होने चाहिए, यद्यपि, जैसा पहले भी कहा गया, वे किसी एल्बम में फोटो के रूप में विद्यमान नहीं हैं, बल्कि जीवन की धारा में एक तरल रूप में, और चिंतन द्वारा स्थिर और ठोस बनने की प्रवृत्ति रखते हैं।

जहाँ तक उनकी रचना का प्रश्न है, प्रत्यक्ष की ओर लौटना आवश्यक है। मनरहित सत्ताओं में, जिनकी चेतना पदार्थ के प्रभाव से अत्यधिक दूषित है, प्रत्यक्ष कभी संज्ञान की गरिमा तक नहीं उठता, और संवेदनाओं की एक अनुभूति तक सीमित रहता है जिसका उत्तर एक स्वचालित ढंग से

दिया जाता है। परन्तु जो केंद्रीय मानसिक सामग्री से संपन्न हैं उनका मामला बहुत भिन्न है। उनके मामले में, हमें सर्वप्रथम जागरूकता की एक अस्पष्ट, विवरण-रहित अनुभूति प्राप्त होती है। इसे दर्शन (विशुद्ध उत्तेजना अथवा अनुभूति) कहा जाता है और, यदि आत्मा ऐसा चाहे, इसके पश्चात अवग्रह आता है, जिसका अर्थ है किसी विषय को केवल उसके वर्ग के संदर्भ में पृथक करना, अर्थात्, उसके सामान्य गुणों का ज्ञान अथवा जागरूकता, उदाहरणार्थ, किसी विषय को मनुष्य के रूप में जानना। तब ईहा आती है, जो जिज्ञासा की एक मनोवृत्ति को द्योतित करती है। आत्मा अब प्रत्यक्ष के विषय के संबंध में विस्तृत जानकारी अर्जित करने के लिए स्वयं को प्रयत्नशील करती है, उद्दीपन पर अपनी स्मृति लागू करती है, और अपने मानसिक अभिकर्मकों की सहायता से उसकी प्रकृति और विषयवस्तु की तुलना और परीक्षा करने में आगे बढ़ती है। यह प्रक्रिया, जो किसी दिए गए विषय में आत्मा की रुचि पर निर्भर है, तब तक विस्तारित की जा सकती है जब तक अन्वेषण को जारी रखना वांछनीय हो। इस अवस्था (ईहा) के विषय में जानने योग्य महत्वपूर्ण बात यह है कि यहाँ प्रत्यक्ष यांत्रिक होना बंद कर देता है और आत्मा के साथ ऐच्छिक बन जाता है। प्रत्यक्ष-बिंब का निर्माण, जिसमें आगत उद्दीपन को चेतना के ताने-बाने में उसके उपयुक्त स्थान पर बुनना निहित है, ईहा का परिणाम है। इसे अवाय के नाम से जाना जाता है, जो चेतना में किसी विषय के सामान्य प्रस्तुतीकरण अथवा रूपरेखा में विवरण भरने के तुल्य है। यहाँ भी भौतिक आधार वह मानसिक धारा है, जो समस्त कल्पनीय प्रकार के 'अभिकर्मकों' से मिलकर बनी है, जो बुद्धि को किसी संवेदना के गुणों की परीक्षा करने में सक्षम बनाती है।

अंतिम अवस्था धारणा (शाब्दिक रूप में, ग्रहण करना) है, जिसका अर्थ है धारण करना अथवा गर्भित करना। प्रत्यक्षित विषय की प्रकृति पर टिककर, बुद्धि प्रस्तुतीकरण से उसकी उत्तेजना संबंधी समस्त वस्तुएँ उतार देती है, उसे एक विशुद्ध मानसिक रेखाचित्र छोड़ते हुए जो, जैसा हम पहले ही देख चुके हैं, कोई बिंब नहीं है, बल्कि बिंबों में समान एक वाष्पीकृत रूपरेखा है, मन की एक प्रवृत्ति, अथवा एक प्रकार की अंकुरित क्रिया, जो, यदि विकसित होने दी जाए, तो एक बिंब उत्पन्न करेगी, जैसा स्वप्नों में होता है।

धारण की परिघटना के संबंध में, यह ध्यान देने योग्य है कि प्रत्यक्ष और स्मृति के संबंध में जीवंत मन और एक दर्पण के बीच का अंतर दो बिंदुओं में निहित है, अर्थात्, प्रथम, मन की अपनी अनुभूतियों को अनुभूत करने की शक्ति, और, द्वितीय, विषय के चले जाने के पश्चात भी छाप को

धारण करने की उसकी क्षमता। अतः, जहाँ दर्पण जो वह प्रतिबिंबित करता है उसकी छाप को जानने और धारण करने में असमर्थ है, वहाँ जीवंत मन ये दोनों ही करतब सम्पन्न करता है। यह पूर्व को अपने स्वाभाविक गुण के कारण प्राप्त करता है, और उत्तर को, बाहर से पहुँचने वाले विभिन्न उद्दीपनों के कुछ द्रव्य को अवशोषित करके। ये छापें, हालाँकि, चिरस्थायी नहीं हैं, और काल के प्रवाह में मिटने की संभावना रखती हैं, यद्यपि मूल प्रत्यक्षों के साथ-साथ अवधारणात्मक विचार के प्रभाव आत्मा के संविधान के रूपांतरणों के रूप में संरक्षित रहते हैं, और अतींद्रिय संकायों से संपन्न लोगों द्वारा एक खुली पुस्तक की भाँति पढ़े जा सकते हैं। समस्त संस्कार, अर्थात्, छापें, स्वभाव में भौतिक हैं, दृष्टि के अतिरिक्त अन्य इंद्रियों के आँकड़ों से बनी छापों के, तथा केवल मन द्वारा बनाई गई छापों के, मामले में भी कोई अपवाद नहीं है। नियम यह है कि प्रत्येक विचार, शब्द और कर्म के साथ अत्यंत सूक्ष्म प्रकार का पदार्थ आत्मा की ओर प्रवाहित होता है,* ताकि इस तथ्य में कुछ भी आश्चर्यजनक न हो कि इस द्रव्य के कुछ भाग का प्रयोग स्मृति के निर्माण के लिए किया जाए। वस्तुतः, आश्चर्य इसके विपरीत होगा, यदि यह तर्क दिया जाए कि स्मृति की छाप पूर्णतः भौतिकता से रहित है। हमारे स्मरणों की रंग तथा अन्य इंद्रियगोचर गुणों में समृद्धि, आत्मा के साथ संगति में पदार्थ की मात्रा की साक्षी देती है, और स्मृति के भौतिक आधार को सिद्ध करती है, यद्यपि उसी ढंग से नहीं जैसे एक भौतिकवादी मनोविज्ञान, जो आत्मा के अस्तित्व को नकारने अथवा उपेक्षित करने पर तुला है, इसे चाहेगा। हमारे लिए स्मृति एक ऐसी संकाय है जो न विशुद्ध आत्मा से संबंधित है, न विशुद्ध पदार्थ से, बल्कि पदार्थ के अवशोषण से दूषित एक आत्मा से। क्योंकि विशुद्ध आत्मा सर्वज्ञता से संपन्न है, जो स्मरण जैसे सीमित ज्ञान के साथ असंगत है; और पदार्थ अचेतन है, अतः स्मृति से रहित है।

*परन्तु इसके बिना, हमारे लिए कुछ भी जानना असंभव होता, क्योंकि मानव-चेतना दूरी से कुछ भी नहीं जान सकती। इस प्रकार प्रत्येक मामले में सांत मन तक पहुँचने के लिए एक भौतिक अभिकर्ता आवश्यक है इससे पहले कि यह किसी विषय के प्रति सचेत हो सके।इस भेद पर बल देना आवश्यक है — अर्थात् सर्वज्ञता और निम्न मन की उन उपजों के बीच के भेद पर, जिनसे स्मृति का संबंध है — विशेषतः इसलिए कि प्राचीनों ने इसी का उपयोग अपने पौराणिक देव-मण्डलों (Pantheons) के निर्माण में किया है। यह देखा जा सकेगा कि दोनों ही अवस्थाओं में ज्ञान-शक्ति एक ही है, चाहे वह वस्तुओं को प्रत्यक्ष रूप से जाने अथवा मन के माध्यम या साधन से; क्योंकि ज्ञान आत्मा का स्वयं स्वभाव है,* और अपनी ही अवस्थाओं की अनुभूति में, अर्थात् अपनी ही चेतना की अवस्थाओं की अनुभूति में, निहित है। चेतना की ये अवस्थाएँ भी अपने स्वभाव में आत्म-द्रव्य के परिवर्तनों के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं, क्योंकि आत्मा सारतः शुद्ध चेतना है। इस प्रकार जानने वाला एक ही और वही है; एक दशा में, अर्थात् जब वह पदार्थ की मलिनता से मुक्त होता है, वह अपनी ही अवस्थाओं द्वारा प्रकट किए जाने योग्य समस्त — जो अनन्त और*

*सर्वग्राही ज्ञान है — को प्रत्यक्ष रूप से जानता है, और दूसरी दशा में वह उतना ही जान पाता है जितना उसकी नशीली और स्तब्ध इच्छा-शक्ति उससे उद्भूत कर सकने में समर्थ है; क्योंकि मन के माध्यम से पड़ने वाला प्रत्येक संस्कार आत्मा में एक प्रभाव उत्पन्न करता है, दूसरे शब्दों में, चेतना की एक अवस्था को उद्दीप्त करता है, तभी कहा जा सकता है कि ज्ञान का उदय हुआ है।*

*देखें प्रस्तुत लेखक कृत 'विचार का विज्ञान' (The Science of Thought)।*

सर्वज्ञता के स्वरूप और रूप के विषय में, चूँकि आत्मा एक व्यष्टि है, अर्थात् चेतना की एक अविभाज्य इकाई है, अतः उसके संबंध में ज्ञान का विचार न तो उसकी संपूर्ण द्रव्यता या राशि है, न उसका कोई पृथक् भाग, अपितु परस्पर व्याप्त और अविभाज्य पक्षों या पहलुओं की एक अनन्तता है, जिनमें से प्रत्येक स्व की सर्वव्यापी चेतना से व्याप्त है। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक आत्मा, स्वभाव से, एक व्यष्टि विचार है जो स्वयं भिन्न-भिन्न किन्तु अविभाज्य विचारों अथवा चेतना की अवस्थाओं की एक अनन्तता का समाहार है। किन्तु, चूँकि ये सभी विचार या चेतना की अवस्थाएँ प्रत्येक आत्मा की चेतना में एक साथ उपस्थित नहीं होतीं, अतः उनमें से कुछ अवश्य ही अवचेतन या सुप्त अवस्था में विद्यमान रहते हैं, जहाँ से वे अनुकूल परिस्थितियाँ मिलने पर सतह के ऊपर उभर आते हैं। इस प्रकार, ज्ञान कभी बाहर से अर्जित नहीं होता, अपितु केवल भीतर से साकार होता है। यह तब भी सत्य है जब हम किसी नई वस्तु का प्रत्यक्ष करते हैं या पहली बार किसी नए विचार से प्रभावित होते हैं; क्योंकि आत्मा अपनी ही चेतना की अवस्थाओं के माध्यम के बिना कदापि कुछ नहीं जान सकती। अतः, जब तक आत्मा बाहर से आने वाले उद्दीपन के अनुरूप एक अवस्था धारण करने की क्षमता से संपन्न न हो, तब तक उसे बाहरी वस्तु की चेतना कभी नहीं होगी। यह क्षमता वास्तव में आगत उद्दीपन के साथ सहानुभूतिपूर्वक स्पंदित होने की, अर्थात् उसी लय* में स्पंदित होने की शक्ति है। अब यह स्पष्ट हो जाएगा कि चेतना में या चेतना पर पड़ा हुआ संस्कार संगमरमर की मूर्ति से इस अर्थ में भिन्न है कि उसमें उसकी राशि के किसी अंश का छैनी से काटा जाना या हटाया जाना अभिप्रेत नहीं है, अपितु वह इस अर्थ में उसके सदृश है कि वह आत्मा की अपनी सत्ता के भीतर से ही प्रकट में लाया जाता है। इस प्रकार, यद्यपि सभी संस्कार आत्मा में उसी प्रकार सुप्त पड़े कहे जा सकते हैं जिस प्रकार सभी प्रकार की मूर्तियाँ पत्थर की एक सिल्ली में अप्रकट रहती हैं, तथापि वे उसी रीति से रचे गए नहीं कहे जा सकते। आत्म-द्रव्य पर पड़े संस्कार के विषय में किसी वस्तु के तराशे जाने का प्रश्न ही नहीं उठता, अपितु प्रश्न केवल किसी सुप्त अवस्था के 'जाग उठने' का है, अथवा जो पहले बंधन में रखा हुआ था उसके मुक्त किए जाने का है।

*कि संस्कार वस्तुतः एक प्रकार की लय है, यह स्मरण के स्वभाव से स्पष्ट है, जिसमें एक पुनर्जीवित संस्कार निहित है। स्मृति, जैसा देखा जा चुका है, कोई चित्र-दीर्घा नहीं है जिसमें विगत घटनाओं के बने-बनाए फोटो या प्रतिलिपियाँ भरी हों। यदि किसी को अब भी हमारे इस प्रस्ताव की सत्यता पर संदेह हो, तो वह इस तथ्य पर विचार करे कि स्मरण में उठने वाली छवियाँ अनेक अवसरों पर उसे देखने वाले से भी बड़ी होती हैं। स्वप्नों में तो यह विशेष रूप से देखा जाता है, जो कभी-कभी विशाल नगरों, समुद्रों और इसी प्रकार की वस्तुओं को पुनरुत्पन्न कर देते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि स्मरण शरीर या मस्तिष्क में बने-बनाए चित्रों के रूप में संचित नहीं रहते, अपितु तभी और वहीं बाहर बनाए और प्रक्षेपित किए जाते हैं। किन्तु दृश्य-स्मृति यदि बने-बनाए चित्रों का संग्रह नहीं है, तो और क्या हो सकती है, इसका एकमात्र उत्तर है — चित्र उत्पन्न करने की क्षमता, अर्थात् वह शक्ति जो स्मृति-चित्रों की रचना में प्रवेश करने वाली सामग्री को विशिष्ट आकारों और रूपों में ढाल सके। इसका अर्थ इससे अधिक या कम कुछ नहीं कि विभिन्न तीव्रताओं या लयों में स्पंदित होने की क्षमता, जो अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ के एक प्रकार पर क्रिया करके रूपों को जन्म देती है। दृष्टि के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियों के माध्यम से बने संस्कारों के स्मरण के संबंध में भी यही स्थिति है। वे अपने उद्भव में चित्र नहीं होते, और स्मृति में स्मरण की विभिन्न शक्यताओं या सामर्थ्यों के रूप में ही विद्यमान रह सकते हैं। स्मरण की इन्हीं सामर्थ्यों को हमने, किसी अधिक उपयुक्त शब्द के अभाव में, विभिन्न प्रकार की लय कहकर निरूपित किया है।*

अतः, समस्त प्रकार के संस्कार अथवा चेतना की अवस्थाएँ आत्मा में सुप्त पड़ी रहती हैं, और उन्हें अवचेतन अवस्था से उभरने के लिए केवल उन कारणों के हटने* की आवश्यकता होती है जो उनके प्रकट में आने में बाधक हैं।

*यह देखा जा सकेगा कि संस्कार केवल प्रत्यक्ष से ही नहीं, अपितु विचार की क्रियाशीलता से भी उत्पन्न होते हैं; क्योंकि जब भी प्रत्यक्ष या अनुमान के परिणामस्वरूप कोई नया विचार बनता है, तो अपने ज्ञान-भंडार को समृद्ध करने के लिए एक नया संस्कार उपलब्ध होता है।*

उपर्युक्त कारणों से, इन्द्रिय-प्रत्यक्ष का अर्थ इससे अधिक कुछ नहीं है कि पहले से विद्यमान किसी छाप, अथवा विचार-लय की प्रतिध्वनि, आगत उद्दीपन के प्रत्युत्तर में स्पंदित होने के लिए मुक्त कर दी जाए। यह अपनी ही लय की यह प्रत्युत्तरात्मक प्रतिध्वनि, अतः अपनी ही चेतना की एक अवस्था, ही है जिसे आत्मा संज्ञान के क्षण में अनुभव करती है। यहाँ यह कह देना उचित होगा कि आत्मा के पास अपनी अवस्थाओं को जानने का उनका अनुभव करने के अतिरिक्त और कोई साधन नहीं है; यद्यपि यहाँ 'अनुभूति' शब्द अपने व्यापकतम अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, और इसमें स्पर्श, रस, गंध, दृष्टि तथा श्रवण की संवेदनाएँ सम्मिलित हैं।

विभिन्न वर्गों और प्रकारों के प्राणियों के बीच, तथा एक ही वर्ग से संबंधित व्यष्टियों के बीच भी, ज्ञान की जो भिन्नताएँ पाई जाती हैं, वे कर्म के नियम की क्रियाशीलता के कारण हैं, क्योंकि अनन्त ज्ञान की सामर्थ्य, अर्थात् सर्वज्ञता, स्वयं आत्मा का स्वभाव होने के कारण, उसे अनुभव की

वास्तविकता बनने से रोकने के लिए किसी बाह्य प्रभाव की आवश्यकता होती है। इस बाह्य प्रभाव का स्वरूप, अर्थात् कर्मों का बल, गोम्मटसार* जैसे ग्रन्थों में पूर्णतः समझाया गया है।

*गोम्मटसार महान प्रामाणिकता का एक जैन ग्रन्थ है जो कर्म के सिद्धान्त पर है, किन्तु दुर्भाग्यवश अभी तक इसका अंग्रेज़ी में अनुवाद नहीं हुआ है। जिन्हें इस तक पहुँच उपलब्ध न हो, उन्हें प्रस्तुत लेखक की 'प्रैक्टिकल पाथ' (Practical Path) पढ़ने का सुझाव दिया जाता है, जिसमें इस विषय की मुख्य विशेषताओं का कुछ विस्तार से विवेचन किया गया है।*

इस तथ्य से बचा नहीं जा सकता कि आत्मा तब तक कुछ भी नहीं जान सकती जब तक वह ज्ञान-शक्ति से संपन्न न हो। इन्द्रियाँ हमें केवल वस्तुओं के संस्कार, फोटो या प्रतिबिंब देती हैं, किन्तु उन्हें जानने वाला ज्ञाता नहीं देतीं; और यह एक चमत्कार ही होगा यदि वे ज्ञाता को उत्पन्न कर सकें, क्योंकि वे स्वयं अचेतन हैं। इसमें भी उतना ही स्पष्ट संदेह नहीं हो सकता कि आत्मा किसी अन्य वस्तु को जानते समय मूलतः अपनी ही अवस्थाओं या चेतना की स्थितियों का ही प्रत्यक्ष करती है, क्योंकि प्रायः जो वह जानती है वह वास्तव में जो प्रत्यक्ष किया गया है उससे बहुत भिन्न होता है, और अनेक स्थितियों में जो जाना जाता है वह इन्द्रियों द्वारा वस्तुतः कभी प्रत्यक्ष ही नहीं किया जाता, यथा आकाश-तत्त्व (ईथर), जो नेत्र के लिए अदृश्य है। अतः, जानने की एक सामर्थ्य का अस्तित्व आत्मा की चेतना की एक पूर्वापेक्षित शर्त है; और यह स्पष्ट है कि जानने की यह सामर्थ्य आत्मा के लिए कोई बाह्य वस्तु नहीं, न बाहर से अर्जित की जाने वाली, अपितु उसका स्वयं का स्वभाव है, क्योंकि, जैसा हम आगे देखेंगे, ज्ञान (चेतना) का ज्ञाता से पृथक्करण दोनों के लिए घातक है। यह भी स्पष्ट है कि आत्मा की ज्ञान-सामर्थ्य की कोई सीमा नहीं हो सकती, क्योंकि न तो तर्क और न ही कल्पना असंभव के अतिरिक्त किसी वस्तु से सीमित हो सकती है; और यद्यपि प्रत्येक जीवधारी की इन्द्रियाँ परिघटनाओं के संपूर्ण क्षेत्र को समाहित नहीं करतीं, तथापि इसमें कोई संदेह नहीं कि भिन्न-भिन्न प्राणी भिन्न-भिन्न वस्तुओं का संज्ञान लेते हैं, अतः जो एक आत्मा के लिए अदृश्य है वह सबके लिए अप्रत्यक्ष रहे, यह आवश्यक नहीं। उदाहरणार्थ, उल्लू अंधकार में वस्तुओं को देख लेते हैं; और यह स्पष्ट है कि जो नन्हे-नन्हे कीट हमें सर्वथा अदृश्य हैं, वे अपने ही वर्ग के सदस्यों को अवश्य ज्ञात होते हैं, क्योंकि वे प्रजनन करते और बढ़ते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यद्यपि आत्मा अपने अधिकार से ज्ञाता है, तथापि भिन्न-भिन्न प्राणियों के मामले में उसकी ज्ञान-सामर्थ्य न्यूनाधिक अवरुद्ध रहती है, यद्यपि चेतना अपने विशेष गुणों — व्यष्टित्व और ज्ञान — के साथ सबमें समान होने के कारण, ज्ञान की सामर्थ्य के संबंध में उनके बीच गुण या मात्रा का कोई भेद नहीं हो सकता।

आत्मा का स्वभाव शुद्ध बुद्धि, विचार (ज्ञान) अथवा चेतना होने के कारण, विभिन्न प्रकार के प्राणियों में, तथा एक ही जाति के सदस्यों में भी, उसके प्रकटीकरण की मात्रा में जो भिन्नताएँ पाई जाती हैं, वे किसी बाह्य बल अथवा कारक के प्रभाव के कारण होनी चाहिए, जिसका चेतन द्रव्य (आत्मा) के साथ संयोग या मिलन उसे ज्ञान की शुद्ध निर्मलता से वंचित कर देता है। अचेतन पदार्थ ऐसा ही एक कारक है, जो, जैसा 'प्रैक्टिकल पाथ' में वर्णित है, आत्म-द्रव्य के साथ संयुक्त होकर, बंधन के प्रकार (पदार्थ और आत्मा के मिश्रण की अवस्था) के अनुसार न्यूनाधिक रूप से, उसकी ज्ञान-शक्तियों को अपंग बना देता है। इस प्रकार, चेतना के भिन्न-भिन्न प्रकार कर्म की ज्ञानावरण-शक्तियों की क्रियाशीलता पर निर्भर करते हैं, अतः जहाँ वे पूर्ण रूप से सक्रिय हों, वहाँ आत्मा की ज्ञान-शक्ति का प्रकटीकरण स्पर्श-इन्द्रिय तक सीमित हो सकता है, जैसा एकेन्द्रिय प्राणियों (धातुएँ आदि) में होता है, जबकि विपरीत स्थिति में, अर्थात् जहाँ वे पूर्णतः नष्ट हो चुकी हों, वहाँ विजयी जीव (अहं) को सर्वज्ञता का पूर्ण प्रकाश प्राप्त होता है। इन दोनों छोरों के बीच चेतना के प्रकटीकरण की समस्त मध्यवर्ती श्रेणियाँ भी, सामान्यतः देखा जा सकता है, इन्हीं ज्ञानावरण कर्मों की शक्तियों के विनाश या शमन, अथवा आंशिक विनाश और आंशिक शमन, के कारण अस्तित्व में हैं; क्योंकि ज्ञान आत्मा का स्वयं स्वभाव होने के कारण भले ही अज्ञान के आवरण से ढका जाए और जितनी बार चाहे 'अनावृत' किया जाए, किन्तु वह नए सिरे से अर्जित या विकसित नहीं किया जा सकता, न ही किसी मूलतः अचेतन मूलतंतु पर आरोपित किया जा सकता है। यदि हम इस कथन पर विचार करें, तो हमें यह समझने में देर नहीं लगेगी कि कोई भी मूलतः अचेतन द्रव्य केन्द्रीकरण की प्रक्रिया द्वारा, अर्थात् आगत उद्दीपन को किसी केन्द्रीय भाग में प्रतिबिंबित करके, उसे एक संवेदना में और स्वयं को एक जानने वाले प्राणी में परिवर्तित नहीं कर सकता। चेतन और अचेतन के बीच की खाई इतनी विस्तृत है कि उसे इस प्रकार पाटा नहीं जा सकता, और कोई भी बौद्धिक छलांग या कल्पना की कलाबाजी उस विधि या रीति का हल्का-सा भी संकेत नहीं दे सकती जिससे ऐसा चमत्कार संपन्न हो सके।

लय, अर्थात् आत्मा की क्रियाशीलता की ऊर्जा, अपने पर अत्यन्त जटिल प्रकार की है, क्योंकि वह ज्ञान की वस्तु के साथ-साथ स्वयं को भी एक ही समय में जानती है, और साथ ही इसलिए भी कि वस्तुओं को जानने की उसकी सामर्थ्य संभावना के संपूर्ण परिक्षेत्र को व्याप्त करती है, और जिसे वह कभी नहीं जान सकती उसका अस्तित्व होने का कोई दावा ही नहीं हो

सकता। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि शुद्ध आत्मा की, अर्थात् उस अवस्था की, जिसमें चेतना के परिक्षेत्र को संकीर्ण करने वाली कोई रुचि, प्रेरणा अथवा अन्य किसी प्रकार की बाधा शेष न रहे, स्वाभाविक ऊर्जा अत्यन्त जटिल प्रकार की होती है, जिसमें आत्म-चेतना की लय अन्य समस्त संभव ज्ञान-लयों को परस्पर व्याप्त रीति से एक साथ धारण किए रहती है, और उनमें से किसी को भी क्रियाशीलता और संचालन की स्वतंत्रता से वंचित नहीं किया जाता। इस रूप में आत्मा एक महान संगीत-रचना के सदृश है जिसमें स्वर-समूह की लय उन स्वरों की लयों के ऊपर मंडराती है जो उसकी रचना में सम्मिलित हैं, और जिसमें प्रत्येक स्वर, यद्यपि स्वयं में एक पृथक् इकाई है, तथापि समग्र का केवल एक अविभाज्य और अविच्छेद्य अंश ही है।

*आत्मा तब ज्ञाता है क्योंकि यह उसका स्वभाव है, जिसकी शुद्धता अचेतन द्रव्य — पदार्थ — के अवशोषण से मलिन हो जाती है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि उन कर्मों के बल को नष्ट करके या रोककर, जो आत्मा की ज्ञान-सामर्थ्य में बाधक हैं, पदार्थ के आवरण को चीर डालना ही ज्ञान की वृद्धि का वास्तविक साधन है। अवलोकन से यह प्रकट होता है कि रागद्वेष और भावावेश किसी की ज्ञान-सामर्थ्य और बुद्धि की निर्मलता में पर्याप्त बाधा डालते हैं; और पूर्वग्रह अथवा दुराग्रह का निर्णय-शक्ति पर पड़ने वाला प्रभाव इतना सुविदित है कि उस पर टिप्पणी की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार, हमारे व्यक्तिगत राग-द्वेष, तथा रागद्वेष और भावावेश ही वे कारण हैं जो ज्ञान के उदय में बाधा डालते हैं। वे चेतन द्रव्य में पदार्थ के प्रवाह का कारण बनते हैं, और आत्मा तथा पदार्थ का यह मिश्रण आत्मा को अपने स्वाभाविक कार्य का पूर्ण मात्रा में निर्वाह करने से रोकता है। बाधा का एक अन्य कारण जीवन की भौतिक चिंताओं में रुचि है, जो ज्ञान के क्षेत्र को उस तक संकुचित कर देती है जो शारीरिक आवश्यकताओं के लिए तुरन्त उपयोगी माना जाता है। यहाँ ध्यान द्वार के प्रहरी का काम करता है, और केवल वांछनीय को ही प्रवेश देता है, इस प्रकार वासनामय मन की पुकार के प्रत्युत्तर को अवरुद्ध कर देता है। हम अतः यह निष्कर्ष निकालते हैं कि चेतना की क्रियाशीलता कुछ विशेष प्रकार की शक्तियों द्वारा अवरुद्ध होती है, जो व्यक्तिगत राग, द्वेष, रुचियों, भावावेशों तथा वासनाओं से उत्पन्न होती हैं। जैन आचार्यों ने इन शक्तियों को चार भिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत वर्गीकृत किया है, और यही घातिया कर्म कहलाते हैं (देखें अध्याय १३)।*

चूँकि लय आत्मा के संदर्भ में एक विचार का ही दूसरा नाम है, क्योंकि ज्ञान अपनी ही चेतना की अवस्थाओं में निहित होता है, अतः उपर्युक्त को दर्शन की सरल भाषा में रखते हुए हम कह सकते हैं कि प्रत्येक पूर्ण, अथवा पूर्णविकसित आत्मा, पदार्थ के अंधकारकारी प्रभाव से मुक्त शुद्ध चेतना होने के कारण, वस्तुतः एक ऐसा सर्वग्राही विचार है जो, मानो, अन्य समस्त संभव विचारों को बिना किसी एक भी अपवाद के अपने में समाहित कर लेता है। अतः, समय या क्षेत्र से असीमित पूर्णतम संभव ज्ञान सदैव दिव्यीकृत आत्मा की चेतना की अवस्था होता है। दूसरे शब्दों में, मुक्त आत्मा केवल ज्ञानमयी (ज्ञान का साकार रूप) है, क्योंकि सार रूप में वह शुद्ध चेतना है।

अब हमें स्वप्नों में स्मृति की भूमिका पर ध्यान देना चाहिए।

इस विषय में हम पहले ही सामान्य रूप से देख चुके हैं कि स्वप्नों का मानसिक तंत्र (१) चेतना, (२) विचार, और (३) मन की उस ऊर्जा से बना है जो विचारों पर क्रिया करती है; किन्तु हमारी चेतना की उस विचित्र अवस्था के रहस्य में हमें कुछ और गहराई से झाँकना होगा ताकि हम उसके कारण को उचित रूप से समझ सकें।

इस संबंध में उठने वाला सर्वप्रथम प्रश्न यह है कि स्वप्न देखा ही क्यों जाता है? दूसरे शब्दों में, स्वप्न का सम्बन्ध प्रत्यक्ष की सामान्य प्रक्रिया से क्या है? इसका उत्तर देने के लिए हमें स्वयं को सामान्य अहं तक सीमित रखना होगा ताकि हम स्वप्नों के स्वाभाविक क्रियाकलाप की यन्त्र-रचना तक पहुँच सकें।

विश्लेषण से यह प्रकट होता है कि स्वप्न जागृत प्रत्यक्ष से मुख्यतः इस अर्थ में भिन्न है कि उसके साथ पूर्ण चेतना नहीं होती, अर्थात् उस समय इच्छा-शक्ति बुद्धि को जगाने के लिए न्यूनाधिक अनिच्छुक होती है, और स्मृति द्वारा उसके सामने प्रस्तुत की गई सामग्री से सरलता से संतुष्ट हो जाती है।जैसा बर्गसन कहते हैं:—

> "जब हम स्वाभाविक रूप से सोए हुए होते हैं, तो यह मानना आवश्यक नहीं, जैसा प्रायः माना गया है, कि हमारी इन्द्रियाँ बाह्य संवेदनाओं के प्रति बन्द हो जाती हैं। हमारी इन्द्रियाँ सक्रिय बनी रहती हैं। यह सत्य है कि वे कम सूक्ष्मता से कार्य करती हैं, किन्तु इसके प्रतिकार में वे 'व्यक्तिनिष्ठ' संवेदनाओं की एक भीड़ को समेट लेती हैं जो जागृत अवस्था में — जब हम सब मनुष्यों के लिए समान प्रत्यक्षों के जगत् में जीते हैं — अलक्षित रह जाती हैं, और जो निद्रा में, जब हम केवल अपने लिए जीते हैं, पुनः प्रकट होती हैं। इस प्रकार हमारी इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की क्षमता, निद्रा में सभी बिन्दुओं पर संकुचित होने के बजाय, इसके विपरीत, कम-से-कम कुछ दिशाओं में अपने कार्यक्षेत्र में विस्तृत हो जाती है... सोना अनासक्त हो जाना है। जो माता अपने शिशु के पास सोई है वह गर्जन की ध्वनि पर नहीं हिलेगी, किन्तु शिशु की हल्की-सी आह उसे जगा देगी। क्या वह वास्तव में शिशु के प्रति सोई हुई है? हम उसके प्रति नहीं सोते जो हमारे लिए रुचिकर बना रहता है। भिन्न-भिन्न इन्द्रियों द्वारा स्वप्न को प्रदान की गई सामग्री की आकार देने वाली शक्ति, वह शक्ति जो अनिश्चित और अस्पष्ट संवेदनाओं को — जो स्वप्नद्रष्टा को अपनी आँखों, अपने कानों, और अपने शरीर के भीतरी तल से प्राप्त होती हैं — निश्चित, सुनिर्धारित वस्तुओं में बदल देती है, स्मृति ही है... ये संवेदनाएँ हमारे स्वप्नों की सामग्री हैं, किन्तु वे केवल सामग्री ही हैं, वे उन्हें उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त नहीं हैं... क्योंकि वे अस्पष्ट और अनिर्धारित हैं... स्वप्न का जन्म... कोई रहस्य नहीं है।

यह हमारे समस्त प्रत्यक्षों के जन्म के सदृश है। स्वप्न की यन्त्र-रचना सामान्यतः वही है जो सामान्य प्रत्यक्ष की है। जब हम किसी वास्तविक वस्तु को प्रत्यक्ष करते हैं, तो हम वास्तव में जो देखते हैं — प्रत्यक्ष का इन्द्रिय-गोचर द्रव्य — हमारी स्मृति द्वारा उसमें जोड़े जाने वाले की तुलना में अत्यन्त अल्प होता है। जब आप कोई पुस्तक पढ़ते हैं, जब आप अपना समाचार-पत्र देखते हैं, क्या आप सोचते हैं कि सभी छपे हुए अक्षर वास्तव में आपकी चेतना में आते हैं? यदि ऐसा होता, तो एक अखबार पढ़ने के लिए सारा दिन भी पर्याप्त न होता। सच्चाई यह है कि आप प्रत्येक शब्द में, यहाँ तक कि वाक्य के प्रत्येक अंश में, कुछ ही अक्षर या कुछ विशिष्ट चिह्न देखते हैं, इतने ही जो आपको शेष का अनुमान लगाने की अनुमति दें... इस प्रकार जागृत अवस्था में और वास्तविक वस्तुओं के, जो हमें घेरे हैं, ज्ञान में, एक ऐसी क्रिया निरन्तर चलती रहती है जो स्वप्न की क्रिया के स्वभाव से बिल्कुल मिलती-जुलती है। हम संपूर्ण वस्तु की केवल एक रूपरेखा प्रत्यक्ष करते हैं। यह रूपरेखा संपूर्ण स्मृति को आमंत्रित करती है, और यह संपूर्ण स्मृति, जो स्वयं में या तो अचेतन थी अथवा केवल विचार की अवस्था में थी, इस अवसर का लाभ उठाकर बाहर आ जाती है। यह इसी प्रकार का भ्रम है, जो एक वास्तविक ढाँचे में डाला और बिठाया गया है, जिसे हम प्रत्यक्ष करते हैं। यह एक छोटी प्रक्रिया है: यह वस्तु को स्वयं देखने की तुलना में कहीं शीघ्रता से संपन्न हो जाती है। इसके अतिरिक्त, इस क्रिया के दौरान स्मृति-चित्रों के आचरण और व्यवहार के विषय में अनेक रोचक अवलोकन किए जा सकते हैं। यह मानना आवश्यक नहीं कि वे हमारी स्मृति में स्थिर, निष्क्रिय संस्कारों की अवस्था में हैं। वे किसी बॉयलर की भाप के सदृश हैं, न्यूनाधिक दबाव में। मेरा विश्वास है कि हमारा समस्त विगत जीवन वहाँ, अत्यन्त सूक्ष्म ब्योरों तक सुरक्षित, विद्यमान है, और हम कुछ भी नहीं भूलते, और जो कुछ भी हमने अनुभव किया, प्रत्यक्ष किया, सोचा, चाहा, अपनी चेतना के प्रथम जागरण से लेकर, वह सब अविनश्वर रूप से बना रहता है। किन्तु जो स्मृतियाँ इन अस्पष्ट गहराइयों में सुरक्षित हैं, वे वहाँ अदृश्य प्रेत-रूप में विद्यमान हैं। वे शायद प्रकाश की ओर आकांक्षा रखती हैं, किन्तु वे उस तक उठने का प्रयत्न भी नहीं करतीं; वे जानती हैं कि यह असंभव है, और कि मुझे, एक जीवित और सक्रिय प्राणी के रूप में, उनसे व्यस्त रहने के अतिरिक्त और भी कुछ करना है। किन्तु मान लीजिए कि किसी क्षण मैं अनासक्त हो जाता हूँ... दूसरे शब्दों में, कि मैं सो गया हूँ। तब ये स्मृतियाँ, यह देखकर कि मैंने बाधा हटा दी है, चेतना के तल के नीचे उन्हें रोके रखने वाला जो जाल-द्वार था उसे उठा लिया है, गहराई से उठ आती हैं।"

यह ध्यान देने योग्य है कि निद्रा के दौरान मानसिक बल, अर्थात् इच्छा-शक्ति, सक्रिय अवस्था में नहीं रहती, और सोए हुए व्यक्ति की चेतना उस समय दिन के जागृत घंटों में ध्यान को अवशोषित करने वाले शोरगुल और उपद्रव के साथ-साथ चिंताओं और आशंकाओं से उत्पन्न मानसिक कोलाहल से मुक्त हो जाती है, जिसके कारण दिन में अलक्षित रह जाने वाली अनेक हलचलें उसके मन पर बड़े बल से टकराती हैं। इसी प्रकार, शरीर के उन अंगों और परिवर्तनों में उत्पन्न होने वाली संवेदनाएँ, जिनके प्रति व्यक्ति जागृत अवस्था में अचेत रहता है, तंद्रामय चेतना पर बड़े बल से फूट पड़ती हैं। इसी कारण ऊष्मा की एक हल्की-सी संवेदना को अग्नि पर चलने के रूप में अनुभव किया जाता है, इत्यादि। यदि उद्दीपन जारी रहे, तो अंततः ध्यान उस जड़ता की निद्रा से जागकर उद्दीपन या अड़चन के कारण या कारणों को दूर करने में सक्रिय हो जाता है; अन्यथा स्वप्न समाप्त हो जाता है, और सोने वाला वस्तुतः बिना जागे ही पुनः गहरी निद्रा की अवस्था में लौट जाता है।

स्वप्नों की विषय-वस्तु के संबंध में, वह उद्दीपन जो स्वप्न-यन्त्र को गति में लाता है, या तो (१) बाह्य जगत् से आता है, अथवा (२) शारीरिक संवेदनाओं से बनता है, अर्थात् किसी शारीरिक अंग में उत्पन्न होने वाली उत्तेजनाओं से। तब वह प्रचलित, व्यक्तिनिष्ठ अवस्थाओं के साथ मिश्रित हो जाता है, अर्थात् उन विचारों के साथ जो, प्रमुख कामनाओं के इर्द-गिर्द केन्द्रित होकर, व्यक्ति को प्रबल रूप से क्षुब्ध कर चुके होते हैं और इच्छा-शक्ति में संचित भावों के समुच्चय को अपना रंग दे चुके होते हैं। निद्रा के दौरान ये मानसिक अवस्थाएँ सुप्त, अर्थात् आरंभिक, गतियों के रूप में विद्यमान रहती हैं, और उन्हें प्रत्यक्षों में विकसित होने के लिए केवल उपयुक्त प्रेरणा की आवश्यकता होती है। उद्दीपन के आगमन से ठीक वही प्रेरणा मिल जाती है जिसकी आवश्यकता थी, और संवेदना चेतना की संरचना में उसी प्रकार बुन दी जाती है जिस प्रकार जागृत घंटों में कोई साधारण उत्तेजना बुनी जाती है। इसका परिणाम वह स्वप्न-प्रत्यक्ष है जिससे हम सब परिचित हैं।

जहाँ तक स्वप्न के प्रकार का संबंध है, यह स्वप्न देखने के क्षण की प्रचलित भावना के स्वभाव से निर्धारित प्रतीत होता है; उदाहरणार्थ, यदि हम किसी सोए हुए व्यक्ति को ढकने वाली चादर का एक कोना हटा दें और उसके शरीर के किसी अंग पर शीतल वायु को खेलने दें, तो सोने वाला, यदि वह स्वप्न देखे भी, आल्प्स के दृश्यों का, गिरती हिम का, तीव्र शीत का, और इसी प्रकार का स्वप्न देखेगा — ऐसे सभी ब्योरे जो इस तथ्य पर बल देते हैं कि चेतना में शीत की भावना विद्यमान

है। इसी प्रकार, यदि हृदय पर हाथ रखे जाने अथवा उस पर कुछ गिरने से भार पड़े, तो दबाव से उत्तेजित संवेदना भय की भावना को जन्म देती है, और सृजनशील कल्पना को ऐसे दृश्यों की रचना की ओर प्रवृत्त करती है जिनमें उसी भावना पर बल दिया गया हो। इस प्रकार, यह भावना ही है जो हमारे स्वप्नों के प्रकार को निर्धारित करती है, और एक ही प्रकार के स्वप्नों में दृश्य-भेद संभवतः स्वयं भावना की गुणवत्ता या तीव्रता के भेद के कारण होता है, उदाहरणार्थ, जब हृदय पर दबाव हल्का हो, तो भय भी अल्प ही होगा, और परिणामी स्वप्न भी अपने रूप में केवल थोड़ा भयावह होगा।

यह देखा जा सकेगा कि स्वप्न-दर्शन उस समय होता है जब भौतिक जगत् से ध्यान का हटना चिह्नित होता है। गहरी निद्रा में अहं क्रिया और संवेदन के तल से स्वयं को हटा लेता है, यद्यपि वह अभी भी पुकार सुनने की दूरी में रहता है। अतः, जब कोई विरोधी संवेदना शान्ति और विश्राम की अवस्था का विरोध करती है, तो इच्छा-शक्ति उस पर प्रतिक्रिया करती है और व्यक्ति की चेतना को क्रियाशीलता में जगा देती है। यह वह उत्तेजना को समझ के तल पर उतारकर संपन्न करती है, जो उसे अपने विचार-रूपों के साँचों में समेट लेता है, इस प्रकार आत्मा को अपनी भावनाओं को चित्रात्मक रीति से प्रत्यक्ष करने में समर्थ बनाती है।

अब, शरीर में बुद्धि का कार्य उसकी क्रियाओं के ऊपर अध्यक्षता करना है ताकि उसे हानि से बचाया जा सके; किन्तु सामान्यतः, जब भी और जहाँ भी परिवेश परिचित हों, अनुभव उसकी सतर्कता को अनावश्यक बना देता है। जब उसकी सतर्कता की आवश्यकता ब्रह्मांड में अन्य पिंडों के साथ शरीर के संबंधों को समायोजित करने के लिए नहीं होती, तो वह अपना ध्यान बाह्य जगत् से हटा लेती है, और, किसी जलयान के कप्तान के समान, जब खतरा टल गया हो तो पुल छोड़ देती है। यह गहरी निद्रा में और भी पूर्ण रूप से घटित होता है, जब कार्यों का प्रबंध अनैच्छिक तंत्र के हाथों में छोड़ दिया जाता है, और इच्छा-शक्ति केवल झपकी लेते हुए निगरानी करती है। ऐसी परिस्थितियों में जीव-यन्त्र की सामान्य दिनचर्या को चलाने के लिए जीवन का तंत्र पर्याप्त होता है। इच्छा-शक्ति का स्वयं का यह स्वचालन तब एक प्रहरी के रूप में कार्य करता है, और तंत्र पर पहरा देता है, ताकि जब कोई विसंगत तत्त्व जीव-यन्त्र में प्रवेश करने का प्रयत्न करे, अथवा जब खतरा आसन्न हो, तो वह प्रतिरोध करे, और इस प्रकार बुद्धि का ध्यान आकर्षित करने के लिए

पर्याप्त विक्षोभ उत्पन्न करे, जो पुनः घटनाओं का निर्देशन अपने हाथ में लेने के लिए पुल पर चढ़ आती है।

उपर्युक्त उस समय वास्तव में जो घटित होता है उसका कुछ रूपकात्मक वर्णन है। वास्तविकता में, इच्छा-शक्ति स्वयं ही विक्षुब्ध होने पर बुद्धि में परिवर्तित हो जाती है, जैसे कोई व्यक्ति निद्रा की जड़ता से जागकर क्रियाशीलता में आ जाए। स्वप्न-दर्शन में अहं की ओर से बाह्य जगत् से ध्यान हटाए जाने का प्रश्न भी नहीं उठता, क्योंकि स्वप्न तब घटित होते हैं जब आत्मा पर पदार्थ के स्तब्धकारी प्रभाव से उत्पन्न गहरी निद्रा की जड़ता कुछ शिथिल हो जाती है। अपने स्वाभाविक 'ओज' से वंचित, अहं तब सचेत चुनाव और स्वैच्छिक क्रिया से भी वंचित हो जाता है।

जहाँ तक भीतरी मानसिक अवस्थाओं के भौतिक उद्दीपन के साथ मिश्रण का संबंध है, फ्रॉयड बताते हैं कि—

> "स्वप्न-क्रिया एक साथ उपस्थित समस्त स्वप्न-उद्दीपनों को एक एकीकृत समग्र में गढ़ने के लिए बाध्य होती है। जब पिछले दिन से दो या अधिक ऐसे अनुभव शेष रह गए हों जो प्रभाव डालने में सक्षम हों, तो उनसे उत्पन्न होने वाली कामनाएँ एक ही स्वप्न में संयुक्त हो जाती हैं; इसी प्रकार, मनोवैज्ञानिक मूल्य रखने वाला एक प्रभाव और पिछले दिन के उदासीन अनुभव, यदि दोनों के बीच जोड़ने वाले विचार उपलब्ध हों, तो स्वप्न-सामग्री में संयुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार स्वप्न सोए हुए मन में एक साथ उपस्थित प्रत्येक वास्तविक वस्तु के प्रति एक प्रतिक्रिया प्रतीत होता है... निद्रा के दौरान प्रकट होने वाले उद्दीपन एक कामना की पूर्ति में गढ़ दिए जाते हैं, जिसके अन्य घटक-अंश दैनिक अनुभव के वे अवशेष हैं जिनसे हम परिचित हैं।"

किसी कामना से संबद्ध विचार के स्वप्नों में विरूपण के संबंध में, दिया गया स्पष्टीकरण यह है:—

> "जहाँ भी किसी कामना की पूर्ति अपहचान्य और छिपी हुई हो, वहाँ इस कामना के प्रति एक विकर्षण की भावना अवश्य विद्यमान होगी, और इसी विकर्षण के परिणामस्वरूप कामना विरूपित अवस्था के अतिरिक्त अभिव्यक्ति प्राप्त नहीं कर पाती... हमें तब यह मान लेना चाहिए कि प्रत्येक मनुष्य में, स्वप्न-निर्माण के मूल कारण के रूप में, दो मानसिक बल (धाराएँ, तंत्र) विद्यमान हैं, जिनमें से एक वह कामना है जो स्वप्न द्वारा अभिव्यक्त होती है, जबकि दूसरा इस स्वप्न-कामना पर एक सेंसर के रूप में कार्य करता है, और सेंसरशिप के माध्यमों से इसकी अभिव्यक्ति का विरूपण कर देता है।"

हमारे मानसिक उपकरण तथा प्रत्यक्ष और स्मृति की प्रक्रियाओं के ज्ञान के आलोक में, स्वप्न में सेंसरशिप उन विरूपित मानसिक संस्कारों से उत्पन्न होती है जो उन कामनाओं के संबंध में मन में बने होते हैं जो व्यक्ति की अन्तरात्मा या रुचि के लिए घृणास्पद हों, ऐसा विरूपण स्वप्न-दर्शन के समय नहीं, अपितु कुछ समय पूर्व, अर्थात् जब वे निन्दनीय पाए जाते हैं, तभी घटित होता है। ये विरूपित संस्कार मन के गहरे स्तरों में, जिन्हें अवचेतन कहा जाता है, बने रहते हैं, और किसी ऐसी संवेदना के साथ मिलकर जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, समय पर उभर आते हैं और उस दृश्य के केन्द्रीय स्थान को घेर लेते हैं जिसका प्रकार आगत उद्दीपन द्वारा निर्धारित होता है। जैसा डॉ. यूंग के विचार-सम्प्रदाय के श्री मॉरिस निकॉल, जो फ्रॉयड की परिकल्पना को अपनी संपूर्णता में स्वीकार नहीं करते, अपनी 'ड्रीम साइकोलॉजी' (पृ. १७६) में कहते हैं, यह दमित सामग्री जितनी अधिक भावावेश से आवेशित होगी, उतनी ही अधिक वह अभिव्यक्ति की खोज करेगी।

तंद्रामय, अर्धनिद्रित इच्छा-शक्ति, जो वस्तुतः इन दमित कामनाओं के अस्तित्व की जनक है, न तो उन्हें दबाए रखने में समर्थ होती है, और न ही इसके प्रति सर्वथा अनिच्छुक होती है कि वे इस शान्त रीति से एक बार अपनी राह पा लें। बुद्धि, निस्संदेह, उनके प्राकट्य पर आपत्ति करती है, किन्तु बुद्धि तो अभी अनजागृत ही है, और इच्छा-शक्ति, जिसके चिंतन पर उसका जागना निर्भर करता है, स्वयं निष्क्रिय है और उसे जगाने के लिए तनिक भी उत्सुक नहीं। बुद्धि पूर्ण रूप से केवल तभी जागृत होती है जब इच्छा-शक्ति स्थिति का सामना करने में असमर्थ हो जाए, और अपनी कठिनाई में स्वयं की ओर मुड़ जाए। इसी अर्थ में हम फ्रॉयड को समझना चाहते हैं जब वे कहते हैं:—

> "स्वप्न निद्रा का रक्षक है, उसका विघ्नकर्ता नहीं... या तो मन संवेदनाओं के कारणों से सर्वथा अनासक्त रहता है, यदि वह उनकी तीव्रता या महत्त्व — जिसे वह भलीभाँति समझता है — के बावजूद ऐसा कर सकने में समर्थ हो; अथवा वह इन उद्दीपनों को नकारने के लिए स्वप्न का सहारा लेता है, अथवा, तीसरे, यदि वह उद्दीपन को स्वीकार करने के लिए बाध्य हो, तो वह उद्दीपन की उस व्याख्या को खोजने का प्रयत्न करता है जो वास्तविक संवेदना को उस स्थिति के एक घटक-अंश के रूप में प्रस्तुत करे जो वांछित हो और निद्रा के अनुकूल हो। वास्तविक संवेदना को स्वप्न में इस उद्देश्य से बुना जाता है कि उसकी वास्तविकता को छीन लिया जाए... सही व्याख्या, जिसकी सोई हुई मन पूर्णतः सक्षम है, एक सक्रिय रुचि की माँग करेगी और यह आवश्यक बना देगी कि निद्रा समाप्त हो जाए; अतः, संभव व्याख्याओं में से केवल वे ही

स्वीकृत होती हैं जो दैहिक कामना की चरम सेंसरशिप के अनुकूल हों... यह मानो इस कार्य के सम्मुख उपस्थित है कि वह खोजे कि वर्तमान स्थिति के माध्यम से कौन-सी कामना प्रस्तुत और पूर्ण की जा सकती है।"

स्वप्नों की दो प्रमुख विशेषताएँ, अर्थात् (१) असंबद्धता और (२) कालावधि की भावना का लोप, इस बिन्दु पर विशेष महत्त्व रखती हैं। दोनों ही मूलतः उसी एक कारण से उत्पन्न होती हैं — क्रिया के जगत् में रुचि की हानि। इससे काल और स्थान पर वह प्रभुत्व उत्पन्न होता है जिस पर तब तक विजय नहीं पाई जा सकती जब तक भौतिक शरीर उनके और मन के बीच अवस्थित रहकर कल्पना को कालावधि और दूरी में सन्निकट के परे छलाँग लगाने से असंभव बनाए रखता है। जहाँ ध्यान किसी वास्तविक क्रिया से नहीं जुड़ा होता, वहाँ मन विगत में डूब जाने अथवा भविष्य में भी एक यात्रा कर लेने के लिए स्वतंत्र छोड़ दिया जाता है, चाहे सन्निकट की उपस्थिति कुछ भी हो। जब ऐसा होता है, तो विचारों का रूप और प्रवाह सादृश्य से निर्धारित होता है, सिवाय जहाँ चिंतन की अनिवार्यताएँ ही अन्यथा निर्धारित करें। ये ही दिवास्वप्न के नियम हैं; स्वप्न-दर्शन में भी अनासक्ति लगभग पूर्ण होती है, और इच्छा-शक्ति, मानो, किसी भी रीति से स्वयं को क्रियाशील करने में अनिच्छुक होती है। अतः, किसी विचार को केवल चेतना की सीमा-रेखा के ऊपर उठना होता है ताकि वह स्वप्न-सामग्री में बुन दिया जाए।

जैसा बर्गसन कहते हैं, प्रत्यक्ष में हम अत्यन्त परिशुद्धता और सूक्ष्मता के साथ अपनी स्मृतियों में से चुनाव करते हैं, उन सबको अस्वीकार करते हुए जो वर्तमान अवस्था के अनुकूल नहीं हैं। किन्तु स्वप्न-दर्शन में स्मृतियों का चुनाव बिना किसी वास्तविक रुचि के किया जाता है, अथवा, अधिक यथार्थता से कहें तो, बहुत कुछ स्मृति के तंत्र पर ही छोड़ दिया जाता है, क्योंकि निद्रा के प्रति प्रवृत्त अहं की रुचियाँ सूक्ष्म परिशुद्धता और निर्णय के कार्य के प्रतिकूल होती हैं।

बर्गसन आगे हमें बताते हैं:—

"स्वप्न की असंबद्धता मुझे पर्याप्त सरलता से समझाई जा सकने योग्य प्रतीत होती है। चूँकि स्वप्न का लक्षण यह है कि वह स्मृति-चित्र और संवेदना के बीच पूर्ण समायोजन की माँग नहीं करता, अपितु, इसके विपरीत, दोनों के बीच कुछ खेल की छूट देता है, अतः बहुत भिन्न-भिन्न स्मृतियाँ एक ही संवेदना के अनुकूल हो सकती हैं। उदाहरणार्थ, दृष्टि-क्षेत्र में एक हरा धब्बा श्वेत बिन्दुओं के साथ हो सकता है। यह श्वेत फूलों से बिखरा एक लॉन हो सकता है, यह अपनी गेंदों सहित एक बिलियर्ड-मेज़ हो सकती है। यह इनके अतिरिक्त और भी अनेक

वस्तुएँ हो सकती हैं। ये भिन्न-भिन्न स्मृति-चित्र, सभी उसी संवेदना का उपयोग करने में सक्षम, उसका पीछा करते हैं। कभी-कभी वे एक के बाद एक उस तक पहुँच जाते हैं। और इस प्रकार लॉन बिलियर्ड-मेज़ बन जाता है, और हम इन असाधारण रूपांतरणों को देखते रहते हैं। प्रायः ऐसा एक ही समय में और सर्वथा एक साथ होता है कि ये स्मृति-चित्र संवेदना से जुड़ते हैं, और तब लॉन एक बिलियर्ड-मेज़ होगा। इसी से वे बेतुके स्वप्न उत्पन्न होते हैं जिनमें कोई वस्तु जैसी है वैसी ही बनी रहती है और साथ ही कुछ और भी बन जाती है। जैसा मैंने अभी कहा, मन, इन बेतुके दृश्यों के सम्मुख, एक स्पष्टीकरण खोजता है और प्रायः इस प्रकार असंबद्धता को और भी बढ़ा देता है।"

कालावधि की भावना के लोप के संबंध में, प्रोफ़ेसर बर्गसन इंगित करते हैं:—

"जब हम जागृत होते हैं तो हम अपने साथियों के साथ एक समान जीवन जीते हैं। इस बाह्य और सामाजिक जीवन के प्रति हमारा ध्यान हमारी आन्तरिक अवस्थाओं के अनुक्रम का महान् नियामक है। यह घड़ी के संतुलन-चक्र (बैलेंस-व्हील) के सदृश है, जो स्प्रिंग के अखंड, लगभग तात्क्षणिक तनाव को नियमित करता और नियमित खंडों में विभाजित करता है। यही संतुलन-चक्र स्वप्न में अनुपस्थित होता है।"

अब तक स्वप्नों के मानसिक उपकरण के विषय में हमारे द्वारा निकाले गए निष्कर्षों का सार यह है कि प्रत्यक्ष में जो मानसिक शक्तियाँ सम्मिलित होती हैं, वही स्वप्न-दर्शन में भी सम्मिलित होती हैं, बशर्ते हम यह न भूलें कि मन के तीन अवयवों में से बुद्धि तंद्राग्रस्त* और क्लान्त होती है, इच्छा-शक्ति उस बालक के सदृश होती है जो खेलना तो चाहता है किन्तु अपने आस-पास सोए हुओं को जगाने से डरता है, और ध्यान एक निशा-दीप का रूप धारण कर लेता है, जो मन्द और धुँधला जलता हुआ चारों ओर रहस्यमय छायाएँ डालता है। हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि यह त्रिविध विभाजन तीन पृथक् और सर्वथा स्वतंत्र सत्ताओं अथवा अंगों को निरूपित करने के लिए अभिप्रेत नहीं है; समस्त मानसिक क्रियाकलापों में कार्यरत तत्त्व एक ही है — बुद्धि की शक्ति, बल अथवा सामर्थ्य — यद्यपि भिन्न-भिन्न अवस्थाओं और पक्षों में इसे भिन्न-भिन्न नामों से जाना जाता है। अतः, जब भी हम मन के विभिन्न पक्षों के बीच की सीमाओं के निर्धारण में कठिनाई में पड़ें, तो यह विचारणीय होगा कि क्या हम वास्तव में विचार में ऐसा विभाजन, सीमाओं और परिधियों सहित, करने का प्रयत्न तो नहीं कर रहे, जो प्रकृति द्वारा एक-दूसरे से इस प्रकार पृथक् किए जाने के लिए अभिप्रेत ही नहीं हैं।

*गहरी निद्रा में बुद्धि इच्छा-शक्ति में विलीन हो जाती है, जो सुप्त और निष्क्रिय हो जाती है, और ध्यान को, मानो, बुझा दिया जाता है। गहरी निद्रा में बुद्धि के इसी स्थगन के तथ्य को प्राचीन यहूदी लेखकों ने कैन के नोद देश में अपना घर बसाने के रूपक द्वारा प्रतीकित किया था, जैसा पूर्व के एक अध्याय में पहले ही समझाया जा चुका है।*

अब हम अपने प्रस्तुत अध्याय के शीर्षक को जन्म देने वाली कथा के स्पष्टीकरण की ओर उन्मुख हो सकते हैं।

बाइबिल की त्रित्व वास्तविक सत्ताओं का निरूपण नहीं करती, अपितु 'पतन' की कथा के समान गुप्त रूपक में प्रस्तुत एक गूढ़ सिद्धान्त है, यह त्रित्व-मंडल की स्वयं संरचना से ही स्पष्ट है, जिसमें (१) एक पिता, (२) एक पुत्र, और (३) एक भूत सम्मिलित हैं; क्योंकि जीवित प्राणियों और एक प्रेत के बीच कोई साझेदारी नहीं हो सकती, चाहे वह प्रेत पवित्र ही क्यों न हो। किन्तु इस विचार को शाब्दिक अर्थ में स्वीकार करने पर यही एकमात्र आपत्ति नहीं है; क्योंकि इस पहेली-सम्पन्न निकाय के प्रत्येक सदस्य को आगे यह भी माना गया है कि वह शेष दोनों में व्याप्त है, और तीनों संकुचित, या संकोच्य, होकर एक हो जाते हैं। किन्तु किसी भी वाक्पटुता या चातुर्य से यह कभी संभव नहीं हो सकता कि युक्तिसंगत बुद्धि उस रीति को ग्रहण कर सके जिससे, अथवा उस विधि को जिसके द्वारा, तीन व्यष्टिताएँ पृथक् और भिन्न रहते हुए भी एक में समाहित हो जाती हैं। न ही हम उस प्रकार के संबंध की कल्पना कर सकते हैं जो पिता और पुत्र शब्दों से अभिप्रेत है जबकि दोनों को काल की दृष्टि से समकालिक माना गया है। इन भ्रमोत्पादक तत्त्वों पर जितना अधिक चिंतन किया जाए, उतना ही अधिक यह विश्वास दृढ़ होता जाता है कि यह वर्णन देवताओं या मनुष्यों के किसी परिवार का ज्ञान मानव-मन तक पहुँचाने के लिए अभिप्रेत नहीं है, और कभी था भी नहीं — ऐसा परिवार जो उर्वर प्रकृति की और मनुष्य की समान रूप से उर्वर कल्पना की समस्त सनकों को भी मात दे दे। इसके विपरीत, प्रयुक्त शब्द और परिभाषित विशेषताएँ स्पष्ट रूप से किसी ऐसे तत्त्व, शक्ति अथवा वस्तु की मानसिक अवधारणा की ओर संकेत करती हैं जिसे तीन भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से देखा जा सके, यद्यपि जिसे उतने ही अनेक पृथक् खण्डों में विभाजित नहीं किया जा सकता।पवित्र त्रित्व की मूल अवधारणा जीवन के तीन भिन्न-भिन्न पक्षों की है, जो स्वभाव से संभाव्य दिव्यत्व से संपन्न है। यह संभाव्य दिव्यत्व, आत्मा के पश्चात्वर्ती वास्तविक ईश्वरत्व का आदर्श होने के साथ-साथ उसका स्रोत, अर्थात् द्रव्यगत कारण भी होने के कारण, पवित्र त्रित्व का प्रथम सदस्य — पिता — है। पुत्र स्वाभाविक रूप से उस आत्मा का प्रतिनिधित्व करता है जिसने मृत्यु पर विजय पाई है और 'उस लोक तथा मृतकों में से

पुनरुत्थान' को प्राप्त किया है (लूका २०:३६; रोमियों ८:१४); क्योंकि तब वह संत पौलुस की सारगर्भित भाषा में 'ईश्वर का उत्तराधिकारी' बन जाता है (रोमियों ८:१७)। अब, चूँकि आत्मा का संभाव्य दिव्यत्व केवल उन्हीं द्वारा साकार किया जाता है जो निर्वाण प्राप्त करते हैं, दूसरे शब्दों में, चूँकि ईश्वरत्व केवल उसी आत्मा द्वारा प्रकट में लाया जाता है जो 'ईश्वर का उत्तराधिकारी' बनती है, अतः पुत्र ही अकेला पिता का प्रकाशक है। तदनुसार बाइबिल हमें बताती है:—

> "किसी ने कभी परमेश्वर को नहीं देखा; एकलौता पुत्र, जो पिता की गोद में है, उसी ने उसे प्रकट किया है।" — यूहन्ना १:१८

अब, चूँकि काल की दृष्टि से वास्तविक संभाव्य का उत्तरवर्ती है, अतः प्रकटीकरण में दिव्यत्व, संभाव्यता में स्थित दिव्य के साथ उत्तराधिकारी अथवा पुत्र के संबंध में खड़ा है, जहाँ से पौलुसीय रूपक — ईश्वर का उत्तराधिकारी — उत्पन्न होता है। तथापि, जहाँ तक प्रकट और अप्रकट केवल उसी वस्तु के, जो द्रव्यतः एक ही है, दो भिन्न-भिन्न पक्षों का ही प्रतिनिधित्व करते हैं, अर्थात्, चूँकि पुत्र केवल पिता की 'गोद' से ही निकलता है, जैसे कोई मूर्ति खुरदुरे पत्थर से निकलती है, अतः यह नहीं कहा जा सकता कि पुत्र पिता के जीवन के किसी भी क्षण में अस्तित्वहीन रहा हो।

पवित्र त्रित्व का तीसरा सदस्य शाब्दिक अर्थ में पवित्रता की आत्मा है। जैसा पूर्व के एक अध्याय में देखा जा चुका है, त्याग, अर्थात् कठोर आत्म-संयम और आत्म-निषेध, हमें उस पूर्णता तक पहुँचाने के लिए आवश्यक हैं जिसमें हमारा उद्धार और पवित्रता निहित है। वैराग्य (त्याग) की भावना से ओतप्रोत आत्मा, अथवा, दूसरे शब्दों में वही बात — पूर्णविकसित इच्छा-शक्ति — तब दिव्य त्रित्व का तीसरा सदस्य है। जब व्यष्टि इच्छा-शक्ति त्याग और आत्म-निषेध में पूर्णता तक विकसित हो जाती है, तब अंतिम मुक्ति प्राप्त होती है, जो आत्मा को शुद्ध, दीप्तिमान तेज के रूप में, पूर्ण और अखंड, तथा किसी भी प्रकार के भौतिक शरीरों के भार से मुक्त होकर, निर्वाण में प्रवेश करने में समर्थ बनाती है। त्याग में अखंड और पूर्ण होने के कारण वह पवित्र है, और एक शुद्ध निकाय-रहित आत्मा के रूप में वह एक भूत (प्रेत) है, जहाँ से पवित्र त्रित्व का तीसरा सदस्य — पवित्र भूत (होली घोस्ट) — उत्पन्न होता है।

बाइबिली त्रित्व की मूल अवधारणा यही है, जो न केवल एक कुशल पौराणिक रूपक के रूप में सुन्दर है, अपितु सत्य के भी सर्वथा अनुरूप है। संसार द्वारा इस सिद्धान्त के वास्तविक तात्पर्य को दृष्टि से खो बैठने का कारण संभवतः ग्रीक स्रोतों से प्राप्त एक हीनतर मूल्य की अशुद्ध

अवधारणा के मूल स्तंभ पर आरोपित हो जाने में खोजा जा सकता है। यह पश्चातवर्ती अवधारणा वाणी (शब्द, Word) की है, जो चौथे गॉस्पेल की विशिष्टता है।

प्लेटोवादी दार्शनिक, जिन्होंने अपनी दार्शनिक यात्राएँ किसी देवता की आज्ञा के अनुपालन में वस्तुओं के एक प्रथम आरंभ की कल्पना से आरंभ कीं, परम सत्ता के सृजनात्मक विचारों की कल्पना लोगोई (logoi) के रूप में करते थे, जो, जब एक ही मानसिक क्रिया अथवा विचार के रूप में कल्पित किए जाते, तो लोगोस (Logos) बन जाते; और संत यूहन्ना जैसे प्रारंभिक ईसाइयों ने, भाषा और विचार की अविभाज्य प्रकृति को पहचानते हुए, ग्रीक लोगोस की कल्पना वाणी (Word) के रूप में की (मैक्स म्यूलर, 'वेदांत फिलॉसफी', पृष्ठ १४१-१४२)। वाणी की धारणा यह है कि ईश्वर ने लोगोस द्वारा, अर्थात् एक वाणी द्वारा, अथवा अनेक वाणियों — लोगोई, अर्थात् प्लेटो के विचारों — द्वारा जगत् की रचना की। भारत में वाक् (उच्चरित विचार, अतः शब्द) को संत यूहन्ना द्वारा वाणी की कल्पना किए जाने से बहुत पहले सृष्टिकर्ता के प्रथम प्राकट्य के रूप में पहचाना जा चुका था। मैत्रायणी उपनिषद् (६.२२) में, जिसे मैक्स म्यूलर ने 'वेदांत फिलॉसफी' के पृष्ठ १५४ पर उद्धृत किया है, दो ब्रह्मों को ध्यान का विषय बताया गया है, जिनमें से एक को शब्द (वाणी) और दूसरे को अशब्द (अवाणी) कहा गया है। उपनिषद् आगे यह भी प्रतिपादित करता है कि शब्द ही अशब्द को प्रकट कर सकता है।

जब पुत्र की संज्ञा सृजनात्मक लोगोई के व्यक्तित्व-रूप पक्ष पर लागू होने लगी, तो वाणी भी पवित्र त्रित्व के एक सदस्य के रूप में पहचानी जाने लगी। यह हमें प्रोफेसर मैक्स म्यूलर के प्रामाण्य पर प्राप्त है:—

> "सिकंदरिया के दार्शनिक के अनुसार, वह दिव्य सत्ता है जो वाणी द्वारा प्रकट होती है, और वाणी जो अकेली उसे प्रकट करती है। अपनी अप्रकट अवस्था में वह अज्ञात है, और कुछ ईसाई दार्शनिकों द्वारा पिता कहलाई गई; अपनी प्रकट अवस्था में वह दिव्य लोगोस अथवा पुत्र थी।" — वेदांत फिलॉसफी, पृ. १५४

इस प्रकार, दिव्य सत्ता की अप्रकट अवस्था पिता कहलाती है, और प्रकट अवस्था पुत्र, क्योंकि यह उसका सर्वप्रथम प्राकट्य है। अब, चूँकि दिव्य सत्ता के प्रकट पक्ष को यहाँ एक निम्नतर तल पर दिव्य विचार माना गया है, अतः पुत्र ग्रीक दार्शनिकों के लोगोस के समान है। और, चूँकि एक विचार चेतना में एक प्रस्तुति है, अतः उसे इच्छा-शक्ति की क्रियाशीलता का

परिणाम माना जाना चाहिए, जो, जैसा पहले देखा जा चुका है, मन अथवा कल्पना के संदर्भ में ऊर्जा की हमारी अवधारणा का प्रतिनिधित्व करती है। अतः, जब कल्पना का उसके तीन अवयवों में विश्लेषण किया जाता है, और चेतना तथा विचार को पृथक्-पृथक् स्थान दिए जाते हैं, किन्तु विचार-निर्माण अथवा इच्छा-शक्ति को कोई नहीं, तब हमें दो ब्रह्म प्राप्त होते हैं — प्रकट और अप्रकट। यदि, हालाँकि, केवल चेतना और विचार-निर्माण को ही दृष्टि में रखा जाए, तो ब्रह्म और वाक् वे नाम हैं जिनसे वे क्रमशः जाने जाते हैं। वाक् को सामान्यतः सृष्टिकर्ता की पुत्री कहा गया है, जिसे, तथापि, निरपेक्ष होने के आधार पर, न तो पुल्लिंग माना गया है न स्त्रीलिंग।

यदि हम अब जगत् की कल्पना एक स्वप्न के स्वभाव की करें, तो हम सरलता से देख सकते हैं कि ब्रह्मा अथवा ईश्वर को उसका सृष्टिकर्ता कैसे कहा जा सकता है। क्योंकि एक सर्वग्राही विचार की, स्वप्न की रीति में, प्रकाशित होने के रूप में कल्पित होने के कारण, उसे ब्रह्मा — ज्ञान अथवा विचार के सामूहिक पक्ष के व्यक्तिरूप — की सृष्टि कहे बिना नहीं रहा जा सकता। इसी अर्थ में संत यूहन्ना लिखते हैं:

> "सब कुछ उसी [वाणी] के द्वारा बना, और जो कुछ बना है, उसमें से कुछ भी उसके बिना नहीं बना।" (यूहन्ना १:३)

दोनों प्रणालियों — भारतीय और ग्रीक — के विचार की और भी गहरी समरूपता निम्नलिखित तालिका से सर्वाधिक विस्मयकारी रूप से प्रकट होगी, जिसमें हम उनके निष्कर्षों की तुलना संत यूहन्ना की तात्त्विक अवधारणाओं तथा कल्पना के मनोवैज्ञानिक अवयवों के साथ, पास-पास रखकर करेंगे:

**वेदांत — ब्रह्म / ईश्वर अथवा ब्रह्मा, तथा लोगोस अथवा वाक्****ग्रीक दर्शन — ईश्वर, तथा वाणी (लोगोस)****संत यूहन्ना — परमेश्वर, तथा वाणी (शब्द)****मनोविज्ञान — चेतना (इच्छा-शक्ति सहित), तथा विचार, अथवा सामूहिक रूप से ज्ञान***

अर्थात्, संत यूहन्ना की वाणी वही वस्तु है जो वेदांत का ईश्वर, ग्रीक दार्शनिकों का लोगोस, और मनोविज्ञान का 'विचार' है। हिन्दू शास्त्र घोषित करते हैं कि सृष्टिकर्ता प्रजापति यह सब कुछ (भ्रम की राशि, अर्थात् विचार) था, और संत यूहन्ना कहते हैं कि वाणी परमेश्वर के साथ थी और परमेश्वर ही थी। ब्रह्म और वाक् के सह-अस्तित्व के विषय में, हिन्दू शास्त्र वही सिखाते हैं जो नीतिवचन की पुस्तक (८:२२-३०) में व्यक्त है, जिसमें से हमें केवल निम्नलिखित उद्धृत करना पर्याप्त होगा:

"जब उसने आकाशों को स्थापित किया, तब मैं वहाँ थी; जब उसने गहराई के ऊपर एक परिधि खींची;

"तब मैं उसके पास, उसके साथ पली-बढ़ी, थी, और नित्य उसका आनन्द बनी हुई, सदा उसके सम्मुख हर्षित रहती थी।"

हिन्दू शास्त्र सिखाते हैं:—

"प्रजापति, सृष्टिकर्ता, यह सब कुछ था। उसके पास स्वयं की वाक् थी, एक द्वितीय के रूप में, अथवा, बाइबिल की भाषा में, उसके साथ पली-बढ़ी हुई एक के रूप में।" — (वेदांत फिलॉसफी, पृ. १४७)

इस प्रकार, हिन्दू धर्म और ईसाई धर्म दोनों के अनुसार पिता और पुत्र समकालिक हैं, और यह नहीं कहा जा सकता कि वे काल के भिन्न-भिन्न बिन्दुओं पर अस्तित्व में आए।

तात्त्विक अथवा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का भी, जब उसे अन्तिम सीमा तक ले जाया जाए, वही परिणाम निकलता है; क्योंकि चेतना की कल्पना कभी भी विचारों से सर्वथा रहित के रूप में नहीं की जा सकती।

अब हम अद्वैत वेदांत और द्वैतवादी सांख्य के संप्रदायों के बीच एक मध्यवर्ती बिन्दु पर अपना स्थान ग्रहण करेंगे, ताकि हम उस विचार-सरणि का और अनुसरण कर सकें जिसने हमें ये अत्यन्त रोचक और शिक्षाप्रद सिद्धान्त और कथाएँ प्रदान की हैं। यह पद्धति हमें कुछ हद तक, प्रथम दृष्टया, भ्रम में डाल सकती है; किन्तु हमें इस और आगामी अध्यायों में इसे सुधारने का पर्याप्त अवसर प्राप्त होगा। धार्मिक सिद्धान्तों के अन्तर्निहित विचार-सौन्दर्य की सराहना करने के लिए यह सदैव आवश्यक है कि हम स्वयं को उन लेखकों के ही स्थान पर रखें, और उनके विचारों में, उन्हीं की रेखाओं पर, उनका अनुसरण करें।

जगत्-प्रक्रिया के एक अनुमानित आरंभ से, और निरपेक्ष को एकमात्र सत्ता मानकर आरंभ करते हुए, हम कह सकते हैं कि जिस पदार्थ से ब्रह्मांड बना है वह माया की, अर्थात् विचार अथवा भ्रम की शक्ति की, वस्तुनिष्ठता है। इससे हमें आत्मा और पदार्थ की प्रथम द्वैतता प्राप्त होती है, जहाँ से सांख्य दर्शन के अनुयायी अपनी अन्वेषणा आरंभ करते हैं। मूसा की प्रथम पुस्तक के संकलनकर्ता भी इसी बिन्दु से आगे बढ़ते हैं, और कहते हैं:—

"और पृथ्वी बेडौल और सुनसान थी; और गहरे जल के ऊपर अंधकार था। और परमेश्वर की आत्मा जल के ऊपर मंडरा रही थी।" (उत्पत्ति १:२)

इस अवस्था में आत्मा और पदार्थ के बीच कोई पारस्परिक क्रिया नहीं थी, और फलस्वरूप पृथ्वी सुनसान और बेडौल थी, और नामों और रूपों का ब्रह्मांड अस्तित्वहीन था। किन्तु अगली अवस्था तक पहुँचने के लिए बाइबिली वर्णनकर्ता तुरन्त अपने ईश्वर की इच्छा के देउस एक्स माकिना (यंत्र-देवता) का सहारा लेते हैं, और सांख्य संप्रदाय के संस्थापक पदार्थ पर आत्मा के प्रतिबिंब का। पहला, तथापि, यह स्पष्ट नहीं करता कि जो ईश्वर अनन्तता की समस्त अकल्पनीय अवधि में केवल गहराई के ऊपर मंडराते रहने से ही संतुष्ट रहा था, वह अचानक अपना मन क्यों बदल बैठा और स्वयं को सृष्टिकर्ता के रूप में क्यों स्थापित कर बैठा; किन्तु दूसरा ब्रह्मांड की सृष्टि और संहार के अनुक्रमों के आधार पर आगे बढ़ता है। दोनों ही उस बल की प्रकृति की उपेक्षा करते हैं जिसने आत्मा और पदार्थ को उनकी पारस्परिक क्रिया को संभव बनाने के लिए एक-दूसरे के निकट सान्निध्य में बाँधे रखा। बाइबिली अभिलेख के पास भी इस पारस्परिक क्रिया की प्रक्रिया के विषय में कुछ कहने को नहीं है, और यह मौन है कि ईश्वर की इच्छा ने जगत् की सृष्टि कैसे की।

हिन्दू तत्त्वमीमांसा के एक निश्चित संप्रदाय के अनुसार, ब्रह्म का अपनी ही स्वयं की चेतना जगत्-प्रक्रिया का कारण है। इस कथन के मूल में निहित विचार के यथार्थ तात्पर्य को समझने के लिए हमें कल्पना को विचारों से पृथक् करके देखना होगा। ऐसा करने पर, इसकी कल्पना शुद्ध चेतना के रूप में की जाती है, जो स्वयं के प्रति सचेत है। अतः, जगत्-प्रक्रिया के लिए एक आरंभ-बिन्दु मानते हुए, आरंभ में ब्रह्म को अपने अस्तित्व के प्रति सचेत एक सत्ता के रूप में, अथवा अपने आप से 'मैं हूँ' सोचते या कहते हुए, चित्रित करना होगा। यह संस्कार, अथवा विचार, तुरन्त एकत्व और सत्ता (अस्तित्व) के विचारों को अन्तर्निहित करता है, और, अनुमान के बल से, जो समझ से अविभाज्य है, आगे 'अनेकत्व' के, एकत्व के विपरीत के रूप में, तथा असत्ता (अनस्तित्व) के, सत्ता (अस्तित्व) के विपरीत के रूप में, निषेध को भी अन्तर्निहित करता है। इस प्रकार, 'मैं हूँ' का भाव है 'मैं एक हूँ, अनेक नहीं,' और 'मैं अनस्तित्वमान नहीं हूँ।' किन्तु इसी 'मैं-हूँ-पन' की विचार-निर्मिति में संपूर्ण उपद्रव निहित है; क्योंकि विचार आते ही समझ अनेक असत् के प्रति सचेत हो जाती है, और इस प्रकार बहुविध अनात्म (नॉट-सेल्फ) उसके गर्भ में, एक विचार अथवा भ्रम के रूप में, कल्पित हो जाता है, यद्यपि केवल खण्डित किए जाने के

लिए ही। अब विचार 'मैं हूँ, यह नहीं' का रूप ले लेता है, जो संस्कृत के 'अहं एतत् न' (मैं यह नहीं) के समतुल्य है। इस विचार को एक ही शब्द — सत्य — द्वारा भी व्यक्त किया गया है, जो तीन अक्षरों से बना है — स, त्, और य — स अविनाशी स्व का द्योतक है, त् नाशवान का, और य स और त् के बीच के संबंध अथवा संयोजन का। 'मैं यह नहीं' का 'यह' समस्त भ्रामक सत्ताओं की समष्टि को, अर्थात् भ्रम के संपूर्ण ब्रह्मांड को, निर्दिष्ट करता है।

यही वह रीति है जिससे एक अनेक बन जाता है, अथवा, अधिक यथार्थता से कहें तो, अनेक के रूप में प्रतीत होता है। इससे उस भ्रम की स्थिति भी स्पष्ट होती है जो, बृहदारण्यक उपनिषद् (अध्याय ५.५.१) की भाषा में, 'सत्य' के मध्य में है, अर्थात् स और य के बीच — असत्य की एक परत, जो दोनों ओर से सत्य से घिरी हुई है, दूसरे शब्दों में, चेतना और विचार-शक्ति की छायामय उपज।

यदि हम आगे सृष्टि, अथवा प्राकट्य, और संहार के अनुक्रम को मान लें, तो हमें इस विचार की क्रियान्विति का अनुसरण करना सरल हो जाएगा। जिस क्षण चेतना निश्चलता की निद्रा से जागी और उसमें सत्ता का विचार उठा, उसी क्षण लय की वह संतुलित अवस्था, जिसमें प्रलय के दौरान ऊर्जा शान्त होकर विलीन हो गई थी, स्पंदनों में फूट पड़ी, और जीवन सर्वत्र प्रकट होने लगा। जीवन-ऊर्जा के 'जन्म' के साथ ही 'मैं' का विचार भी उत्पन्न हुआ, जिसे उसके विपरीत, 'मैं-नहीं' के निषेध के पश्चात् ही समझा जा सकता है। अब, चूँकि किसी वस्तु का निषेध बिना उसे, चाहे वह कितनी ही काल्पनिक अथवा अनुमानिक क्यों न हो, एक स्थानिक अस्तित्व और नाम दिए, नहीं किया जा सकता, अतः कल्पना को 'मैं-नहीं' की सृष्टि करनी पड़ी, ताकि समझ 'मैं' के तात्पर्य को ग्रहण कर सके। इसी रीति से अनात्म की समष्टि में भ्रामक रूपों की विविधता की सृष्टि हुई।

जब चेतना, मानो, स्व-चेतना की लय में विलीन अथवा लुप्त हो जाती है, तो वह 'मैं-नहीं' की चेतना खो देती है, और आनन्द-समाधि अथवा निद्रा की तंद्रा से मिलती-जुलती एक अवस्था उत्पन्न होती है जिसमें स्व कुछ भी नहीं जानता, अर्थात्, उस अवस्था में वह सुनिश्चित रूप से जानता है कि 'कुछ नहीं' का क्या तात्पर्य है, अर्थात् नाम और रूप के भेद के बिना, समग्र अनात्म; क्योंकि स्व की सत्ता की सामर्थ्य और आवश्यकता चेतना के एक अखंड कार्य अथवा तथ्य में, इस 'कुछ नहीं' को, एक शुद्ध अनात्म को, उस स्व के सम्मुख निरन्तर बनाए रखती है ('द साइंस ऑफ

पीस', पृ. ११०)। इस अवस्था की तुलना उस निद्रा से नहीं की जानी चाहिए जिससे हम परिचित हैं। यह एक विस्मयकारी 'निद्रा' है; यह अंधकार, जड़ता अथवा अज्ञान की निद्रा नहीं, अपितु प्रकाश की निद्रा है। यह स्वयं चेतना की निद्रा है, और, चूँकि चेतना और उसका स्वभाव अविभाज्य हैं, अतः यह सजगता-सहित निद्रा है।

जगतों की यह निरन्तर सृष्टि और संहार लीला, अर्थात् ब्रह्म की क्रीड़ा, कहलाती है; तथापि, वह इसमें क्रीड़ा के लिए रत नहीं होता, अपितु इसलिए कि यह उसका स्वभाव है। जब यह कहा जाता है कि वह विचार से जगत् की सृष्टि करता है — 'मैं एक हूँ, मैं अनेक बन जाऊँ' — तो इसका वास्तविक तात्पर्य यह नहीं कि वह अकेलापन अनुभव करता है, अथवा उसे संगति की कोई लालसा है, अपितु केवल यह कि सृष्टि एक आवश्यकता का विषय है जो उसके मन में अपने ही एकत्व के विचार से उत्पन्न होती है। अतः, जो सृष्ट की दृष्टि से एक आवश्यकता अथवा नियम है, वह यथार्थता की दृष्टि से केवल क्रीड़ा है। अतः, जब यह कहा जाता है कि 'उसमें सर्वप्रथम इच्छा उठी जो मन का आद्य बीज थी,' तो 'इच्छा' शब्द उस अर्थ में प्रयुक्त नहीं है जिसमें उसे साधारणतः मनुष्यों द्वारा प्रयुक्त किया जाता है, अपितु ब्रह्म के सुख अथवा इच्छा-शक्ति (संस्कृत की 'इच्छा') के भाव को व्यक्त करने के लिए।

जैसे प्रत्येक प्राणी अपने स्वाभाविक कार्य के पूर्ण निर्वाह में संलग्न होने पर सुख का अनुभव करता है, वैसे ही शुद्ध चेतना-स्वरूप ब्रह्म का सुख स्व-चेतना के अखंड विचार में निहित है। अब, चूँकि यथार्थ ज्ञान की आवश्यकता के कारण हमारे विचार के पदों को परिभाषित करना आवश्यक हो जाता है, और चूँकि किसी वस्तु का पूर्ण ज्ञान तभी संभव है जब उसे उन सबसे, जो वह नहीं है, विपर्यस्त किया गया हो, अतः प्रत्येक विचार अपने ही निषेध को अपने भीतर समाहित करता है। इस प्रकार, एकत्व की परिभाषा अपने ही विपरीत को अपने भीतर अन्तर्निहित करती है, यद्यपि इस 'स्वयं से अन्य' द्वारा सेवित प्रयोजन केवल इतना ही है कि अपने काल्पनिक विपरीत के प्रत्याख्यान द्वारा उसके अर्थ को अधिक स्पष्ट किया जा सके (देखें प्रणव वाद, खण्ड २, पृ. २४०-२४१)।

'मैं हूँ' अथवा स्व की चेतना के जागरण के साथ, समझ, मकड़ी के समान, अपने भीतर से ही सामग्री और सब कुछ उत्पन्न करते हुए, अपना जगत्-जाल बुनना आरंभ कर देती है। इसकी आवश्यकता, जैसा पहले ही देखा जा चुका है, स्व-निर्वचन की प्रक्रिया में निहित है, जो 'मैं यह

नहीं' के निर्णय में परिणत होती है। 'यह' की सृष्टि के साथ, जो 'मैं' का विपरीत है, इच्छा-शक्ति, मानो, उस काल्पनिक बहुविध 'यह' की ओर दौड़ पड़ती है, और समझ, दोनों पर स्थिर होकर, यह घोषणा करती है — 'मैं (हूँ) यह नहीं।' इस प्रकार, जगत्-निर्माण की प्रक्रिया में तीन चरण हैं, अर्थात्:

(१) तनाव का शिथिल होना,(२) 'यह' का असंख्य खंडों में, अर्थात् निकायों और वस्तुओं में, विभाजित होना, और(३) 'यह' का, अर्थात् पदार्थ के असंख्य विविध रूपों का, एक साथ स्वीकरण और निषेध।

हम इन चरणों को जीवन की क्रियाशीलता की तीन तरंगें* कह सकते हैं।

*ऊपर वर्णित तीन जीवन-तरंगें थियोसॉफिस्टों की तीन जीवन-तरंगों से थोड़ा भिन्न हैं, किन्तु यह अन्तर शायद ही किसी महत्त्व का हो। कहा जाता है कि तीसरी तरंग ऊपरी मानसिक तल से नीचे नहीं उतरती; किन्तु हमें ऐसा प्रतीत होता है कि यह कथन तभी सार्थक होता है जब इसे उसके प्रकट पक्ष पर लागू किया जाए, न कि उसके सुप्त पक्ष पर। क्योंकि, यदि जिस उद्गम-स्थल से ये धाराएँ प्रवाहित होती हैं वह एक सर्वव्यापी सत्ता अथवा वस्तु है, तो वे प्रकृति में सर्वत्र उपस्थित होनी ही चाहिए। यदि हम तीन लोगोई के स्थान पर इच्छा, प्रज्ञा और क्रिया शब्दों का प्रयोग करें, तो हमें यह स्वीकार करना होगा कि ये तीनों, एक ही यथार्थ के भिन्न-भिन्न पक्ष होने के कारण, एक-दूसरे में व्याप्त हैं, और प्रत्येक पक्ष में शेष दोनों भी, यद्यपि सुप्त अथवा उपसुप्त रूप में, उपस्थित रहते हैं। इसके अतिरिक्त, यदि मनुष्य अपने भीतर आध्यात्मिक तत्त्व को इस प्रकार विकसित कर सके कि उच्चतर मानसिक तल पर अपनी आत्मा का शुद्ध आत्मा के साथ 'विवाह' संपन्न हो सके, तो उसमें आत्मा का तत्त्व पहले से ही विद्यमान होना चाहिए, क्योंकि असदृश वस्तुओं के बीच उचित मिलन संभव नहीं है। इस प्रकार, तीसरी जीवन-तरंग के मानसिक तल के 'अरूप' स्तर से नीचे न उतरने का तात्पर्य यह है कि शुद्ध आत्मा, इस रूप में, निर्दिष्ट तल से नीचे के क्षेत्रों में नहीं उतरती, यद्यपि अपनी सुप्त अथवा उपसुप्त अवस्था में वह सर्वव्यापी है। जब व्यष्टि आत्मा आध्यात्मिक बना दी जाती है, और उसकी चेतना आध्यात्मिक तल पर जागृत हो जाती है, तो वह एक ऐसी वधू के समान होती है जो सुसज्जित होकर स्व के साथ अपने मिलन के लिए तैयार है। थियोसॉफिकल साहित्य में वर्णित तीसरी जीवन-तरंग का तात्पर्य हम कम-से-कम इसी प्रकार समझते हैं। इस सिद्धान्त की योग्यता के विषय में, पाठक व्यापन (pervasion) के सिद्धान्त से संबंधित सत्य से पहले ही परिचित है।*

इन जीवन-तरंगों में से, दूसरी 'यह' की सघनता को सूक्ष्म खंडों में विभाजित करने से संबंधित है, जिनके समूहन से असंख्य संयोजन और रूप उत्पन्न होते हैं; किन्तु तीसरी का कार्य दोहरा है। पहला, वह पदार्थ के असंख्य संयोजनों और परमाणुओं में, कल्पना में उनके अस्तित्व के संज्ञान और स्वीकरण के कार्य में, इच्छा-शक्ति का प्रवाहन है, और दूसरा, उनके निषेध की प्रक्रिया में उनसे दूर हटना अथवा पीछे हटना है। इच्छा-शक्ति की ये दोनों गतियाँ — अर्थात् पदार्थ की ओर की गति, और स्व की ओर की गति जिसमें वह, मानो, पदार्थ की ओर पीठ फेर लेती है —

निरन्तर और शाश्वत हैं, और इन्हें कालक्रमिक घटनाओं के रूप में नहीं, अपितु समकालिक रूप में समझा जाना चाहिए। इच्छा-शक्ति और 'यह' के बीच का यह निरन्तर परस्पर-व्यापार, जो उत्तरार्ध के एक साथ स्वीकरण और निषेध में निहित है, विकास का कारण है।

> *यहाँ जो सुझाव दिया गया है वह यह प्रतीत होता है कि ब्रह्मांड एक चलचित्र-प्रदर्शन के सदृश है। विचार यह है कि यदि हम अपने प्रत्यक्षों के स्वभाव में झाँकें, तो हमें इस तथ्य का बोध होगा कि जगत् हमारे सम्मुख प्रस्तुतियों, अथवा क्षणों, के एक अनुक्रम में प्रस्तुत किया जाता है, जिनमें से प्रत्येक एक संपूर्ण चित्र का निर्माण करता है, किन्तु इन चित्रों का अनुक्रम इतना तीव्र है कि मन, जब तक सूक्ष्म अवलोकन में प्रशिक्षित न हो, अनुक्रम के तथ्य को पहचानने में असफल रहता है, और, क्रमवर्ती चित्रों में सामान्य तत्त्वों अथवा सादृश्य के लक्षणों के मिश्रण से भ्रमित होकर, इस विहंगम-दृश्य को मानो उसमें काल और स्थान में एक स्थिर निरन्तरता हो, इस रूप में देखता है। क्षणों के अनुक्रम में जो कुछ गतिशील, प्रगतिशील, विकासशील और विघटनशील प्रतीत होता है, वह वही है जिसके संबंध में क्रमवर्ती चित्र एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। इसी से रूपों के ब्रह्मांड की यथार्थता और स्थायित्व का भ्रम उत्पन्न होता है। प्रत्यक्ष-शक्ति की दृष्टि से, स्व-निर्वचन का कार्य मानसिक चलचित्र की अक्षय फिल्मों की श्रृंखला को निरन्तर आगे बढ़ाने की प्रक्रिया में निहित है, जो, मानो, एक ही श्वास में, प्रश्न-उत्तर के साथ है — 'क्या मैं यह हूँ? — नहीं,' अर्थात् मानसिक निर्धारण, 'मैं यह नहीं।' अनन्त को सान्त वस्तुओं के ढाँचों में, अर्थात् यथार्थ को हमारी बुद्धि के अनुपयुक्त, बने-बनाए साँचों में, संतोषजनक रीति से बिठा पाने की यह शाश्वत असंभवता, दूसरे शब्दों में, अयथार्थ के पदों में यथार्थ को परिभाषित करने की असंभवता, ही जगत्-प्रक्रिया अथवा विकास का कारण है।*

जगत्-प्रक्रिया के स्पष्टीकरण को आगे बढ़ाते हुए, प्रलय की अवस्था में, जब जीवन को अचेतन रूप से स्पंदित कहा जा सकता है, विचार बुद्धि में विलीन हो जाता है, जो, अपनी बारी में, शाश्वत चेतना के भीतर लुप्त हो जाती है। यह वह अवस्था है जिसमें केवल 'हूँ' अथवा 'सत्ता' की चेतना होती है, बिना 'मैं' के किसी विचार अथवा धारणा के; दूसरे शब्दों में, जब निरपेक्ष चेतना केवल 'कुछ नहीं' के विपरीत के रूप में सत्ता के प्रति सचेत होती है, अर्थात् नामों और रूपों से रहित अनात्म की समष्टि के प्रति। बाइबिल इस पूर्व-सृष्टि अस्तित्व की अवस्था का वर्णन इस प्रकार करती है:

> "और पृथ्वी बेडौल और सुनसान थी: और गहरे जल के ऊपर अंधकार था। और परमेश्वर की आत्मा जल के ऊपर मंडरा रही थी।"

उपनिषद् भी सिखाता है:—

> "जल ही आरंभ में यह था।" — (बृहदारण्यक उपनिषद्, ५.५.१)

जब कालांतर में लय का पेंडुलम पुनः वापस झूलता है, तो एक नए जगत्-प्रभात का उदय होता है; 'हूँ' की चेतना 'मैं हूँ' की चेतना में परिवर्तित हो जाती है, और समझ, अपनी निद्रा-सदृश

विश्राम की अवस्था से जागकर, बहुविध अनात्म की सृष्टि और निषेध द्वारा 'मैं हूँ' के तात्पर्य की व्याख्या करती है। इस अवस्था का वर्णन प्राचीन ऋषियों ने 'असंख्य अनलग्न चिंगारियों सहित एक महान् ज्वाला' के रूप में किया है। मुण्डक उपनिषद् घोषित करता है*:—

> "जैसे प्रज्वलित अग्नि से अग्नि के समान चिंगारियाँ सहस्रों की संख्या में उड़ती हैं, वैसे ही, हे मित्र, विविध प्राणी अविनाशी से उत्पन्न होते हैं, और वहीं पुनः लौट जाते हैं।"

और अय्यूब लिखता है:—

> "मनुष्य दुःख के लिए जन्मा है, जैसे चिंगारियाँ ऊपर की ओर उड़ती हैं।" (अय्यूब ५:७)

निम्नलिखित तालिका में हम जगत्-निर्माण के कुछ और ब्योरे प्रस्तुत करते हैं:—

चेतना के पक्ष में — 'यह', अर्थात् समष्टि (स्व), भ्रामक, अतः भौतिक, अनात्म; व्यक्तित्व अथवा अहंकार; प्रज्ञा, अर्थात् स्व अथवा जीवन का ज्ञान (जीवन-वृक्ष); तथा संस्कारशीलता (मनोद्रव्य अथवा चित्त), मनस्, इन्द्रियाँ।

समझ के पक्ष में — 'नहीं', अर्थात् एक स्थानिक अस्तित्व और नाम देने के पश्चात् बहुविध का निषेध, अतः सृष्टि-संहार, अर्थात् ऊर्जा; विवेक, अर्थात् घटनात्मक जगत् का प्रायोगिक ज्ञान (भले-बुरे के ज्ञान का वृक्ष)।

इस प्रकार अनन्त जीव (आत्माएँ अथवा जीवधारी) बनते हैं। किन्तु, जहाँ तक यथार्थता का संबंध है, वे एक-दूसरे से पृथक् अथवा पृथक्करणीय नहीं हैं, अपितु, चेतना की उस शक्ति से सजीव होने के कारण, जिससे वे आर-पार व्याप्त हैं, वे 'देखने' की, अर्थात् अन्तर्मुख और बहिर्मुख, दोनों दिशाओं में देखने की शक्ति रखते हैं। यदि वे बाहर की ओर देखें, तो उन्हें एक-दूसरे को पृथक् सत्ताओं के रूप में मानना ही होगा; किन्तु यदि भीतर की ओर, तो उन्हें निरपेक्ष की एकता में सबकी एकता का बोध हुए बिना नहीं रह सकता।

तदनुसार उपनिषद् में है:—

> "स्वयंभू ने इन्द्रियों को बहिर्मुख छेदा, अतः जीव बाह्य को ही देखता है, अन्तरात्मा को नहीं। कोई विरला ही चिंतक अमरता की कामना से अपनी दृष्टि अन्तर्मुख करता है और प्रत्यगात्मा, अमूर्त स्व, का दर्शन करता है।" — (कठ, ४.१)

बाइबिल के अनुसार, ईश्वर के पुत्र आदम को अन्तर्मुख देखकर स्व की वास्तविक एकता को साकार करने का परामर्श दिया गया था। यही ज्ञान और जीवन का पथ था, किन्तु उसने

इन्द्रिय-लोलुपता का, अर्थात् बहिर्मुख देखने का, पथ चुना। अब, चूँकि बहिर्मुख देखना घटनात्मक के गुणों में भेद और विभेद करने की लालसा को द्योतित करता है, और संवेदनाओं पर निर्भर करता है जिन्हें अहं और बाह्य वस्तुओं के बीच व्यवहार का माध्यम बनने के लिए संवेदन और क्रिया के अंगों की आवश्यकता होती है, अतः इच्छा ने, एक निर्देशक बल होने के नाते, वांछित अंगों को प्रकट किया, और उन्हें 'चमड़े के वस्त्र' तक विस्तृत किया।

प्राचीन अभिलेखों से, सांख्य और अद्वैत वेदांत की प्रणालियों के आलोक में, यही वह स्पष्टीकरण संकलित किया जा सकता है, जो मुख्यतः चरम सत्ता अथवा यथार्थ के स्वभाव के विषय में भिन्न हैं, एक द्रष्टा और दृश्य की द्वैतता का प्रतिपादन करता है, तो दूसरा केवल एक ही यथार्थ, निरपेक्ष, के अस्तित्व का। अद्वैत के दृष्टिकोण की समीक्षा पूर्व के एक अध्याय में की जा चुकी है और उसे एक दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में असमर्थनीय पाया जा चुका है। अतः, हम अब उस दूसरी प्रणाली की जाँच की ओर बढ़ेंगे जो हिन्दू तत्त्वमीमांसा में सम्मान का स्थान रखती है।

सांख्य-विचार की अपर्याप्तता पर एक से अधिक लेखकों द्वारा टिप्पणी की जा चुकी है, और स्वयं हिन्दू टीकाकार भी अपने निराशा-भाव को दबाने अथवा दोषारोपण से बचने में सदैव समर्थ नहीं रहे हैं। हिन्दू तत्त्वमीमांसा के छह संप्रदायों, जिनमें कपिल का संप्रदाय भी सम्मिलित है, के सिद्धान्तों पर एक मित्रवत् हिन्दू स्रोत की निम्नलिखित मुक्त टिप्पणी इस संबंध में रुचिपूर्वक पढ़ी जा सकती है:—

> "वे [विज्ञानभिक्षु, सांख्य के एक टीकाकार] इस तथ्य से पूर्णतः अवगत थे कि छहों दर्शनों में से कोई भी, उदाहरणार्थ, जैसा हमने एक से अधिक बार संकेत किया है, पाश्चात्य अर्थ में दर्शनशास्त्र की एक संपूर्ण प्रणाली नहीं था, अपितु केवल एक प्रश्नोत्तरी थी जो वेदों और उपनिषदों में प्रकट कुछ सत्यों की, एक विशेष वर्ग के विद्यार्थियों के लिए, व्याख्या करती और उनका युक्तिसंगत विवरण देती थी, अपनी अन्वेषणा के क्षेत्र को सृष्टि के परिक्षेत्र तक सीमित रखते हुए, और उनके लिए ब्रह्मांड की उन पारलौकिक पहेलियों को सुलझाने का प्रयास किए बिना, जिन्हें, अपने मानसिक और आध्यात्मिक विकास की उस विशेष अवस्था में, ग्रहण कर पाना उनके लिए असंभव होता।" — 'द सेक्रेड बुक्स ऑफ द हिन्दूज़', खण्ड ९, प्राक्कथन, पृ. १२

श्री नन्दलाल सिन्हा द्वारा उद्धृत उपर्युक्त उद्धरण में सांख्य सहित विश्वविख्यात छह दर्शनों के प्रवर्तकों की त्रुटियों के लिए प्रस्तुत किया गया यह बहाना कुछ लंगड़ा और अस्वीकार्य है, विशेषतः

जब संबंधित व्यक्तियों में ज्ञान की पूर्णता दर्शाने वाला कुछ भी उपलब्ध नहीं है; किन्तु चूँकि विचाराधीन सिद्धान्त की विफलता के कारणों की बेहतर समझ के लिए यह सहायक होगा, अतः हमें अपने विषय-प्रवर्तक के मन को उसकी प्रणाली की रचना में वास्तव में कार्यरत देखने का प्रयत्न करना चाहिए।

यह देखा जा सकेगा कि कपिल चमत्कारों में विश्वास नहीं रखते, और किसी ऐसे सृष्टिकर्ता को नहीं मानते जो एक आज्ञा-वचन से जगत् की सृष्टि कर दे। वे इसी कारण एकत्ववाद (मोनिज़्म) को अस्वीकार करते हैं। उनकी प्रणाली एक प्रकार का द्वैतवाद है, जो एक दृश्य और उसके द्रष्टा से बनी है — एक अचेतन प्रदर्शन जिसे एक अथवा अनेक चेतन सत्ताएँ देखती हैं। दृश्य के अन्तर्गत वह सब कुछ आता है जो परिवर्तनशील, चंचल और विस्थापनशील है — वह सब जो विकसित होता है और वह सब जो 'संकुचित' होता है। द्रष्टा को कुछ भी विस्थापनशील और गतिमान नहीं माना जा सकता। वह एक साक्षी है, केवल साक्षी, यद्यपि अज्ञान द्वारा अभिभूत हो सकने योग्य। यहाँ तक कि गहरी निद्रा में लुप्त हो जाने वाली बुद्धि को भी इसी कारण द्रष्टा से संबंधित नहीं कहा जा सकता।

द्रष्टा और दृश्य की इस द्वैतता से आरंभ करते हुए, कपिल जगत् को जागृति और निद्रा की चेतना के अनुक्रम की सादृश्यता* पर, प्राकट्य और संहार के अनुक्रम से चिह्नित मानते हैं।

> *हिन्दू तत्त्वमीमांसकों को तर्कशास्त्र का बहुत कम अथवा कुछ भी ज्ञान नहीं था, ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि वे अपने निष्कर्षों को सादृश्य पर आधारित करने में कभी संकोच करते प्रतीत नहीं होते। स्वयं गौतम का न्याय दर्शन भी, जिसका शाब्दिक अर्थ ही तर्कशास्त्र का संप्रदाय अथवा प्रणाली है, इस संपूर्ण विषय को इस टिप्पणी के साथ विसर्जित कर देने से अधिक कुछ नहीं करता कि तार्किक अनुमान का आधार एक सजातीय उदाहरण है, जिसकी मुख्य शर्त यह है कि कोई भी इसके विपरीत का दृष्टान्त उद्धृत न कर सके। किन्तु यह बेतुका है, क्योंकि, जैसा जैन तार्किक इंगित करते हैं, इससे तो यह अनुमान भी न्यायसंगत ठहरेगा कि जिस व्यक्ति के सदैव पुत्र ही जन्मे हों, उसकी आगामी संतान भी पुत्र ही होगी!*

लय की अवस्था में, दृश्य तीन गुणों — सत्त्व, रजस् और तमस् (देखें पृ. २१ पूर्व) — की एक संतुलित अवस्था तक सिमट जाता है। तब एक प्रतिकारी गति आरंभ होती है; संतुलन के भंग होने के साथ, प्राकट्य की प्रक्रिया आरंभ होती है, जिसके परिणामस्वरूप विकसित होने वाले, अथवा प्रकृति (गुणों की संतुलित अवस्था), के क्रमिक रूपांतरण होते हैं, जो दृश्य के विकास के साथ-साथ संवेदन के अंगों का भी लेखा-जोखा देते हैं। किन्तु विकास की इस योजना का, जैसा उसे कहा जा सकता है, सबसे महत्त्वपूर्ण अंश पच्चीस तत्त्वों (आवश्यक अथवा मूल तत्त्वों) के

प्रकटन का क्रम है, जो सांख्य दर्शन का गढ़ बनाते हैं, और जिन्हें निम्नलिखित रीति से एक सारणीबद्ध रूप में व्यवस्थित किया जा सकता है:—

पुरुष तथा प्रकृति — (प्रकृति अप्रकट, अर्थात् संतुलन की अवस्था में, और प्रकट रूप में) — महत् — अहंकार — जो सत्त्व से परिणत होकर पाँच ज्ञानेन्द्रियों और मनस् को उत्पन्न करता है, तथा जो तमस् से परिणत होकर पाँच कर्मेन्द्रियों को उत्पन्न करता है — मनस् के साथ पाँच तन्मात्राएँ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध) — जिनसे क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी नामक पंचमहाभूत उत्पन्न होते हैं।

हमारे लिए यह क्रम भी इसलिए रोचक है क्योंकि यह सिद्ध करता है कि यह प्रणाली उस कल्पित सादृश्य की एक श्रृंखला से अधिक ठोस अथवा विश्वसनीय किसी आधार पर स्थापित नहीं है, जो जागृत होती हुई चेतना पर मूर्त प्रकृति के प्रकट होने की रीति की एक कुछ विकृत धारणा और जगत्-प्रक्रिया के बीच खींची गई है।सामान्य रीति से — और कपिल कदाचित् ही ब्योरों में गए हैं — यह देखा जा सकेगा कि सोई हुई चेतना के जागने पर जगत् का प्रत्यक्ष कहे जाने से पूर्व निम्नलिखित रूपांतरण घटित होते हैं:

(१) बुद्धि का प्राकट्य;(२) बुद्धि में व्यष्टित्व की धारणा का, 'मैं' के विचार का, उदय;(३) अहं की शक्तियों और कार्यों का, अर्थात् मनस् तथा क्रिया और संवेदन के अंगों का, जागरण;(४) इन्द्रियों का उद्दीपन, अर्थात् संवेदन; और(५) प्रत्यक्ष की गई वस्तु के मानसिक प्रतिरूप का बाह्य आकाश में प्रक्षेपण।

यदि पाठक कुछ हिन्दू भाववादियों के इस मत को स्मरण रखे कि इन्द्रियगोचर जगत् केवल उसके प्रत्यक्षकर्ता के मन में ही धारण किया जाता है और उससे पृथक् उसका कोई अस्तित्व नहीं, तो उसे कपिल की स्थिति समझने में कोई कठिनाई नहीं होगी, जिनके सिद्धान्त की हम अब उस रीति के साथ, पास-पास रखकर, तुलना करेंगे जिससे एक जागती हुई चेतना घटना-जगत् का संज्ञान प्राप्त करती है।

मानव-चेतना के क्रम में: (१) जागृति और निद्रा का अनुक्रम। (२) गहरी निद्रा में अहं नष्ट नहीं होता, किन्तु दृश्य प्रत्यक्ष नहीं होता। (३) जागरण में बुद्धि सबसे पहले जागृत होती है। (४) बुद्धि से 'मैं' का विचार उत्पन्न होता है, अर्थात् अहंकार (अहं-भाव अथवा व्यष्टित्व)। (५) अहंकार से व्यष्टित्व के कुछ अंगों अथवा घटकों की, अर्थात् ध्यान (मनस्), इन्द्रियों और क्रिया-शक्तियों की,

क्रियाशीलता प्रवाहित होती है। (६) अहंकार के जागृत और विकसित होने पर संवेदनाएँ, जो अहं के प्रभावों को द्योतित करती हैं, प्रत्यक्ष की जाती हैं। (७) संवेदनाओं की सामग्री तब प्रक्षेपित होती है और इन्द्रियगोचर जगत् का निर्माण करती है।

जगत्-प्रक्रिया के क्रम में: (१) सृष्टि और संहार का अनुक्रम। (२) जगत्-संहार (प्रलय) में द्रष्टा (पुरुष) नष्ट नहीं होता, किन्तु प्रकृति प्रत्यक्ष नहीं होती। (३) जगत्-प्रक्रिया में महत् (बुद्धि) सर्वप्रथम उत्पन्न होता है। (४) महत् तब अहंकार (अहम् अथवा 'मैं-पन' के 'रचयिता') में रूपांतरित होता है। (५) अहंकार से मनस्, पाँच इन्द्रियाँ, तथा हाथ, पैर आदि पाँच कर्मेन्द्रियों की पंचविध शक्तियाँ बनती हैं। (६) अहंकार गंध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द — इन पाँच प्रकार की संवेदनाओं में रूपांतरित होता है। (७) संवेदनाओं की सामग्री, अर्थात् गंध आदि की सूक्ष्म तन्मात्राएँ, पंचमहाभूतों — आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी — में रूपांतरित हो जाती हैं, जिनसे इन्द्रियगोचर, अर्थात् घटनात्मक, जगत् बना है।

आगे के ब्योरों में जाने की आवश्यकता नहीं; संपूर्ण सिद्धान्त मन में निद्रा से चेतना के जागने पर जो कुछ घटित होता है, उसके बारे में कुछ अपरिष्कृत धारणाओं पर आधारित है। यह निश्चित है कि कपिल की प्रेरणा न तो किसी दिव्य प्रकाशना में थी, न किसी युक्तिसंगत विज्ञान में, अपितु केवल और मात्र उस कल्पित सादृश्य में थी जिसे वे प्रकृति और मानव-चेतना के बीच स्थापित करना चाहते थे, और जिसे उन्होंने आगे की झंझट से बचने के लिए सरलता से मान लिया। कपिल की प्रणाली, तथापि, अद्वैतवाद के कठोर भाववाद पर एक प्रगति चिह्नित करती है, जो चेतना के अतिरिक्त सबको यथार्थता से वंचित करता है। कपिल वस्तुतः इन्द्रिय-विषयों की अयथार्थता के संबंध में अद्वैतवाद से सहमत हैं, यह मानते हुए कि उनका अस्तित्व उनके प्रत्यक्ष किए जाने में, अर्थात् प्रत्यक्षकर्ता चेतना की अवस्थाओं में, ही निहित है; किन्तु वे यह प्रतिपादित करते हैं कि चेतना की अवस्थाओं के परिवर्तन स्वयं एक स्वतंत्र कारण की उपस्थिति की माँग करते हैं जो चेतना के साथ सह-अस्तित्वमान होना चाहिए। इस कारण को, परिवर्तन के स्रोत अथवा आधार के रूप में कल्पित करते हुए, चेतना में जो कुछ भी परिवर्तनशील है, वह सब उसी पर आरोपित कर दिया जाता है। व्यष्टि चेतना की अवस्थाओं के लिए एक आधार पा लेने के पश्चात्, कपिल ने अपने आपको उसमें प्रत्यक्षों को विकसित करने में लगाया, जिसे उन्होंने अंततः संवेदनाओं की सामग्री को स्थानिक अर्थ में प्रक्षेपित करके संपन्न किया। अब यह स्पष्ट हो जाएगा कि कपिल अपने ही मन

के प्रक्षेपणों, अर्थात् अपनी संवेदनाओं के रूपांतरणों, से पृथक् किसी बाह्य जगत् को नहीं जानते; क्योंकि संवेदनाओं — रस आदि — को अहंकार के रूपांतरणों के रूप में वर्णित किया गया है, और उन्हें ऐसे सूक्ष्म तत्त्वों से बना कल्पित किया गया है जो मूर्त वस्तुओं के स्थूलतर द्रव्य में रूपांतरित हो जाते हैं। इस विचार-सरणि के लिए दुर्भाग्यवश, कपिल को कदाचित् यह कभी नहीं सूझा कि कोई संवेदना पूर्णतः मन में ही उत्पन्न नहीं होती, और यह कि वह प्रचलित मानसिक अवस्था और बाहर से आने वाली उत्तेजना के योग में निहित होती है। यदि उन्होंने संवेदना की इस महत्त्वपूर्ण विशेषता पर ध्यान दिया होता, तो वे स्थूल तत्त्वों — अग्नि, जल आदि — को हमारी संवेदनाओं की सूक्ष्म तन्मात्राओं के रूपांतरण के रूप में वर्णित न करते।

विशिष्ट संवेदनाओं और स्थूल तत्त्वों के बीच का संगत भी उतना ही अयुक्तिसंगत है। कहा जाता है: "शब्द का तन्मात्रा, जो शब्द के गुण से युक्त है, अहंकार से उत्पन्न होता है; फिर, अहंकार-सहित शब्द के तन्मात्रों से, स्पर्श का तन्मात्रा उत्पन्न होता है, जो शब्द और स्पर्श दोनों गुणों से युक्त है। इसी रीति से, शेष तन्मात्राएँ, अपने उल्लेख के क्रम में, प्रत्येक क्रमिक अवस्था में एक और गुण की वृद्धि के साथ, उत्पन्न होती हैं" (द सेक्रेड बुक्स ऑफ द हिन्दूज़, खण्ड ९ की भूमिका, पृ. ८)।

ऐसा होने पर, इन्द्रियों में शब्द सर्वप्रथम और गंध अंतिम विकास है। किन्तु इसका अवलोकन से समर्थन नहीं होता, जो दर्शाता है कि प्राणि-जगत् में 'शब्द' सभी जीवधारियों द्वारा भोगा नहीं जाता। यदि शब्द शेष इन्द्रियों की संरचना में एक अनिवार्य घटक होता, तो जो प्राणी श्रवण-इन्द्रिय से संपन्न नहीं हैं उन्हें इन्द्रियों से सर्वथा वंचित होना चाहिए था; किन्तु ऐसा नहीं है। यही स्थिति मन के साथ भी है, जो क्रिया और संवेदन का केन्द्रीय अंग है; क्योंकि यह सभी जीवधारियों के पास नहीं है, पंचेन्द्रिय जीवों से नीचे के सभी जीवन में तथा उनमें से भी कुछ मामलों में अनुपस्थित है।

सांख्य के दृष्टिकोण की और अधिक आलोचना करने की आवश्यकता नहीं; क्योंकि, जैसा उसका उद्भव ही दर्शाता है, वह विज्ञान और वैज्ञानिक चिंतन के स्थान पर अनुमान और अटकल का प्रतिस्थापन है। किन्तु चूँकि सांख्य दृष्टिकोण ने धार्मिक चिंतन को कुछ पर्याप्त सीमा तक प्रभावित किया प्रतीत होता है, अतः पुराण-कथा और रहस्यमय अभिलेखों को सुलझाने के लिए यह एक उपयोगी सहयोगी है।

इस संबंध में बृहदारण्यक उपनिषद् के एक ऐसे अंश के तात्पर्य में झाँकना रोचक होगा जिसने अनेक विद्वानों और धर्मशास्त्रियों को चकित कर दिया है। वह इस प्रकार है:—

> "वह उसी अवस्था में था जिसमें पति (पति) और पत्नी (पत्नी) परस्पर आलिंगन में होते हैं। उसने इसे दो भागों में विभाजित किया। इसी से पति और पत्नी उत्पन्न हुए। अतः यह उसका केवल आधा ही था, जैसे एक फटी हुई दाल संपूर्ण का आधा होती है। उसने उसके पास पहुँचकर संगम किया। इससे मनुष्यों का जन्म हुआ।
>
> "उसने वस्तुतः विचार किया: वह मेरे पास कैसे आ सकता है, जिसे उसने स्वयं से उत्पन्न किया है? हाय, मैं अपने आपको छिपा लूँगी। इस प्रकार वह गाय बन गई, और वह बैल। उसने उसके पास पहुँचकर संगम किया। इससे गोवंश उत्पन्न हुआ। एक घोड़ी बनी, दूसरा घोड़ा; एक गधी बनी, दूसरा गधा। उसने उसके पास पहुँचकर संगम किया। इससे एकखुर वाले पशु उत्पन्न हुए। एक बकरी बनी, दूसरा बकरा; एक भेड़ बनी, दूसरा मेढ़ा। उसने उसके पास पहुँचकर संगम किया। इससे बकरियाँ और भेड़ें उत्पन्न हुईं। इसी रीति से उसने प्रत्येक जीवित युगल की सृष्टि की।" — प्रथम अध्याय, चतुर्थ ब्राह्मण

उपर्युक्त उद्धरण में, 'वह' (पुल्लिंग) प्रजापति (सृष्टिकर्ता) को निर्दिष्ट करता है, और 'वह' (स्त्रीलिंग) उसकी संगिनी शतरूपा (सौ रूपों वाली) को।

अब, इस अंश के तात्पर्य को समझने का सर्वोत्तम मार्ग यह है कि हम स्वयं को शब्द के प्लेटोवादी अर्थ में 'विचारों' (Ideas) के तात्पर्य से परिचित कर लें। शोपेनहावर के अनुसार, प्लेटो का अभिप्राय यह था:—

> "इस जगत् की वे वस्तुएँ जिन्हें हमारी इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष करती हैं, उनका कोई सच्चा अस्तित्व नहीं है; वे सदैव बनती रहती हैं, वे कभी 'हैं' नहीं होतीं: उनका केवल एक सापेक्ष अस्तित्व है; वे सब केवल एक-दूसरे के साथ अपने संबंध में और उसी के माध्यम से अस्तित्वमान हैं; उनका संपूर्ण अस्तित्व, अतः, उतनी ही सरलता से एक अनस्तित्व भी कहा जा सकता है। वे, फलतः, सच्चे ज्ञान की वस्तुएँ नहीं हैं, क्योंकि ऐसा ज्ञान केवल उसी का हो सकता है जो स्वयं में और सदैव एक ही रीति में विद्यमान है; वे, इसके विपरीत, केवल संवेदन पर आधारित एक मत की वस्तुएँ हैं। जब तक हम इनके प्रत्यक्ष तक ही सीमित रहते हैं, हम उन मनुष्यों के सदृश हैं जो एक अंधेरी गुफा में बैठे हैं, इतने कसकर बंधे हुए कि वे अपने सिर तक नहीं घुमा सकते, और जो अपने और उनके पीछे जलती एक अग्नि के बीच से गुजरने वाली वास्तविक वस्तुओं की केवल छायाओं को देखते हैं, जिसका प्रकाश उनके सामने की दीवार पर उन छायाओं को

डालता है; और अपने स्वयं के तथा एक-दूसरे के भी वे केवल दीवार पर छायाएँ ही देखते हैं। उनकी बुद्धिमत्ता, अतः, अनुभव से सीखी गई छायाओं के क्रम की भविष्यवाणी करने में ही निहित होगी। इसके विपरीत, वे वास्तविक आदि-प्रतिरूप, जिनके अनुरूप ये छायाएँ हैं, वे शाश्वत विचार (Ideas), समस्त वस्तुओं के मूल रूप, अकेले ही सच्चे अस्तित्व वाले कहे जा सकते हैं, क्योंकि वे सदैव 'हैं', किन्तु कभी न तो बनते हैं न विनष्ट होते हैं। उनमें कोई बहुविधता नहीं; क्योंकि उनमें से प्रत्येक अपने स्वभाव से केवल एक ही है, क्योंकि वह स्वयं आदि-प्रतिरूप है, जिसकी उसी प्रकार की समस्त विशिष्ट क्षणभंगुर वस्तुएँ, जो उसके नाम पर नामित हैं, प्रतिलिपियाँ अथवा छायाएँ हैं। उनका भी न कोई अस्तित्व में आना है न विनाश, क्योंकि वे सच्चे रूप में 'हैं', अपने क्षणभंगुर छायाओं के समान कभी न तो बनतीं न लुप्त होतीं... प्राणी (व्यष्टि) का कोई सच्चा अस्तित्व नहीं, अपितु केवल एक आभासी अस्तित्व, एक निरन्तर बनना, एक सापेक्ष अस्तित्व, जिसे अस्तित्व के समान ही अनस्तित्व भी कहा जा सकता है। केवल वह विचार जो उस प्राणी में अभिव्यक्त होता है, सच्चे रूप में 'है', अर्थात् वह प्राणी-स्वयं-वस्तु, जो किसी वस्तु पर निर्भर नहीं, अपितु अपने में और अपने लिए है; वह न बनी है, न समाप्त होगी, अपितु सदैव उसी रीति में विद्यमान है। यदि हम अब प्राणी में उसके विचार को पहचान लें, तो यह सर्वथा एक-सा और महत्त्वहीन है कि क्या हमारे सामने अभी यह प्राणी है अथवा हज़ार वर्ष पूर्व का उसका पूर्वज, चाहे वह यहाँ हो अथवा दूर देश में, चाहे वह इस या उस रीति, स्थिति, अथवा क्रिया में प्रस्तुत हो; अंततः, चाहे वह इसी अथवा उसी जाति का कोई अन्य व्यष्टि हो; यह सब कुछ नहीं है, और केवल परिघटना से संबंधित है; अकेले प्राणी का विचार ही सच्चा अस्तित्व रखता है और सच्चे ज्ञान की वस्तु है।"

और स्वयं शोपेनहावर जोड़ते हैं:—

"इस नकारात्मक परिभाषा में, तथापि, यह अनिवार्यतः पूर्वकल्पित है कि काल, आकाश, और कार्य-कारणता इन विचारों के लिए कोई अर्थ अथवा वैधता नहीं रखते, और यह कि वे उनमें विद्यमान नहीं हैं। काल, आकाश और कार्य-कारणता हमारी बुद्धि की वह व्यवस्था है जिसके बल से प्रत्येक प्रकार की एकमात्र वास्तविक सत्ता हमें समरूप सत्ताओं की एक बहुविधता के रूप में प्रकट होती है, जो अनन्त अनुक्रम में निरन्तर प्रकट और अप्रकट होती रहती है।"

— 'द वर्ल्ड ऐज़ विल एण्ड आइडिया', पृ. २२२-२२४, वहीं, पृ. २२२-२२४

किन्तु हमें ऐसा प्रतीत होता है कि प्लेटो और शोपेनहावर दोनों ही मूर्त प्रकृति से टकरा जाते हैं जब वे शुद्ध मानसिक अमूर्तनाओं को वास्तविक और शाश्वत विद्यमान सत्ताओं के रूप में प्रतिष्ठापित करने का प्रयत्न करते हैं। क्योंकि किसी प्रारूप अथवा आदि-प्रतिरूप के स्वभाव में यह नहीं है कि वह उन जीवित सत्ताओं और वस्तुओं से स्वतंत्र होकर अस्तित्व का भोग करे जिनकी परस्पर तुलना से उसकी धारणा उत्पन्न होती है। ये 'विचार' अथवा आदि-प्रतिरूप, तब, केवल लय के, अर्थात् ऊर्जा के, साँचे अथवा प्रकार का ही अर्थ रख सकते हैं — वह रचनात्मक बल जो किसी जीव-यन्त्र के निर्माण के लिए उत्तरदायी है। इनमें से प्रत्येक प्रकार, चाहे उससे संबंधित व्यष्टियों की संख्या कुछ भी हो, स्वभावतः केवल एक ही हो सकता है।

जीव-यन्त्रों के निर्माता के रूप में लय की सामर्थ्य के संबंध में, कुछ समय पूर्व* प्रयोग द्वारा यह प्रदर्शित किया गया था कि एक कंपनशील यंत्र से जुड़ी घूर्णनशील तश्तरी पर बिखरे बालू के कण, जिन स्वरों के अधीन उन्हें रखा गया, उनके प्रभाव में कुछ विशिष्ट रीतियों में स्वयं को व्यवस्थित करते थे।

इससे यह अनुमान निकाला गया कि प्रत्येक स्वर की अपनी एक विशिष्ट लय होती है, जो बालू के कणों की व्यवस्था और समूहन के लिए उत्तरदायी होती थी। किसी जीव-यन्त्र का निर्माण, ऐसा माना जाता है, इसी प्रकार, निषेचित अंडाणु में निवास करने वाली शक्तियों की क्रियाशीलता के कारण होना चाहिए; और इन्हीं शक्तियों के योग-फल का परिणाम है जो शरीर के वर्ग और प्रकार को निर्धारित करता है, और जिसे, इसी कारण, उसकी लय कहा जा सकता है।

*देखें 'द बिल्डिंग ऑफ द कॉस्मॉस' — ऐनी बेसेंट कृत, पृ. १८, १९, २२, २८*

अब, उपनिषद् की शिक्षा में, प्रजापति (सृष्टिकर्ता) कल्पना का प्रतिनिधित्व करता है, जो रूपकात्मक भाषा में इच्छा-शक्ति और सृजनात्मक ऊर्जाओं दोनों को समाहित करती है — वाणी, जो सृजनात्मक लोगोई का प्रतिनिधित्व करती है। उत्तरार्ध उपनिषद् की शतरूपा का, सौ* रूपों के व्यक्तित्व का, गठन करता है। जब इन दोनों को, अर्थात् प्रजापति और शतरूपा को, एक मानकर लिया जाए, तो उपनिषद् का रूपकात्मक वर्णन, अर्थात् पति और पत्नी के बीच का आलिंगन, स्थिति की सर्वोत्तम व्याख्या करता है। किन्तु यदि हम वाणी को, अथवा सामूहिक रूप से विचारों को, उपनिषद् की शतरूपा को, उस सृजनात्मक मन से पृथक् कर दें जो उसे अपने भीतर धारण किए हुए है — संत यूहन्ना के अनुसार भी वाणी परमेश्वर के साथ थी और परमेश्वर ही थी — तो

पति और पत्नी अब 'एक' अथवा एक-दूसरे को आलिंगनबद्ध नहीं रह जाते। अतः उपनिषद् कहता है कि वह, अर्थात् शतरूपा, उससे पृथक् कर दी गई थी। अब, चूँकि घटनात्मक जगत् की कल्पना ज्ञान के रूपों में निहित होने के रूप में की गई है, अतः जब भी बुद्धि शतरूपा को अपने आलिंगन में लेते हुए इच्छा-शक्ति में विलीन हो जाती है, तब एक सामान्य विलय की भविष्यवाणी अवश्य की जानी चाहिए। बुद्धि तब अपनी पत्नी शतरूपा के साथ एक अंडे के सदृश है, जो, जैसा हिन्दू पुराण और मनुस्मृति सिखाते हैं, चेतना के सागर में पड़ा था। यह ब्रह्मांडीय अंडा, कालक्रम में, पुनः दो भागों में — ऊपरी और निचले अर्धांशों में — विभाजित हो जाता है, और एक नए जगत्-प्रभात का उदय होता है। नूह का जहाज़ (आर्क) इसी संबंध में एक और प्रतीक है, नूह पुरुष अथवा सक्रिय तत्त्व होने के नाते, और जहाज़, स्त्री-अंग का, उपनिषदों की शतरूपा का, प्रतीक होने के नाते। बीज समस्त जातियों के आदि-प्रतिरूप हैं, जिनमें से प्रत्येक का एक युगल कल्पना की ब्रह्मांडीय अंडाशय-कोष में सामान्य विनाश से सुरक्षित रखा जाता है। इसी प्रकार का विवरण हिन्दू पुराणों में भी पाया जाता है, जो लगभग समस्त विवरणों में बाइबिली कथा से सहमत है, सिवाय इसके कि जहाँ बाइबिल में 'विचारों' के स्थान पर स्पष्ट रूप से जातियों का उल्लेख है, वहीं हिन्दू विवरण केवल वेदों (शाब्दिक अर्थ में, ज्ञान) का ही निर्देश करता है।

*यहाँ 'सौ' शब्द का तात्पर्य समझ के समस्त रूपों से है, अर्थात् रचनात्मक लय के प्रकारों से है।*

† संभवतः यही वह विचार है जो उत्पत्ति ३:२० के पौराणिक कथन में अभिप्रेत है, जिसके अनुसार समस्त जीवधारियों की माता, हव्वा, आदम के शरीर से निकाली गई एक पसली से बनाई गई थी।

*देखें डब्ल्यू.जे. विल्किन्स कृत 'हिन्दू माइथोलॉजी', पृ. १३७-१३८*

विषयांतर से लौटते हुए, चूँकि शतरूपा को प्रजापति के आलिंगन से निकाला और पृथक् किया गया है, अतः वह उसकी एक पुत्री के सदृश है, और, समुचित लज्जा के साथ, स्वाभाविक रूप से उसके साथ अपने संबंधों पर विचार करती है, और फिर, उसके निकट आने के परिणामस्वरूप, एक रूप से दूसरे रूप में (अर्थात् एक प्रकार से दूसरे प्रकार में) उड़ती है, प्रत्येक जाति में व्यष्टियों की बहुविधता उत्पन्न करती हुई। पाठक यहाँ इच्छा-शक्ति के सामान्य अवधारणाओं पर टिके रहने से मानसिक रूपों की सृष्टि के साथ इसकी सादृश्यता को स्पष्ट रूप से देख सकता है। विचारों (Ideas) का सिद्धान्त, इस प्रकार, केवल ग्रीक दर्शन की ही विशेषता नहीं है; यह पुराने विधान (Old Testament) के लेखकों को भी ज्ञात था, किन्तु इसका सबसे

परिपूर्ण रूप अकेले भारतीयों में पाया जाता है, जिनकी पुराण-कथा, यदि उचित रूप से अध्ययन की जाए, तो संसार में धर्म और दर्शन की संपूर्ण संरचना में क्रांति ला दे।

इन कथाओं और आख्यानों की व्याख्या के विषय में, पुराण-कथा में जो कुछ अस्पष्ट है, वह मनोविज्ञान की सहायता से बोधगम्य हो जाता है, क्योंकि प्राचीनों को विज्ञान की इस शाखा का अत्यन्त विस्मयकारी ज्ञान था, और वे अपने अत्यन्त दुरूह सिद्धान्तों में से कुछ को अभिव्यक्ति देने के लिए स्वच्छन्दतापूर्वक प्रतीकवाद का सहारा लेते थे। हम यहाँ अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए इन पौराणिक अवधारणाओं में से कुछ और का विवेचन करेंगे।

शिव हिन्दू त्रित्व के तीसरे सदस्य हैं, और उन्हें जटाधारी, तथा अपने शरीर पर सर्पों से लिपटे हुए, एक सत्ता के रूप में निरूपित किया जाता है। वे आक (मदार) और अन्य मादक तथा विषैली वस्तुएँ ग्रहण करते हैं, और खोपड़ियों की माला धारण करते हैं। उनकी संगिनी पार्वती हैं, हिमालय की पुत्री, जो दुर्गा, काली, और इसी प्रकार के अन्य अनेक रूप भी धारण करती हैं। उनका सर्वाधिक लोकप्रिय नाम भोलानाथ है; वे सरलता से प्रसन्न हो जाते हैं, और अपने भक्तों को सहजता से, और कभी-कभी तो मूर्खतापूर्ण ढंग से भी, वरदान दे देते हैं।

अब, शिव वैराग्य (त्याग) की ओर उन्मुख इच्छा-शक्ति का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो, इस रूप में, औपचारिक कुतर्क से मुक्त है। सांसारिक चतुराई से मुक्त होने के कारण उन्हें सरल-हृदय — असांसारिक अथवा अपरिष्कृत — कहा जाता है, और चूँकि वे किसी छल-कपट को नहीं जानते, अतः वे भोला (निष्कपट, सरल) नाथ (स्वामी) हैं।

शिव की मादकता इच्छा-शक्ति के स्वभाव के कारण है, जो स्व-अनुभूति (सेल्फ-फीलिंग) की शुद्ध भावना है। यही स्व-अनुभूति की भावना है जो रहस्यवादी के उस हर्ष का गठन करती है, जिसे कोई मदिरा उत्पन्न नहीं कर सकती, और जिसका अनुभव कर चुके लोग संसार का त्याग कर स्व-केन्द्रित बन जाते हैं। यह केवल स्व-चिंतन, अथवा योग की समाधि से ही प्राप्त होता है, जिसमें इच्छा-शक्ति, स्वयं को कामना के दासत्व से मुक्त पाकर, अपने अन्तर्निहित हर्ष का अनुभव करती है। इस चरम स्व-केन्द्रितता की अवस्था में हम वास्तव में स्वतंत्र अनुभव करते हैं, जिसकी प्राप्ति की प्रक्रिया में जीवन की वह ऊर्जा, जो चारों ओर बिखर रही थी, मानो, अनुभूति के एक अविभाज्य आवेग में समेट ली जाती है। प्राचीनों ने भावना की इस उन्नत अवस्था का वर्णन शीर्ष पर एक घुंडी वाले दंड, और उसके चारों ओर लिपटे एक सर्प के, रहस्यमय प्रतीकवाद द्वारा किया,

जिसमें घुंडी उस बिन्दु का प्रतिनिधित्व करती है जिसमें स्व ने स्वयं को समेट लिया है, दंड शक्ति का द्योतक है, और सर्प कुण्डलिनी के बल का, अर्थात् जीवन अथवा आत्मा की सर्वविजयी ऊर्जा का। मर्करी के कैड्यूसियस का चिह्न भी कुछ-कुछ इसी प्रकार का है, जिसमें इतना अधिक गुप्त तात्पर्य समाहित है कि उसका यहाँ पूर्ण वर्णन असंभव है। इसकी आकृति मानव धड़ और सात संख्या वाले तंत्रिका-केन्द्रों का, तथा उस पुस्तक* का भी प्रतिनिधित्व करती है जो सात मुहरों से सील है, और भीतर तथा पीठ पर लिखी है। दोनों परस्पर गुंथे सर्प इड़ा और पिंगला नाड़ियों (नर्व्स) का प्रतिनिधित्व करते हैं, और मध्य नली सुषुम्ना (मेरु-दंड में स्थित खोखली नाल) का प्रतीक है। निचले सिरे पर बनी त्रिकोण आकृति मूलाधार तंत्रिका-चक्र है, जबकि शीर्ष पर घुंडी, अथवा मस्तक, सहस्रार है, मस्तिष्क का चक्र। मूलाधार कुण्डलिनी नामक आध्यात्मिक ऊर्जा का, अर्थात् सर्प-शक्ति का, निवास-स्थान है, जो योग-मार्ग पर उन्नति के क्रम में क्रियाशीलता में जगाई जाती है। मूलाधार चक्र तीन आध्यात्मिक धाराओं का भी आसन है, जिन्हें सामूहिक रूप से त्रिवेणी कहा जाता है, अर्थात् तीन धाराओं का संगम — गंगा (इड़ा, जिसका वर्ण सूर्य का है), यमुना (पिंगला, जो चन्द्रमा के वर्ण की है), और सरस्वती (आध्यात्मिकता, जो केवल स्वर्ग में, अर्थात् हृदय-चक्र में, ही दृश्य होती है)। अब, इसके लिए कि व्यष्टि इन शक्तिशाली धाराओं के संगम से कोई वास्तविक लाभ प्राप्त कर सके, इन्हें मूलाधार से लेकर मस्तिष्क के चक्र तक उसके संपूर्ण अस्तित्व को स्पर्श करना चाहिए; किन्तु ऐसा करने के लिए, आध्यात्मिक धारा को सुषुम्ना की खोखली नली से होकर ऊपर की ओर प्रवाहित होना चाहिए, राह में समस्त तंत्रिका-चक्रों को ऊर्जस्वित करते हुए, इस प्रकार उसे भीतर से सजीव करते हुए। जब यह धारा मस्तिष्क तक पहुँचती है, तो व्यष्टि शिव के समान पूर्ण बन जाता है। मनुष्य इस अत्यन्त वांछित सिद्धि को प्रतिदिन, यदि संभव हो तो निरन्तर, गंगा, यमुना और सरस्वती के इस संगम में मानसिक स्नान करके प्राप्त कर सकता है। आगरा और अवध के संयुक्त प्रांतों में इलाहाबाद में मानी जाने वाली त्रिवेणी इन तीन आध्यात्मिक धाराओं के संगम के लिए एक कुशल प्रतीकवाद है, यद्यपि इसका गूढ़ तात्पर्य सामान्यजन को अज्ञात होने के कारण अब यह समस्त वर्गों के हिन्दुओं द्वारा तीर्थ-स्थल के रूप में प्रयुक्त होता है।*

*पुस्तक ऑफ रेवेलेशन्स, ५:३*

शिव द्वारा धारण की गई खोपड़ियों की माला संभवतः शुद्ध स्व-चिंतन में विनाशकारी तत्त्व का संकेत देने के लिए अभिप्रेत है, क्योंकि आध्यात्मिक मुक्ति के लिए समस्त प्रकार की सत् और असत् प्रवृत्तियों को नष्ट करना होता है। यह ध्यान देने योग्य है कि पुण्य उतना ही बंधन का कारण है जितना पाप, यद्यपि पहले का फल सुखद और दूसरे का कटु, और कभी-कभी अत्यन्त पीड़ादायक, होता है।

इस महान् देवता शिव की स्थायी संगिनी पार्वती हैं, जो हिमालय की पुत्री हैं। किन्तु हिमालय को एक पर्वत मान लेना मूर्खता होगी; यह देवी आत्मा की उस अत्यन्त वांछित अवस्था का प्रतिनिधित्व करती है जो स्थिर, अपरिवर्तनीय ध्यान (मन की एकाग्रता) से उत्पन्न होती है। 'द परमानेंट हिस्ट्री ऑफ भारतवर्ष' के अनुसार, जो हिन्दू पुराण-कथा के स्पष्टीकरण में सर्वोच्च महत्त्व का ग्रन्थ है, पार्वती बुद्धि (अन्तःकरण, अर्थात् चिंतन की शक्ति) का प्रतिनिधित्व करती हैं। किन्तु उन्हें उत्पत्ति की कथा की हव्वा से भिन्न समझा जाना चाहिए, इस सीमा तक कि 'बुद्धि' शब्द बुद्धि की उस विशेष प्रवृत्ति तक सीमित है जो ब्रह्म की दिशा में भीतर की ओर पुनः मुड़ जाती है।* उसी ग्रन्थ के अनुसार, ब्रह्मा बुद्धि की समष्टि है, अर्थात् 'लिप्त होने' (Involve) के निश्चय की।

> "चूँकि समस्त धार्मिक उन्नति को मन के इसी परिवर्तन से आरंभ होना है, अतः इसे ब्रह्मा की सृष्टि कहा गया है। इस बुद्धि को बनाए रखने और विकसित करने का कार्य विष्णु और परिरक्षण को इंगित करता है। संहारक के रूप में रुद्र के यहाँ दो कार्य हैं। ब्रह्मा उस बुद्धि की सृष्टि कर सकें, जो ब्रह्म की ओर मुड़ती है, इससे पूर्व उन्हें मनुष्य की सांसारिक कामनाओं को नष्ट करना होता है। अंतिम मुक्ति सुरक्षित होने से पहले उन्हें ब्रह्मा और विष्णु के कार्यों के सुफलों को भी नष्ट करना होता है। इस प्रकार यहाँ निर्दिष्ट तीनों देवता वस्तुतः पृथक् और भिन्न-भिन्न नहीं हैं, और वे इस रूप में अस्तित्वमान बने नहीं रह सकते।"

हिन्दू त्रिमूर्ति के स्वभाव पर अपने निष्कर्षों का सार प्रस्तुत करते हुए, श्री के. नारायण अय्यर इंगित करते हैं ('द परमानेंट हिस्ट्री ऑफ भारतवर्ष', खण्ड १, पृ. ३९५):—

> "ब्रह्मा, विष्णु और शिव की अवधारणाओं में, संदेह और भ्रम से बचने के लिए, अतः, निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं को सदैव हमारी दृष्टि के समक्ष रखा जाना चाहिए:
>
> "(१) त्रयी का क्षेत्र सात्त्विक माया का क्षेत्र है, न कि अविद्या का, जो ठीक-ठीक आधुनिक व्याख्याकारों का क्षेत्राधिकार है।

"(२) त्रयी के कार्यों का स्वयं स्वभाव अन्तर्मुखी (involutionary) है। ब्रह्मा की सृष्टि, अथवा विकास, का वस्तुतः तात्पर्य है समस्त सांसारिक कामनाओं का विनाश और मनुष्य में एक भक्ति-प्रवृत्ति का परिणामी उदय।

"(३) विष्णु ब्रह्मा द्वारा सृजित बुद्धि का परिरक्षण और विकास करते हैं, और किसी अन्य निरर्थकता का परिरक्षण नहीं करते।

"(४) शिव मुख्यतः सांसारिक कामनाओं को नष्ट करके ब्रह्मा की सृष्टि के कारण हैं, और, अंततः, धार्मिक भक्ति और साधना के सुफलों का विनाश करके अंतिम मुक्ति के कारण हैं।

"(५) ब्रह्मा, विष्णु और शिव, जैसा ऊपर स्पष्ट किया गया, मनुष्य की अंतिम मुक्ति के लिए धार्मिक आवश्यकताओं को समाप्त कर देते हैं।"

*द परमानेंट हिस्ट्री ऑफ भारतवर्ष, खण्ड १, पृ. ३०३*

इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि सम्यक् विवेक, धर्म (धार्मिक आचरण), और वैराग्य (त्याग) वे तीन प्राथमिक अवधारणाएँ हैं जिन पर पौराणिक त्रयी आधारित है।*

किन्तु पुराण-कथा के चिंतन को सुलझाने में इन अवधारणाओं को व्यापकतम तात्पर्य दिया जाना चाहिए, क्योंकि मानसिक शक्तियों का स्वयं स्वभाव सीमाओं और परिधियों द्वारा विभाजन को असंभव बना देता है, और अतः कल्पना की उपजों के लिए एक-दूसरे के क्षेत्रों में अतिक्रमण करना संभव बना देता है। इसके अतिरिक्त, किसी शक्ति अथवा कार्य का केवल एक ही पक्ष होना दुर्लभ ही पाया जाता है, अतः यह विचित्र होगा यदि उनका प्रतिनिधित्व करने वाले देवता जटिल व्यक्तित्वों से संपन्न न हों।

इन अवलोकनों को ध्यान में रखते हुए, हम देख सकते हैं कि विष्णु धर्म का एक अमूर्त सिद्धान्त अथवा वस्तु के रूप में व्यक्तित्व-रूप नहीं हैं, अपितु उस चेतना के, जो उससे (धर्म से) ओतप्रोत है। इस रूप में, वे बार-बार, आवधिक रूप से, अवतार लेते हैं, क्योंकि वस्तुओं के स्वयं स्वभाव में यह है कि जब भी परिस्थितियाँ असह्य हो जाएँ, तब बेहतरी की ओर एक परिवर्तन अवश्य घटित होना चाहिए। नियमानुसार, व्यापक दुष्टता, अधर्म और पाप जाति पर अभूतपूर्व विपत्तियाँ लाते हैं, और विपत्ति के समान मनुष्यों को चिंतन में डालने वाली, अंततः उनके आदर्शों को बदल डालने वाली, और उन्हें अधार्मिक भौतिकवाद से विमुख कर देने वाली और कोई वस्तु नहीं। यही धर्म का जन्म है, जिसे विष्णु का बार-बार अवतार लेना कहा गया है।

*इन अवधारणाओं में से, सम्यक् विवेक धर्म के पालन की ओर ले जाता है, जिसके परिणामस्वरूप पुण्य का, और फलतः आत्मा के लिए समृद्धि का भी, संचय होता है; किन्तु परम वैराग्य, जो पाप और पुण्य दोनों की समाप्ति में परिणत होता है, मोक्ष का कारण है। अतः, शिव सामान्य संहारक हैं।*

अपने व्यापकतर पक्ष में, विष्णु द्वितीय लोगोस हैं, अर्थात् प्रज्ञा, तथा शुद्ध चेतना के रूप में कल्पित निरपेक्ष भी। वे भ्रम के संहारक हैं, इस सीमा तक कि चेतना के स्वभाव पर ध्यान प्रत्यक्ष रूप से प्रज्ञा की ओर ले जाता है, जो अज्ञान और भ्रम का विपरीत है। पुनः, चूँकि दुःख किसी वस्तु के न होने में नहीं, अपितु उसे पाने की कामना करने और न पाने में उत्पन्न होता है, अतः भ्रम-मुक्त आत्मा को, एक बार यह पता चल जाने पर कि वह स्वयं ही समस्त आनन्द और कल्याण का स्रोत है, अंततः अपने ही स्व में स्थापित होना ही होगा। यही मोक्ष है। अतः विष्णु मोक्ष के दाता भी हैं।

चेतना के व्यक्तित्व-रूप के रूप में, विष्णु अपने ललाट पर प्रज्ञा के, अर्थात् ब्रह्मा के, रूप को धारण किए हुए हैं। उत्तरार्ध, जब स्वयं में, अर्थात् चेतना से पृथक्, लिया जाए, तो मात्र औपचारिक ज्ञान तक सिमट जाता है। अतः, जब वे कृष्ण के विरुद्ध अपने बल को नापने का प्रयत्न करते हैं, तो उत्तरार्ध अपना रहस्यमय, अगम्य पक्ष धारण कर लेते हैं और उन्हें विस्मित कर देते हैं।

इस बिन्दु को दर्शाने वाली एक घटना पुराणों में इस प्रकार वर्णित है। कृष्ण की अस्थायी अनुपस्थिति के दौरान, ब्रह्मा एक बार पृथ्वी पर उतरे और कृष्ण के साथी गोपाल-बालकों को हटाकर उन्हें एक गुफा में छिपा दिया। जब कृष्ण आए और उन्हें अनुपस्थित पाया, तो उन्होंने अपनी माया-शक्ति से अन्य बालकों की सृष्टि कर दी, जो सभी दृष्टियों से उन बालकों के सदृश थे जिन्हें ब्रह्मा ने हटाया था। जब उत्तरार्ध यह देखने के लिए पुनः पृथ्वी पर उतरे कि कृष्ण अपने साथियों की हानि को कैसा अनुभव कर रहे हैं, तो वे बालकों को सामान्य रूप से खेलते देखकर विस्मित हुए, और यह देखने के लिए गुफा की ओर दौड़े कि क्या वह खाली है। वहाँ पहुँचने पर, वे उन्हें उसी प्रकार पड़े हुए पाकर विस्मित हुए जैसा उन्होंने उन्हें वहाँ रखा था, और चिंतन करने पर, निरपेक्ष की माया को जान गए, और उनकी वंदना की। यह मानव-बुद्धि की उन अपूर्णताओं का स्पष्ट रूपक है जो स्मृति पर निर्भर करती है, शुद्ध चेतना के सर्वज्ञ स्वभाव की तुलना में।

जब ब्रह्मा और अन्य देवता संकट में होते हैं, तो प्रज्ञा का प्रतिनिधित्व करने वाले विष्णु उनकी सहायता को आते हैं, जैसा तब हुआ जब शिव अपने ही एक असुर-भक्त के साथ मामला निपटाने में असमर्थ होकर कठिनाई में पड़ गए। जो घटित हुआ वह यह था: उस असुर ने महादेव की पूर्ण हृदय से आराधना की थी, और उत्तरार्ध, उसकी भक्ति से प्रसन्न होकर, यह वर दे बैठे थे कि वह

जिस किसी के भी सिर पर अपना हाथ रखे, वह तुरंत नष्ट होकर भस्म हो जाएगा। इस वरदान से हर्षित होकर, असुर ने इसकी प्रभावकारिता की परीक्षा स्वयं शिव के ही सिर पर करने का प्रयत्न किया। शिव अपने प्राणों की रक्षा के लिए भागे, और विष्णु की शरण ली, जिन्होंने उसे अपनी ही गतियों की नकल करवाकर शत्रु का विनाश कर दिया, जिसके परिणामस्वरूप, माया से भ्रमित होकर, असुर ने अपना ही हाथ अपने ही सिर पर रख लिया और तुरंत राख में परिणत हो गया। इसका तात्पर्य यह नहीं कि यह घटना वस्तुतः एक ऐतिहासिक घटना के रूप में घटित हुई, अपितु केवल यह सरल तथ्य कि जब इच्छा-शक्ति उद्विग्न होती है, तो चेतना 'घर्षण' के परिणामस्वरूप, ठीक उसी प्रकार तुरंत प्रकट में आती है जैसे ऊष्मा से प्रकाश, जैसा स्वप्नों में घटित होता है। जब तक मनुष्य गहरी निद्रा में सोया रहता है, जीवन उसके शरीर में स्वच्छन्दतापूर्वक 'प्रवाहित' होता है, किन्तु जिस क्षण कोई उद्दीपक उत्तेजना उस तक पहुँचती है, चेतना तुरंत प्रकट में उछल पड़ती है, और अपने मस्तक में धारण किए गए 'विचार' की सहायता से संवेदना को जीवन्त चित्रों में रूपांतरित कर देती है, और स्थिति को प्रत्यक्ष तथा समझने का प्रयत्न करती है, यद्यपि न्यूनाधिक तंद्रामय रीति में। शिव की मूर्खता और असम्मानजनक पलायन की कथा का यही तात्पर्य है। ऐसे उपाख्यानों का वर्णन करने वाले वे लोग थे जिन्होंने निर्भीकतापूर्वक अपने निष्कर्षों को अभिलिखित किया, इस बात की क्षुद्र दलीलों से अप्रभावित रहते हुए कि उनकी कथाएँ ईश्वर की उनकी अवधारणा को अपयश दिलाने वाली सिद्ध होंगी या नहीं। वे भलीभाँति जानते थे कि जो कोई भी सत्य को समझने के योग्य और इच्छुक होगा, वह देवताओं में इन आभासी त्रुटियों के इन दृष्टान्तों के वास्तविक तात्पर्य को खोजने में स्वयं को लगाएगा, और सच्चा ज्ञान सीखेगा। अतः, जो लोग ऐसी बातों के कारण धर्म से ही विरक्त हो जाते हैं, उन्हें अपना उद्धार कहीं और खोजना चाहिए, क्योंकि धर्म को केवल सत्य के गंभीर खोजी की ही आवश्यकता है और वही उससे लाभान्वित हो सकता है, न कि वे जो जो कुछ सिखाया जा रहा है उसका पूर्ण अध्ययन किए बिना ही मत व्यक्त करने को तत्पर रहते हैं।

देवों और असुरों, अर्थात् ईश्वर और शैतान, के बीच का निरन्तर किन्तु अनिर्णायक संग्राम देवत्व में एक अन्य त्रुटि का दृष्टान्त है। सुसमाचार-लेखकों ने भी अपने ही देश में चमत्कार करने में यीशु की असफलता को अभिलिखित करने में संकोच नहीं किया। यहाँ तक कि पुराने विधान के

लेखकों ने भी निर्भीकतापूर्वक वह अभिलिखित किया जिसे एक आधुनिक धर्मशास्त्री सहर्ष छोड़ देना चाहेगा। न्यायियों की पुस्तक में कहा गया है:—

> "और यहोवा यहूदा के साथ था; और उसने पर्वत के निवासियों को निकाल बाहर किया; किन्तु घाटी के निवासियों को निकाल न सका क्योंकि उनके पास लोहे के रथ थे।" (न्यायियों १:१९)*

ये और देवताओं में त्रुटियों के अन्य समस्त समान दृष्टान्त अपने बाह्य अर्थ में समझे जाने के लिए अभिप्रेत नहीं हैं: पाठक को उनके गुप्त अर्थ की खोज करनी चाहिए, जो, एक बार खोज लिए जाने पर, उसे यह साकार करने में समर्थ बनाएगा कि उसका सच्चा, जीवंत ईश्वर उसके शरीर की प्राणवाहिनी शिरा से भी उसके निकट है, जैसा इस्लाम के पैगंबर ने सत्यतापूर्वक घोषित किया।

> *इस अंश का स्पष्टीकरण पक्षपात के विचार पर एक घातक प्रहार है, इसके मुख्य प्रतीकात्मक तत्त्व हैं (१) रथ, जो निकायों को द्योतित करते हैं, जैसा महाभारत के उस रूपक में है जो दर्शाता है कि किन परिस्थितियों में और किस प्रभाव से विष्णु (धर्म) अर्जुन (आत्मा) के सारथी बनते हैं, (२) यहोवा, प्रेम के महान् सिद्धान्त अथवा चुंबक, और (३) लोहा, जो द्योतित करता है कि चुंबक द्वारा सरलता से आकर्षित होने वाली वस्तु को, अतः ईश्वर के प्रेम में लीन एक आत्मा को। इस प्रकार, प्रश्नगत अंश संभवतः ईश्वर और एक आत्म-सचेत आत्मा के बीच प्रेम के संबंध को द्योतित करने के लिए अभिप्रेत था, जो उत्तरार्ध की रक्षा करने की प्रवृत्ति रखेगा, न कि उसे नष्ट करने की।*

अब हम प्रज्ञा की देवी सरस्वती के पौराणिक तात्पर्य का स्पष्टीकरण कर सकते हैं। वे संगीत के प्रति अपने प्रेम के लिए विख्यात हैं और अपने हाथ में वीणा (एक प्रकार का बैंजो) धारण करती हैं। उनका वचन अलंघनीय है; वे हंस पर सवार होती हैं और ईश्वर की पुत्री हैं। ये उनकी प्रमुख विशेषताएँ हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मूल अवधारणा जिन-वाणी की है, ईश्वर की वाणी, जिन से — संसार के विजेता से, अतः ईश्वर से — और वाणी, शब्द से। इस रूप में, वे प्रकाशना का प्रतिनिधित्व करती हैं, जिस कारण उनका वचन पूर्णतः अलंघनीय है। वे ईश्वर की पुत्री हैं, क्योंकि वे प्रत्यक्ष रूप से एक तीर्थंकर (ईश्वर) से उद्भूत होती हैं। जिस हंस पर वे सवार होती हैं वह श्वास का प्रतीक है, क्योंकि हं और सः (हं+सः=हंसः) क्रमशः गहरे श्वास लेने और छोड़ने में वस्तुतः सुनी जाने वाली ध्वनियाँ हैं।सरस्वती की हिन्दू अवधारणा भी परम ज्ञान की ही है। सरस्वती-रहस्योपनिषद् के एक अंश में, जिसे श्री के. नारायण अय्यर ने उद्धृत किया है, उनका आवाहन इस प्रकार किया गया है:—

> "देवी सरस्वती, जिनका रूप वेदान्त का स्वयं सार है, मेरी रक्षा करें। वे ब्रह्म की शक्ति (ऊर्जा) हैं जिनका वेदों और वेदांगों में एकमात्र के रूप में वर्णन किया गया है। वे अपने अन्तर्मुखी कार्य

द्वारा तीनों लोकों का भीतर से निर्देशन करती हैं। वे रुद्र, आदित्य आदि में मार्गदर्शक सिद्धान्त हैं, और वे उन्हीं के द्वारा भोगी जाती हैं जो अपने अन्तर्मुखी कार्य की प्रक्रिया में अपनी दृष्टि भीतर की ओर मोड़ते हैं। वे आठ भागों में विभाजित विस्तृत ज्ञान हैं। वे निर्विकल्प हैं और ब्रह्म का रूप हैं, जिनका ध्यान करते हुए योगीजन बंधन से अपनी मुक्ति पाते हैं। ब्रह्मा के मुख में निवास करने वाली शुद्ध और श्वेत सरस्वती मेरे हृदय में विश्राम करें।"

"देवी सरस्वती," श्री के. नारायण अय्यर जोड़ते हैं, "यहाँ परम ज्ञान और ब्रह्म के रूप के रूप में वर्णित हैं, और विशेष रूप से उन्हीं के द्वारा भोगी जाने वाली बताई गई हैं जो अपनी दृष्टि भीतर की ओर, वापस ब्रह्म की ओर, मोड़ते हैं।"

सरस्वती को शब्द के प्लेटोवादी अर्थ में 'विचारों' (Ideas) के व्यक्तित्व-रूप के रूप में भी मानना संभव है। इस रूप में, वे सृष्टिकर्ता का 'नित्य आनन्द' होंगी, उपनिषदों की शतरूपा के समान, और साथ ही उसकी द्वितीय, अथवा उसके साथ पली-बढ़ी हुई, 'विचारों' अथवा लयों का व्यक्तित्व-रूप, जो, जीवन (ईश्वर के रूप में व्यक्तिकृत) के भिन्न-भिन्न स्पंदनों के प्रकार होने के नाते, उसके साथ समकालिक हैं। वीणा इस प्रकार संपूर्ण ब्रह्मांडीय अथवा आदि-प्रतिरूप 'वाद्यवृन्द' का प्रतिनिधित्व करेगी जिस पर जीवन अपनी सुरीली धुनें बजाता है।

सरस्वती को, तथापि, गणेश से भिन्न समझा जाना चाहिए, जो भी प्रज्ञा के देवता हैं। वे एक बालक हैं, और उनका मुख हाथी की सूँड़ का है, केवल एक ही दाँत सहित, उस प्राकृतिक मस्तक के स्थान पर जिससे वे अपने जन्म के तुरन्त बाद वंचित कर दिए गए थे। उनका वाहन एक चूहा है, और वे केवल मिठाइयाँ खाते हैं। देवताओं में सबसे कनिष्ठ होते हुए भी, वे इस पर आग्रह करते हैं कि उन्हें सबसे पहले आमंत्रित किया जाए, और उपेक्षित किए जाने पर क्रुद्ध होकर बहुत उपद्रव मचाते हैं। शरीर-रचना में वे मानो जुड़ाव-रहित, ढीले-ढाले और भद्दे हैं। ये गणेश की मुख्य विशेषताएँ हैं।

इस व्यक्तित्व-रूप की व्याख्या में हमें उनके वाहन — चूहे — से आरंभ करना होगा, जो अपने दाँतों के उत्कृष्ट उपयोग के लिए विख्यात है। अब, एकमात्र मानसिक शक्ति जिसका प्रतिनिधित्व एक ऐसे पशु द्वारा किया जा सकता है जो अपनी काटने की प्रवृत्ति के लिए संसार-भर में कुख्यात है, विश्लेषण है, जो हमें वस्तुओं की संरचना का निर्धारण करने में समर्थ बनाती है। दूसरी ओर, गणेश का हाथी की सूँड़ वाला भद्दा, ढीला-ढाला शरीर, संश्लेषण का सूचक है, जो

विश्लेषण से अधिक उपयोगी होने के कारण उस पर वरीयता रखता है। अतः, चूहे को गणेश का वाहन कहा गया है।

एकाकी दाँत का संबंध उस एकत्ववादी (मोनिस्टिक) दृष्टिकोण से है जिसे दर्शन के कुछ संप्रदाय प्राप्त करने की आकांक्षा रखते हैं। स्पष्ट है, दो दाँत केवल द्वैतवाद* के ही अनुरूप होते। गणेश को एक बालक के रूप में निरूपित किया गया है, इस सीमा तक कि प्रज्ञा लोगों को ऐसा बना देती है, और साथ ही इसलिए भी कि प्रज्ञा का जन्म सबसे बाद में होता है। इसी से यह भी स्पष्ट होता है कि गणेश देवताओं में सबसे कनिष्ठ क्यों हैं। वे मिठाइयाँ खाते हैं, क्योंकि आनन्द प्रज्ञा का फल है। उनका यह आग्रह कि उन्हें सबसे पहले आमंत्रित किया जाए, और उनकी उपेक्षा से उत्पन्न होने वाला उपद्रव, केवल प्रज्ञा के स्वभाव पर बल देने के लिए है।

*यही विचार टयूटोनिक पुराण-कथा के ओडिन के व्यक्तित्व में भी अनुरेखनीय है, जिसने अपनी एक आँख का बलिदान इसलिए किया 'ताकि उसे महान् प्रज्ञा से संपन्न किया जा सके।'*

ये दृष्टान्त, हमारी राय में, यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं कि भिन्न-भिन्न देव-मण्डलों का गठन करने वाली देवताओं की प्रकृति उस से बहुत भिन्न है जो अब तक सामान्यतः मानी जाती रही है। और यही अवलोकन रहस्यवाद की शिक्षा के संबंध में भी किया जाना चाहिए, जिसके कुछ सिद्धान्तों की, यथा 'पतन' और 'पवित्र त्रित्व' की, हमने विस्तार से परीक्षा की है। यदि इसी दिशा में अन्वेषण जारी रखा जाए, तो, ऐसा विश्वास है, यह अधिकांश अन्य कथाओं और पुराण-गाथाओं के रहस्यों को उद्घाटित कर देगा; किन्तु हम विचार के इस विभाग में अभी और नहीं रुक सकते। हम, तथापि, यहाँ यह इंगित कर सकते हैं कि मन को (१) चेतना, (२) इच्छा-शक्ति, और (३) विचार-निर्माण में विभाजित करने से मन में भ्रम उत्पन्न होने की संभावना है, क्योंकि पुराण-वेत्ताओं ने सामान्यतः इनमें से प्रथम और अंतिम पक्षों को दो के स्थान पर एक ही शीर्षक के अन्तर्गत लिया है। किन्तु यह केवल नामकरण का भेद है। हम भी इस विषय को उसी रीति से लेना अधिक पसन्द करते, यदि विचार की समस्त प्रणालियों, मनोविज्ञान के विज्ञान सहित, के व्यापक सर्वेक्षण और समन्वय की आवश्यकताओं के लिए यह विशेष पद्धति अपनाना आवश्यक न होता। यदि पाठक भिन्न-भिन्न प्रणालियों के पृथक् दृष्टिकोणों को स्मरण रखे, तो वह त्रित्व के तीन पक्षों को वेदान्त के ब्रह्म के दो पक्षों में जबरन बिठाए जाने से प्रतीत होने वाले टकराव से बच सकेगा। वास्तव में, कहीं कोई टकराव नहीं है, सिवाय उस मन के लिए जो विचार के अत्यन्त संकीर्ण क्षितिज से

पूर्वाग्रहग्रस्त हो। तथापि, तुलना की अधिक सुविधा के लिए, हम अब तक परीक्षित प्रमुख प्रणालियों का एक सार-संग्रह संलग्न करते हैं।

**प्रणाली — देवत्व — पक्ष***

१. वेदान्त — ब्रह्म — (क) निर्गुण*, अज्ञेय, अनाम्य यथार्थ, अभौतिक (अर्थात् भौतिक-नहीं, अतः) आत्मा, एक त्रयात्मक एकत्व जिसमें सम्मिलित हैं: (१) सत्, अर्थात् अस्तित्व, (२) चित्, अर्थात् चेतना, और (३) आनन्द। (ख) सगुण†, अर्थात् वाणी अथवा वाक्: (१) प्रथम लोगोस, अर्थात् इच्छा-शक्ति। (२) द्वितीय लोगोस, अर्थात् बुद्धि अथवा प्रज्ञा। (३) तृतीय लोगोस, अर्थात् क्रियाशीलता।

२. थियोसॉफी — अप्रकट — ब्रह्मा, बुद्धि

३. पुराण — त्रयात्मक देवत्व — (१) ब्रह्मा, चेतना; (२) विष्णु, अर्थात् चेतना, धर्म भी; और (३) शिव, इच्छा-शक्ति (वैराग्य)

४. ईसाई धर्म — पवित्र त्रित्व — (१) पिता, अर्थात् चेतना; (२) पुत्र, अर्थात् वाणी; और (३) पवित्र भूत, अर्थात् इच्छा-शक्ति, हर्ष अथवा आनन्द की दाता, अतः सांत्वनादाता

*निर् = रहित, और गुण = विशेषता; अतः गुण-रहित।† सगुण, गुण-रहित का विपरीत।*

बाइबिली त्रित्व की मूल अवधारणा उपर्युक्त सार-संग्रह से छोड़ दी गई है, किन्तु एक दृष्टि ही यह दर्शाने के लिए पर्याप्त है कि चौथा सुसमाचार सृजनात्मक लोगोई के व्यक्तित्व-रूप के संबंध में, वाणी के रूप में, वेदान्त का ही अनुसरण करता है। यहाँ तक कि दिव्य त्रयी का तीसरा सदस्य भी, जैसा 'प्रेरितों के काम' के संकलनकर्ता द्वारा कल्पित है, मानसिक त्रिवेणी की सरस्वती (आध्यात्मिकृत इच्छा-शक्ति) से अभिन्न नहीं है, जिसकी पवित्र भूत के साथ पहचान तब स्पष्ट हो जाती है जब हम इस तथ्य का स्मरण करें कि उसके अवतरण* के पश्चात् ही शिष्य उस पुस्तक के दूसरे अध्याय में वर्णित चमत्कार करने में समर्थ हुए थे। यीशु ने उसे 'सांत्वनादाता' कहा, अर्थात् वह जो हर्ष प्रदान करता है।

ईसाई धर्म, जो अपने प्रारंभिक दिनों में निस्संदेह भारतीय दर्शन की भावना से ओतप्रोत था, प्रतीत होता है कि इसने अपनी पवित्र त्रित्व को धर्म के सच्चे सिद्धान्तों पर आधारित किया था, किन्तु, ज्ञान के शीघ्र लोप के कारण, शिक्षा की सच्ची व्याख्या से लाभान्वित न हो सका, अथवा, यदि ऐसा करने में समर्थ भी था, तो उसे अपनाने के लिए अनिच्छुक रहा, क्योंकि इससे चर्च के स्थापित प्रमुख के अधिकार में पर्याप्त हस्तक्षेप होता। हिन्दू धर्म के विषय में, दुर्भाग्यवश, इसके

अनुयायियों ने अपनी पुराण-कथा में निहित सत्यों में रुचि लेना बंद कर दिया है, और जो केवल उच्चतम ज्ञान प्रदान करने के लिए अभिप्रेत था, उसे अब हिन्दू समुदाय का एक वर्ग, अपने अत्यधिक अहंकार के कारण, मूर्ख, बचकानी कथाओं का संग्रह मानता है, और दूसरा वर्ग, गहरे अज्ञान में डूबा हुआ, इसे धार्मिक पूजा का एकमात्र लक्ष्य मानता है। यदि सच कहा जाए, तो यह कभी अभिप्रेत नहीं था कि जीवन के भिन्न-भिन्न पक्षों पर ध्यान के अतिरिक्त — जो पुराणों में वर्णित समस्त ३३,००,००,००० रूपों में स्वयं को प्रकट करता है — कोई अन्य पूजा की जाए। वेद 'तत् त्वम् असि' (वह तू है) की शिक्षा भलीभाँति नहीं दे सकते थे और साथ ही उसी समय पौराणिक देवताओं की पूजा का विधान भी दे सकते थे। जीवन के स्वभाव पर ध्यान ही शब्द के सच्चे अर्थ में पूजा है; किसी अन्य से कृपादान की भीख माँगना कभी मुक्ति का साधन नहीं हो सकता। भ्रम को पतला करने से कोसों दूर, भीख माँगना उसे केवल गहरा ही करता है। यही स्थिति अन्य समस्त अनुष्ठानों और समारोहों के साथ है, चाहे वे विदा हो चुके आत्माओं के, अथवा जीवित लोगों के, विशेष लाभ के लिए किए जाएँ। वे सब निम्नतर व्यक्तित्व अथवा प्रकृति को ही प्रमुखता देने की प्रवृत्ति रखते हैं, और हमें महावाक्यों (महान् वचनों अथवा सत्य-कथनों), यथा 'मैं ब्रह्म हूँ,' के तात्पर्य को ग्रहण करने से रोकते हैं।

> *स्मरण करते हुए कि जो कहा गया है उसके अनुसार ध्यान में लगे व्यक्तियों की संख्या के वर्ग के अनुपात में एकाग्रता की शक्ति बढ़ती है, पंतेकुस्त के दिन घटित हुई परिघटनाओं को सरलता से उन प्रेरितों की सामूहिक इच्छा-शक्ति का परिणाम समझा जा सकता है जो सब एक ही स्थान में एक ही मन से थे। उनकी सर्वग्रासी एकाग्रता की तीव्रता ध्वनि द्वारा मुक्त हुई, और प्रज्ञा प्रकट हुई, जिसने उन्हें अन्य भाषाओं में बोलने में समर्थ बनाया।*

जहाँ तक इन आध्यात्मिक अवधारणाओं — ब्रह्मा और अन्य — के रूपों का संबंध है, उन्हें भिन्न-भिन्न पुराण-कथाओं में अत्यन्त परिशुद्धता के साथ कल्पित किया गया है; किन्तु चूँकि वे अत्यन्त जटिल स्वभाव की शक्तियों और सामर्थ्यों का व्यक्तित्व-रूप हैं, अतः उन्हें पूर्णतः समझ पाना सदैव सरल नहीं होता। ये पौराणिक देवता, तथापि, वास्तविक सत्ताओं — इन्द्रों, असुरों, और इसी प्रकार के अन्य — से भ्रमित नहीं किए जाने चाहिए, जो हमारे ही समान जीवित प्राणी हैं। इसका सर्वथा कोई कारण नहीं कि भूत, प्रेत, गोबलिन, कल्पवासी (एल्फ), और इसी प्रकार की सत्ताएँ अस्तित्व में न हों। वे समस्त देशों और समस्त कालों में मनुष्यों द्वारा देखी गई हैं। वे निकाय-रहित आत्माएँ नहीं हैं, अपितु हमारे ही समान पदार्थ से बने, यद्यपि सूक्ष्मतर गुणवत्ता के, शरीर रखती हैं। ब्रह्मा और अन्य पौराणिक देवताओं की पूजा के संबंध में हमारे द्वारा की गई

टिप्पणी दानव-विद्या पर, अथवा दूतों और भूतों तथा सामान्यतः अंधकार की शक्तियों की पूजा पर, और भी अधिक बल के साथ लागू होती है; यह केवल भ्रम को दृढ़ करने का ही काम करती है। इस बिन्दु पर, हमें केवल वेदान्त की सुदृढ़ घोषणा प्रस्तुत करनी है, स्वामी अभेदानन्द की भाषा में, जो कहते हैं ('स्पिरिचुअलिज़्म एण्ड वेदान्त', पृ. १७):—

> "किसी भी मात्रा में उत्तम विचार और उत्तम कर्म उस वस्तु को अपना परिणाम उत्पन्न नहीं कर सकते जो विचार और मन के परे है, और फलतः उनके प्रयासों की पहुँच से भी परे है, क्योंकि दिव्य साक्षात्कार मानसिक परिघटनाओं के क्षेत्र में नहीं है, न ही मन, बुद्धि अथवा इन्द्रिय-शक्तियों द्वारा उस तक पहुँचा जा सकता है। और वह पथ जो व्यष्टि आत्मा को निरपेक्ष के साक्षात्कार तक ले जाता है, न तो धार्मिक कर्मकांडों के द्वारा है, न विदा हो चुकी आत्माओं में विश्वास के द्वारा, न पूर्वजों की आत्माओं की पूजा के द्वारा, अपितु आत्म-ज्ञान के द्वारा और उस संबंध के ज्ञान के द्वारा है जो व्यष्टि आत्मा सार्वभौमिक आत्मा के साथ रखती है। उस पथ को वेदान्त में देवयान कहा जाता है, दिव्य पथ, अथवा वह पथ जो दिव्यत्व की ओर ले जाता है। इस पथ के यात्री वे हैं जो निरपेक्ष के सर्वाधिक निष्ठावान और गंभीर खोजी हैं, जो घटनाओं की, चाहे भौतिक हों या मानसिक, परवाह नहीं करते, जिनकी आत्माएँ उन कामना-मेघों के ऊपर ऊँची उड़ान भरती हैं जो साधारण मरणशीलों में आध्यात्मिक सूर्य के प्रकाश को ढके रहते हैं; किन्तु जिनका सर्वोच्च लक्ष्य, जिनकी उच्चतम आकांक्षा, और जिनकी आत्मा की गहनतम अभिलाषा उस अपरिवर्तनीय सत्य को साकार करना है जो मन के परे, बुद्धि के परे है, जिस तक अध्यात्मवादियों के स्वर्ग-स्थित पिता भी नहीं पहुँच सकते।"

अब हम इस अध्याय का समापन कर सकते हैं; किन्तु, पाठक को अगले अध्याय में हमारे साथ चलने के लिए आमंत्रित करने से पूर्व, जिसमें हम धर्म के, हमारी दृष्टि में, संसार में एकमात्र सच्चे दर्शन के विचार प्रस्तुत करते हैं, अब तक की हमारी अन्वेषणा के परिणाम पर एक सरसरी दृष्टि डालना अनुचित नहीं होगा। हमने देखा है कि प्रत्येक आत्मा की स्वाभाविक, किन्तु प्रायः भय से दबी हुई, लालसा उस सुख की उस मात्रा को प्राप्त करने की है जो अपूर्णता अथवा कामना को कुछ भी नहीं जानती; और हमने यह भी देखा है कि सुख की वह अवस्था न केवल प्राप्त की जा सकने योग्य है, अपितु उसे खोजना भी दूर नहीं। चरण-दर-चरण, हम संसार के दो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण धर्मों — ईसाई धर्म और वेदान्त — पर विचार करने के लिए प्रवृत्त हुए हैं, और उनकी तुलना से हम जगत् और उस ईश्वर के स्वभाव के विषय में, जो बनने की हमने आकांक्षा की है,

कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकालने में समर्थ हुए हैं। किन्तु हमने अब तक इन दोनों मतों में से किसी में भी, जिनकी हमने इतनी गहनता से, आलोचनात्मक ढंग से नहीं अपितु रचनात्मक ढंग से, परीक्षा की है, कहीं भी ईश्वर अथवा निर्वाण की, अथवा यहाँ तक कि आत्मा के बंधन के स्वभाव और कारणों की भी, कोई सच्ची परिभाषा नहीं पाई है। वेदान्त तो व्यष्टि पर विचार करना अपनी गरिमा से नीचे मानता है, और उसकी विचारधारा को सर्वथा शुद्ध भ्रम बताता है, जबकि ईसाई धर्म इस बिन्दु पर सर्वथा मौन है। यह सत्य है कि स्वप्नों के दृश्यों और जागृत जगत् के बीच घनिष्ठ सादृश्य है, किन्तु केवल इस सादृश्य के कारण दर्शन इस निष्कर्ष पर नहीं कूद सकता कि ब्रह्मांड वस्तुतः किसी अतिमानवीय स्वप्नद्रष्टा का स्वप्न ही होना चाहिए। स्वप्न और हमारी जागृत चेतना के जगत् के बीच एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भेद है, और वह इस तथ्य में निहित है कि, जबकि वह स्वप्नद्रष्टा जिसकी अवचेतन मानसिक क्रियाशीलता स्वप्न का कारण है, स्वप्न-अवस्था में गिरने से पूर्व किसी समय मनुष्यों के जगत् में एक सचेत सत्ता था, और पुनः उसी जागृत चेतना के जगत् में जाग उठेगा, वहीं ब्रह्मांड का स्वप्नद्रष्टा कभी ऐसा प्राणी नहीं दिखाया गया है जो कभी जागा हो, अथवा जो अपनी शाश्वत, अनादि, और प्रतीत होने योग्य अनन्त निद्रा से कभी जागेगा। यह भेद केवल शब्दों का ही नहीं, अपितु उस आत्मा के लिए जीवनदायी महत्त्व का है जो 'वह' बनने की आकांक्षा रखती है। क्या हम उसी अवस्था की ओर बहते जा रहे हैं जिसे लॉर्ड बायरन ने इस प्रकार वर्णित किया है —

> "सत्ता की विचित्र अवस्था! (क्योंकि यह अभी भी होने को है)अनुभूति के प्रति संवेदनहीन,
> और मुद्रित नेत्रों से देखना"?

हैमलेट का "शायद स्वप्न देखने के लिए!" परम शुभ (समम् बोनम्) पर एक मूक टिप्पणी है, यदि स्वप्न देखना ही धर्म का सर्वस्व और अंतिम लक्ष्य हो। एक स्वप्नद्रष्टा होना — एक शाश्वत, 'कभी न जागने वाला' स्वप्नद्रष्टा — इससे अधिक है जितना कोई भी बनना चाहेगा। तो क्या हमने वेदान्त को गलत समझा है? संभवतः हाँ। किन्तु हमने उसके अपने ही दृष्टिकोण से उसके निष्कर्षों का अनुसरण करने और उन्हें कार्यान्वित करने का प्रयत्न किया है, जहाँ तक ऐसा करना संभव था। आनन्द के भोक्ता के रूप में ब्रह्म का विचार भव्य है, किन्तु एक और पक्ष भी शेष रह जाता है जिस पर विचार किया जाना है, अर्थात् एक स्वप्नद्रष्टा का, ताकि आत्मा का यह प्रश्न — 'मैं कौन हूँ?' — उस उदात्त सूत्र, 'वह तू है,' में उत्तर पाता हुआ मुश्किल से ही कहा जा सके, क्योंकि वह

यह भी जानना चाहती है कि 'वह क्या है — भोक्ता, अथवा स्वप्नद्रष्टा, अथवा दोनों?' यह अंतिम विचार, अर्थात् भोक्ता और स्वप्नद्रष्टा का एक में विलय, सबसे अधिक असंतोषजनक है, क्योंकि कोई भी एक ही समय में अपने में दो परस्पर-विरोधी वस्तुओं को समाहित नहीं कर सकता।

ईसाई धर्म, जब हम उससे उत्तर खोजने की ओर मुड़ते हैं, और भी बदतर सिद्ध होता है, क्योंकि उसके पास अपना कुछ भी नहीं है, और वह स्वयं ही बोधगम्य विचार में विश्लेषित होने के लिए किसी बाह्य प्रकाश की आवश्यकता में खड़ा है।

सांख्य की तत्त्वमीमांसा भी, जिसकी हमने इस अध्याय में परीक्षा की है, इन्द्रियगोचर जगत् के स्वभाव की एक भ्रान्त धारणा सिद्ध होती है, और किसी वैज्ञानिक आधार अथवा उद्गम का दावा नहीं कर सकती।

पुराण-कथा और रहस्यवाद के पास, निस्संदेह, वह जानकारी हो सकती है जिसे हम प्राप्त करना चाहते हैं, किन्तु उन्हें एक सम्मानजनक दूरी पर रखना उनकी भूलभुलैया-सदृश जटिलताओं में खो जाने का जोखिम उठाने से अधिक सुरक्षित प्रतीत होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अब तक हम सत्य की केवल एक झलक ही प्राप्त कर सके हैं, और यह कि यदि हम उन समस्त महत्त्वपूर्ण समस्याओं के विषय में, जो सच्चे ज्ञान (ज्ञान) का गठन करती हैं — और ज्ञान ही मोक्ष की पूर्वापेक्षित शर्त है — अपनी समझ को संतुष्ट करना चाहते हैं, तो हमें किसी अन्य स्रोत की ओर मुड़ना होगा जो खोजी आत्मा को संतुष्ट करने में समर्थ हो।

हाथ में लिए गए विषय का पूर्वगामी विवेचन, तथा दर्शन और तत्त्वमीमांसा के दृष्टिकोण से भिन्न-भिन्न धर्मों के विविध पौराणिक सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण, ऐसी आशा है कि अगले तथा उसके पश्चात्वर्ती अध्यायों में विवेचित किए जाने वाले सत्य के सिद्धान्तों के स्वागत के लिए भूमि तैयार कर चुके होंगे।

अध्याय १०

# सिद्धान्त

THE SIDDHANTA

THE SIDDHANTA

एक बार कुछ अंधे लोग अपने गाँव में आए एक हाथी को 'देखने' के लिए निकले। उन सबको उसके पास ले जाया गया, और उन्हें अपने हाथों से उसे छूने दिया गया, एक ने उसकी सूँड़ छुई, दूसरे ने उसका कान, तीसरे ने उसका पैर, इत्यादि। पशु के चले जाने के बाद, वे सब उसके स्वरूप के विषय में अपने ज्ञान की चर्चा करने लगे। प्रत्येक ने अपने ही निजी अवलोकन के अनुसार उसका वर्णन किया, किन्तु शीघ्र ही यह पता चला कि उनके वर्णन मेल नहीं खाते। इस पर, उनके बीच यह झगड़ा उठ खड़ा हुआ कि उनमें से सत्यवादी साक्षी कौन है, और शब्दों से वे शीघ्र ही मारपीट पर उतर आए। इसी बीच, वहाँ एक व्यक्ति आ पहुँचा जो उनके समान अंधा नहीं था, और जिसने वास्तव में एक हाथी देखा था; और उसने बड़ी कठिनाई से उन्हें यह समझाकर सुलझाया कि उनमें से प्रत्येक ने अपने हाथ से जो अनुभव किया था वह संपूर्ण पशु नहीं, अपितु उसके शरीर का केवल एक अंश ही था। — अंधों और हाथी का दृष्टान्त

नीति-वचन:— 'इस संसार के मनुष्य उस दृष्टान्त के अंधों के समान हैं; वे अपने आंशिक ज्ञान को संपूर्ण सत्य के रूप में स्वीकार किए जाने पर आग्रह करते हैं।'

धर्म में गलतफ़हमी के कारणों को दो स्पष्ट शीर्षकों के अन्तर्गत वर्गीकृत किया जा सकता है, अर्थात्, वे जो आंशिक ज्ञान से उत्पन्न होते हैं, जिसे मनुष्य यथार्थ सत्य बताकर चलाने का प्रयत्न करते हैं, और वे जो कथाओं और आख्यानों में समाहित शिक्षा को समझने में असफलता के कारण होते हैं। इन दो प्रकारों में से, उत्तरार्ध कष्ट का अधिक फलदायी स्रोत है।

यह नहीं मान लिया जाना चाहिए कि पुराण-कथा एक ऐसा विज्ञान है जिसे प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। इसका मूल्य इस तथ्य से स्पष्ट है कि, कम-से-कम पिछले दो हज़ार वर्षों में, इसने मनुष्यों के बीच केवल झगड़े, विवाद और रक्तपात को ही जन्म दिया है, और अन्य समस्त वस्तुओं के संयुक्त प्रभाव से भी अधिक भेद उनके बीच उत्पन्न किए हैं। यह उस रहस्यवाद की भावना का सर्वथा स्वाभाविक परिणाम है जिसे पुराण-कथा प्रत्यक्ष रूप से पोषित करती है, क्योंकि यह उस

अज्ञान को जन्म देती है जो कभी भी उन अपवित्र जुड़वाओं — कट्टरता और धर्मान्धता — को जन्म देने में विफल नहीं होती।

कथाएँ और आख्यान, निस्संदेह, अत्यन्त आकर्षक होते हैं, और अधिक कठिन मानसिक श्रम की माँग नहीं करते, किन्तु हमें उन कठिनाइयों को कम करके नहीं आँकना चाहिए जो वे मनुष्यों के लिए उत्पन्न करते हैं। कोई भी गंभीरता से यह अस्वीकार नहीं करेगा कि वे उस आदर्श पर अस्पष्टता का एक आवरण डाल देते हैं जिसे अस्पष्ट, अराजक विचार की धुंध से मुक्त करना दर्शन का लक्ष्य है, और जिसे साकार में लाना धर्म का। मुक्ति के लिए स्पष्ट विचार की आवश्यकता है, पुराण-कथा की नहीं।

हमें एक अत्यन्त उत्साही, यद्यपि सुसंस्कृत, मुसलमान सज्जन का स्मरण आता है जो इस आधार पर कुरान की भूरि-भूरि प्रशंसा करते थे कि उसमें अनेक ऐसे अंश हैं जिन्हें कोई नहीं समझ सकता। हमारे मित्र, तथापि, यह विचार करने के लिए नहीं रुके कि उनके शब्दों का क्या तात्पर्य है, और उन्हें धर्म के व्यावहारिक मूल्य का बहुत कम अथवा कोई ज्ञान नहीं था। जिसे कोई भी नहीं समझता, वह किसी भी संभावना से मुक्ति का साधन कैसे हो सकता है? मान लीजिए किसी वैज्ञानिक ग्रन्थ में ऐसे सूत्र हों जो मनुष्यों की समझ से परे हों, तो क्या कोई उनकी दुर्बोधता को उसकी गुणवत्ता के पक्ष में एक तर्क के रूप में प्रस्तुत कर सकता है? यह कहना कोई उत्तर नहीं कि समझे जाने पर वे सूत्र प्रकृति के महत्त्वपूर्ण रहस्य उद्घाटित कर देंगे, क्योंकि नकद-मूल्य व्यावहारिक कल्याण पर निर्भर करता है, न कि दुर्बोधता के आकर्षण के विषय में सैद्धान्तिक अटकल पर। क्या कोई भिखारी, जो इस आधार पर श्रेय का दावा करे कि वह अगणित धन का स्वामी और अधिकारी है, किन्तु केवल उसके ठिकाने से अनभिज्ञ है, अपने लाखों से कोई लाभ उठा पाएगा? यही स्थिति पुराण-कथा के साथ है, जिसने, जैसा ऊपर कहा गया, मनुष्यों के बीच दुर्भाव के निकृष्टतम रूपों को जन्म दिया है।

गलतफहमी के कारणों के प्रथम प्रकार के विषय में, यह इंगित करना पर्याप्त होगा कि जिन धर्मों की हमने अब तक परीक्षा की है, उनमें से कोई भी पूर्णता से चिह्नित नहीं है। वेदान्त, उदाहरणार्थ, हमें ब्रह्म और माया के साथ छोड़ देता है, और उनकी सहायता से पदार्थ और बल का जगत् रचने में हमें बहुत कम अथवा कोई सहायता नहीं देता। काल, आकाश और कार्य-कारणता

का उसके पास कोई स्पष्टीकरण नहीं। न ही हमें माया की यन्त्र-रचना में कोई अंतर्दृष्टि दी जाती है, जो किसी रहस्यमय रीति से जगत्-प्रक्रिया के लिए उत्तरदायी मानी जाती है।

अतः, जगत् के अंतिम कारणों को ऐसे पदों में खोजा और वर्णित किया जाना चाहिए जो आगे के चिंतन को संभव बनाएँ। यह सिद्धान्त कि ब्रह्मांड नामों और रूपों का एक पुलिंदा है, जहाँ तक वह जाता है, अत्यन्त उपयोगी है, और हमें आशा है कि हमने उसे वह पूर्ण उदारता प्रदान की है जिसका वह हकदार है; किन्तु उस द्रव्य और उस क्रियाशील कारण अथवा कारणों की प्रकृति की समस्या, जो उस पर नामों और रूपों की विविधता की मुद्रा अंकित करते हैं, अभी भी सुलझाई जानी शेष है।

इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि जगत्-प्रक्रिया शाश्वत है, और यह कि मूर्त वस्तुओं को, चाहे उन्हें विचार-रूप कहा जाए अथवा वास्तविक वस्तुएँ, अपने अस्तित्व के लिए किसी-न-किसी प्रकार के द्रव्यगत आधार की आवश्यकता होनी चाहिए, हम यह प्रतिपादित कर सकते हैं कि ब्रह्मांड का विद्यमान द्रव्य दो भिन्न-भिन्न प्रकार के द्रव्यों से बना है — जीवित, अर्थात् स्व-सचेत, और जड़, अर्थात् अचेतन, अथवा जीव और अजीव, जैसा उन्हें जैन दर्शन में कहा जाता है।

हमें उनके पारस्परिक व्यापार के लिए भी उचित गुंजाइश रखनी होगी। इसके लिए क्रिया हेतु एक सामान्य आधार की आवश्यकता है, साथ ही उन कारणों के निर्धारण की भी जो उस पारस्परिक व्यापार को घटित और संभव बनाते हैं। इस प्रकार हमें प्राप्त होते हैं — आकाश, काल, निरन्तर ईथर (अर्थात् गति का माध्यम), और विश्राम का माध्यम बनने वाला एक विपरीत प्रकार का ईथर। इनमें से, काल निरन्तरता का सिद्धान्त है और जैन दर्शन में एक पृथक् द्रव्य के रूप में मान्यता प्राप्त है।

गति के माध्यम और विश्राम के माध्यम को क्रमशः धर्म और अधर्म कहा जाता है; और पदार्थ को पुद्गल के नाम से जाना जाता है। इससे जगत्-प्रक्रिया के लिए आवश्यक द्रव्यों की हमारी सूची पूर्ण हो जाती है, जिसे निम्नलिखित सारणीबद्ध रूप में गिनाया जा सकता है:

**द्रव्य** — जीव तथा अजीव (आकाश, काल, धर्म, अधर्म, पदार्थ अथवा पुद्गल)*

जैन दर्शन इन छह द्रव्यों को शाश्वत* मानता है, और यह दावा करता है कि इनके बिना कोई जगत्-प्रक्रिया संभव नहीं। ब्रह्मांड के अंश नष्ट हो जाने पर भी, ये यथार्थताएँ लुप्त नहीं होतीं, न ही

एक-दूसरे में विलीन हो जाती हैं; क्योंकि कोई निरपेक्ष प्रलय जैसी वस्तु हो ही नहीं सकती। स्वयं विवेकानन्द भी यह प्रतिपादित करते हैं ('ज्ञान योग', भाग २, पृ. २६):—

> "मैं यह मत मानने में समर्थ हूँगा... कि यह शान्तिकरण सम्पूर्ण ब्रह्मांड में एक साथ नहीं होता, अपितु भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न-भिन्न वस्तुएँ घटित हो रही होती हैं।"

यह नहीं मान लिया जाना चाहिए कि जैन दर्शन की छह यथार्थताओं के संदर्भ में प्रयुक्त 'द्रव्य' शब्द का अर्थ केवल भौतिक द्रव्य, जैसे पत्थर, है। पदार्थ स्वाभाविक रूप से इन छह यथार्थताओं में सम्मिलित है, किन्तु शेष पाँच अपने स्वभाव में उससे अत्यन्त भिन्न हैं और उससे कोई सादृश्य नहीं रखते। उनके स्वभाव को समझने का सर्वोत्तम मार्ग यह है कि उन्हें भिन्न-भिन्न प्रकार के बलों, अथवा लयों, अतः क्रियाशीलताओं, के रूप में माना जाए, क्योंकि वे सब कुछ-न-कुछ विशिष्ट कार्य करते हैं।

> *धर्मशास्त्री के इस कथन को स्वीकार करना असंभव है कि जो कुछ भी अस्तित्वमान है उसका एक बनाने वाला होना ही चाहिए, ताकि कुछ भी स्वयं-सिद्ध न हो सके। क्योंकि यदि ऐसा होता, तो वह बनाने वाला भी स्वयं अपनी सत्ता के लिए किसी अन्य बनाने वाले की आवश्यकता में रहता, और वह फिर किसी और की, और इसी तरह अनन्त तक। किन्तु यह स्वयं धर्मशास्त्र के लिए भी इतना बेतुका है कि उसे स्वीकार्य नहीं हो सकता, जिसके अनुसार एक स्वयं-सिद्ध बनाने वाला है जो शेष सब कुछ का रचयिता है। यहाँ भी धर्मशास्त्र के पास खड़े होने के लिए कोई आधार नहीं, क्योंकि यदि एक सत्ता अथवा वस्तु का स्वयं-सिद्ध और शाश्वत होना संभव है, तो अधिक वस्तुओं और सत्ताओं का असृजित होना भी संभव है। अतः, वास्तविक प्रश्न फिर यही है कि अधिक युक्तिसंगत क्या है — यह धारणा कि किसी देवता ने प्रकृति के द्रव्यों की रचना की, अथवा यह कि वे स्वयं-सिद्ध और शाश्वत हैं? और इसका उत्तर केवल एक ही हो सकता है, अर्थात् वही जो इन पृष्ठों में दिया जा चुका है।*

ये छह यथार्थताएँ उत्तराध्ययन सूत्र में इस प्रकार परिभाषित की गई हैं ('सेक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट', खण्ड ४५, पृ. १५३-५४):—

> "धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पदार्थ, और आत्माएँ — ये छह प्रकार के द्रव्य हैं; ये इस जगत् की रचना करते हैं। धर्म, अधर्म और आकाश, प्रत्येक केवल एक-एक द्रव्य है; किन्तु काल, पदार्थ और आत्माएँ अनन्त संख्या में द्रव्य हैं। धर्म का लक्षण गति है, अधर्म का स्थिरता, और आकाश का, जो अन्य समस्त द्रव्यों को समाहित करता है, सबके लिए स्थान देना है। काल का लक्षण अवधि है, आत्मा का ज्ञान, श्रद्धा, सुख और दुःख का साक्षात्कार। पदार्थ का लक्षण शब्द, अंधकार, आभा, प्रकाश, छाया, धूप, रंग, रस, गंध और स्पर्श है। द्रव्य गुणों का आधार है; गुण एक ही द्रव्य में अन्तर्निहित रहते हैं: किन्तु परिणामों (विकारों) का लक्षण यह है कि वे

इन दोनों में से किसी में भी (अर्थात् द्रव्यों अथवा गुणों में) अन्तर्निहित रह सकते हैं। परिणाम का लक्षण एकत्व, पृथक्त्व, संख्या, रूप, संयोग और वियोग है।"

इस स्तर पर जैन सिद्धान्त के छह द्रव्यों की वैशेषिकों की नौ यथार्थताओं के साथ तुलना करना रोचक होगा। जैसा पूर्व के पृष्ठ ८१-८२ पर इंगित किया गया, ये नौ यथार्थताएँ इस प्रकार हैं — (१) गंध की अंतिम इकाइयाँ, (२) रस की अंतिम इकाइयाँ, (३) दीप्ति की अंतिम इकाइयाँ, (४) ताप की अंतिम इकाइयाँ, (५) आकाश (एक प्रकार का ईथर), (६) काल, (७) दिक्, (८) मनस्, और (९) आत्माएँ।

ये कणाद की प्रणाली में नौ यथार्थताएँ हैं; किन्तु एक दृष्टि ही यह दर्शाने के लिए पर्याप्त है कि यह गणना पूर्णतः मनमानी है और वैज्ञानिक अथवा दार्शनिक गुणवत्ता से रहित है। प्रथम चार वर्ग — गंध, रस, दीप्ति और ताप की अंतिम इकाइयाँ — चार भिन्न-भिन्न वस्तुओं अथवा द्रव्यों का प्रतिनिधित्व नहीं करते, अपितु एक ही द्रव्य, अर्थात् पदार्थ, के चार सामान्य गुणों का ही। क्योंकि यह मानने का कोई आधार नहीं कि ताप को रस से, रस को गंध से, गंध को रंग से, इत्यादि, से सर्वथा पृथक् किया जा सकता है। तथ्य यह है कि पदार्थ स्पर्श, रस, गंध और रंग के गुणों से संपन्न है, यद्यपि प्रत्येक विशिष्ट इन्द्रिय-अंग इनमें से केवल एक ही गुण के प्रति प्रतिक्रिया करता है। उदाहरणार्थ, हम नाक से रंग को प्रत्यक्ष नहीं कर सकते, न आँख से गंध को, इत्यादि। यह सत्य है कि जल को नाक से प्रत्यक्ष नहीं किया जाता, अग्नि को नाक और जिह्वा से नहीं, अथवा वायु को नाक, जिह्वा और आँख से नहीं; किन्तु यह भी सत्य है कि पृथ्वी कान को छोड़कर सभी इन्द्रियों से जानी जाती है, जल तीन इन्द्रियों (स्पर्श, रस और दृष्टि) से, अग्नि दो से (दृष्टि और ताप), और वायु केवल एक से (ताप)। हम, अतः, यह नहीं मान सकते कि पृथ्वी केवल गंध से संपन्न है, जल केवल रस से, अग्नि केवल रंग से, और वायु केवल ताप से। आधुनिक विज्ञान ने तत्त्वों की रूपांतरणीयता को पूर्णतः प्रदर्शित कर दिया है, किन्तु यह दिखाने के लिए किसी प्रयोगशाला-प्रयोग की आवश्यकता नहीं कि ठोस पदार्थ (यथा लकड़ी) अग्नि में रूपांतरित हो सकता है, अथवा जल भाप का, एक प्रकार के गैसीय पदार्थ का, ही एक और रूप है। तथाकथित तत्त्व एक ही द्रव्य, पदार्थ, के भिन्न-भिन्न रूप हैं, जिसे जैन सिद्धान्त में पुद्गल कहा जाता है, क्योंकि इसके कणों में एक-दूसरे के साथ तथा आत्माओं के साथ भी संगलित (गलद् से, गलना) होने की

प्रवृत्ति है। ऐसे संगलन के कारण भिन्न-भिन्न संयोजन उत्पन्न होते हैं जिनमें कुछ गुण प्रमुख हो जाते हैं, जबकि कुछ अन्य न्यूनाधिक दबे रहते हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वैशेषिकों को पदार्थ की सच्ची अवधारणा नहीं है, जिसे वे बिना किसी आधार के चार भिन्न-भिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत विभाजित करते हैं, जैसा नोट किया गया।

ध्वनि के स्रोत के रूप में ईथर की वैशेषिक अवधारणा भी अवैज्ञानिक है, इस सीमा तक कि ध्वनि द्रव्य-कणों के कंपन से उत्पन्न होती है, जैसा प्रयोग द्वारा पूर्णतः प्रदर्शित किया जा सकता है। भौतिकी का कोई भी प्रारंभिक ग्रन्थ इस कथन का निर्णायक प्रमाण प्रदान करेगा। वैज्ञानिक प्रयोगों से परे भी, प्रतिध्वनि की परिघटना ही इन समस्त सिद्धान्तों को ध्वस्त करने के लिए पर्याप्त है; क्योंकि प्रतिध्वनि किसी ध्वनि-तरंग के प्रतिबिंब से उत्पन्न होती है जब उसका पथ किसी द्रव्यगत पिंड द्वारा अवरुद्ध किया जाता है; किन्तु ईथर पदार्थ द्वारा अवरुद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह उससे सूक्ष्मतर और तनुतर तत्त्व है।

यह तर्क कि चूँकि पदार्थ के परमाणुओं की कल्पना पूर्णतः शान्त के रूप में की जा सकती है, अतः ध्वनि ईथर का ही गुण होनी चाहिए, अवैज्ञानिक है, क्योंकि ईथर की भी उसी रीति में कल्पना की जा सकती है, और क्योंकि जो भी तर्क अवलोकन और दैनिक अनुभव के तथ्यों की उपेक्षा करता है, उसे अच्छा नहीं माना जा सकता। तथ्य यह है कि पाँच इन्द्रियों में से चार के अनुरूप चार अंतिम तत्त्व स्थापित करने के बाद, कणाद को श्रवण-इन्द्रिय के लिए एक संगत खोजने में अपनी कल्पना को कष्ट देना पड़ा, और अपनी दुविधा में, उन्होंने तुरन्त ध्वनि के स्रोत के रूप में ईथर पर हाथ रख दिया।

वैशेषिकों को गति के माध्यम के रूप में ईथर का कोई विचार नहीं है, जिसके बिना वस्तुएँ आकाश में गतिमान नहीं हो सकतीं; अपितु उनकी पाँचवीं श्रेणी एक काल्पनिक सामग्री है जिसे, जैसा पहले ही देखा जा चुका है, ध्वनि के स्रोत के रूप में, तथा पदार्थ की अंतिम इकाइयों अथवा परमाणुओं को परिमाण प्रदान करने के लिए आवश्यक एक तत्त्व के रूप में, आवश्यक कल्पित किया गया है। काल और आकाश की उनकी अवधारणाएँ भी उलझी हुई और दुर्बोध हैं।

वे काल को केवल परिवर्तन के सिद्धान्त के रूप में मानते हैं, जिसे, इस रूप में, एक यथार्थता अथवा द्रव्य नहीं माना जा सकता; और आकाश को 'वह यथार्थता, शक्ति अथवा बल कहा जाता है जो वस्तुओं को उनकी सापेक्ष स्थितियों में बनाए रखता है, यहाँ तक कि जब वे गतिमान की जा

रही हों' ('द हिन्दू रियलिज़्म', पृ. २०)। काल और आकाश के स्वभाव के विषय में हम आगे और भी कहेंगे; इस बीच यह स्पष्ट है कि दिए गए वर्णन में यथार्थता अथवा अंतिम द्रव्य का कोई सच्चा तत्त्व नहीं पाया जाता।

कणाद की प्रणाली की आठवीं यथार्थता मनस् है, जो संवेदन और विचार में अनुक्रम का कारण है। इसे, तथापि, स्वयं में एक यथार्थता नहीं, अपितु केवल एक द्रव्यगत अंग, अनुभव का साधन, माना गया है ('द हिन्दू रियलिज़्म', पृ. ९३)। इन परिस्थितियों में इसे एक पृथक् शीर्षक के अन्तर्गत, एक यथार्थता के रूप में, वर्गीकृत करना अतार्किक है।

यह सब यह दर्शाने के लिए पर्याप्त है कि वैशेषिक प्रणाली अपने विश्लेषण में न तो वैज्ञानिक है न तार्किक।

अपने विषय को आगे बढ़ाते हुए, जगत्-प्रक्रिया का छह प्राथमिक अथवा अंतिम द्रव्यों तक न्यूनीकरण अद्वैत और द्वैतवाद के बीच के पुराने संघर्ष को एक बार पुनः सामने ले आता है। आइए देखें इस बिन्दु पर जैन दर्शन का क्या कहना है, और वह अपनी बारी में अपने प्रतिपक्षियों के तर्कों का सामना कैसे करता है।

यद्यपि उसका अपना ही सिद्धान्त आत्माओं की बहुविधता को अन्तर्निहित करता है, जैन दर्शन सर्वप्रथम उन प्रणालियों में दोष निकालता है जो निरपेक्ष 'द्वैतवाद' का प्रचार करती हैं और यह प्रतिपादित करती हैं कि व्यष्टियों में परस्पर कुछ भी समान नहीं है। यह इंगित करता है कि, यद्यपि व्यष्टियाँ अपने व्यष्टित्व के संबंध में स्वतंत्र हैं, तथापि वे एक-दूसरे के साथ अनेक गुण समान रूप से रखती हैं, जो यह द्योतित करता है कि उनका एक समान स्वभाव है। यह, पहली दृष्टि में, वेदान्त के सिद्धान्त की ओर ले जाता प्रतीत होता है, किन्तु जब उस प्रणाली के विरुद्ध प्रस्तुत तर्क को भी ध्यान में रखा जाए तो एक सर्वथा भिन्न परिणाम प्राप्त होता है। तर्क इस प्रकार आगे बढ़ता है:—

> "स्व स्व की सृष्टि नहीं कर सकता। इसका तात्पर्य यह है कि अद्वैतवाद बिना किसी द्वैतता की सहायता के यह स्पष्ट नहीं कर सकता कि उस सर्वस्व ने कैसे स्वयं को, अथवा स्वयं-से-अन्य को, जन्म दिया। पुनः, क्या अद्वैत सिद्धान्त के पास अपनी सत्यता सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण है? हो सकता है उसके पास हो, अथवा वह स्वयं अपना ही औचित्य हो सकता है। पूर्व स्थिति में, प्रमाण एक द्वैतता को ले आता है; उत्तर स्थिति में, अद्वैतवाद अप्रमाणित होने के कारण निंदित है, क्योंकि कोई भी वस्तु स्वयं का प्रमाण नहीं हो सकती।"*

यदि वेदान्त माया की सहायता का सहारा लेता है, तो जैन दर्शन इसे अदालत से बाहर घोषित करता है, इस आधार पर कि जो वस्तु अस्तित्वमान नहीं है उसे सुने जाने अथवा प्रस्तुत किए जाने का कोई अधिकार नहीं है। न ही यह वेदान्त को उत्तर में एक तर्क प्रस्तुत करने के लिए अपना मुँह खोलने की अनुमति देता है, क्योंकि ऐसा करना उस आपत्तिकर्ता की स्वीकृति होगी जिसके तर्क का सामना किया जाना है।

इसके अतिरिक्त, चूँकि दो अथवा अधिक असंगत गुण एक ही द्रव्य में अन्तर्निहित नहीं हो सकते, और चूँकि चेतना और जीवन के गुण माया के स्वभाव से असंगत हैं, जो जड़ है, अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि अस्तित्व में एक से अधिक द्रव्य हैं।

वेदान्त, दूसरी ओर, यह प्रत्युत्तर दे सकता है कि दो अथवा अधिक द्रव्य जिनमें कोई गुण समान हों, स्वीकार नहीं किए जा सकते। छह द्रव्यों को अस्तित्व में रहने के लिए समान रूप से अस्तित्व रखना ही होगा। उन्हें, अतः, अपने उद्भव के लिए एक ही स्रोत का ऋणी होना चाहिए, जो अकेला ही वह सच्चा द्रव्य है जो अस्तित्वमान है।

इस पर जैन दर्शन पुनः इस आधार पर आपत्ति कर सकता है कि यदि हम एक अपरिवर्तनीय स्वभाव के, शुद्ध, गुण-रहित अस्तित्व के, एकल द्रव्य को स्वीकार कर लें, तो यह अकल्पनीय है कि गुण और परिणाम उससे अथवा उसमें कैसे उत्पन्न हो सकते हैं। इसके उत्तर में, वेदान्त इंगित करता है कि गुण और विशेषताएँ केवल प्रत्यक्ष के लिए ही विद्यमान हैं और बुद्धि में अन्तर्निहित हैं, वस्तुओं अथवा द्रव्यों में नहीं। यह, तथापि, हमें केवल उसी बिन्दु पर वापस ले आता है जहाँ से हमने आरंभ किया था; क्योंकि बुद्धि और उससे संबद्ध अथवा उसमें अन्तर्निहित गुणों, दोनों को ही अस्तित्व के लिए किसी-न-किसी प्रकार की द्रव्यता रखनी ही होगी; और जिस क्षण यह स्वीकार कर लिया जाता है, जैन दर्शन के कथन और उसके छह यथार्थताओं से कोई बचाव नहीं रह जाता।

*'एन इंट्रोडक्शन टु जैनिज़्म' — एन. रंगजी कृत*

वेदान्त अब माया के स्वभाव के पीछे शरण लेता है, जिसे वह अकल्पनीय और सदैव बुद्धि की पहुँच से परे बताता है। किन्तु यह वास्तव में अपने मुकदमे को छोड़ देने के समान है, क्योंकि किसी को भी वह उपदेश देने का अधिकार नहीं जो स्वयं उसके लिए अकल्पनीय हो। अब, यदि वेदान्ती यह प्रतिपादित करे कि वह जिस विषय पर बोल रहा है उसे समझता है, तो माया दुर्बोध रहनी बंद

हो जाती है; किन्तु यदि वह कहे कि वह इसे भलीभाँति समझ नहीं पाया है, तो वह ऐसी वस्तुओं की बात कर रहा है जिन्हें वह नहीं समझता, और उसे सुने जाने का कोई अधिकार नहीं।

इसी प्रकार के कारणों से, जैन दर्शन उन लोगों के सिद्धान्त को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है जो कहते हैं कि चेतना क्षण-प्रतिक्षण उत्पन्न होती है। यदि यह सत्य होता, तो यह निष्कर्ष निकलता कि मन बाह्य वस्तुओं से प्राप्त क्रमिक संवेदनाओं से बनता है, अथवा समय-समय पर, अर्थात् प्रत्येक क्षण, नए सिरे से उत्पन्न होता है।

> "इसका खंडन यह इंगित करके किया जाता है कि इस सिद्धान्त पर, जो मन किसी पशु को मारने का निश्चय करता है वह वह मन नहीं है जो अगले क्षण उसे मारता है; अतः यह उत्तरार्ध बिना किसी उद्देश्य अथवा उत्तरदायित्व के ही कृत्य करता है। और, आगे, जिस मन को इस पाप के परिणाम भोगने होते हैं वह न तो वह मन है जिसने कृत्य की योजना बनाई, न वह जिसने योजना को क्रियान्वित किया... यदि ज्ञान उन्हें जोड़ने वाले प्रत्यभिज्ञान के धागे के बिना गुज़रती हुई संवेदनाओं में ही निहित हो, तो कोई प्रत्यभिज्ञान संभव नहीं हो सकता।"*

अब हम बौद्ध धर्म की ओर आते हैं, जिसका दर्शन एक सतत 'बनने' की धारणा पर संभवतः जितना बल दे सकता है उतना देता है। यह प्रणाली भी एकांगी है। इसकी 'बनने' की अवधारणा भव्य है, किन्तु सच्ची 'सत्ता' के अभाव में सदैव अपूर्ण ही रहेगी। यह प्रतिपादित करती है कि जीवन एक प्रवाह है, कारणात्मक क्रियाशीलता, जो कभी दो बार एक ही अवस्था में नहीं रहती। बर्गसन का दर्शन, जिसने आधुनिक चिंतन को इतना अधिक उद्वेलित किया है, अधिकांशतः, बौद्ध की 'बनने' की धारणा का ही अनुसरण करता है। यह प्रतिपादित करता है कि संपूर्ण ब्रह्मांड भिन्न-भिन्न क्रियाशीलताओं अथवा प्रक्रियाओं का एक प्रवाह अथवा तंत्र है, जिनकी क्रियाशीलता से समस्त प्रकार के रूप उत्पन्न होते हैं। उत्तरार्ध भी क्रियाशीलताएँ ही हैं, यद्यपि एक कम तीव्र प्रकार की। ये क्रियाशीलताएँ, आगे, स्वयं में अकल्पनीय हैं, क्योंकि वे प्रक्रियाएँ हैं, और अतः, बुद्धि के लिए अगम्य। उनका स्वभाव केवल अंतःप्रज्ञा में अनुभव किया जाता है, विचार में कल्पित नहीं। प्रस्तुत दृष्टिकोण एक ऐसे ब्रह्मांड का है जो कुछ शाश्वत प्रक्रियाओं का परिणाम है — एक सतत बनना, जिसमें कुछ भी स्थायी, स्थिर अथवा अटल नहीं।

इस सिद्धान्त की गुणवत्ता के विषय में, यह निर्विवाद रूप से सत्य है, इस सीमा तक कि यह इस तथ्य को इंगित करता है कि समस्त भौतिक परिघटनाएँ निरन्तर परिवर्तन से गुज़र रही हैं;

किन्तु ऐसी प्रणाली, जिसकी नींव ही विचार की पहुँच से परे है, युक्तिसंगत बुद्धि को कैसे संतोष प्रदान कर सकती है? यदि सम्यक् अंतःप्रज्ञा* की कमी हो, तो उसकी कमी की पूर्ति कैसे हो? श्री ह्यू एस.आर. एलियट, 'मॉडर्न साइंस एण्ड द इल्यूज़न्स ऑफ प्रोफेसर बर्गसन' के लेखक, यह अस्वीकार करते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति उस प्रकार की अंतःप्रज्ञा से संपन्न है जो इस दर्शन के सत्य को साकार कर सके; और वे संभवतः अकेले नहीं हैं जो यह मत रखते हैं। प्रश्न यह है कि उनका सामना कैसे किया जाए? यह कहना कि दर्शन सत्य है, कोई उत्तर नहीं, क्योंकि उसकी यथार्थता को स्वीकृति मिलने से पहले सिद्ध किया जाना आवश्यक है। परिवर्तन के दर्शन के समर्थकों के साथ यही एकमात्र कठिनाई नहीं है। शुद्ध बनने से, काल और आकाश में, एक ब्रह्मांड की रचना कैसे की जाए? किस रीति से, पुनः, भिन्न-भिन्न प्रक्रियाएँ एक-दूसरे से भिन्न होती हैं? क्या उनके अपने कोई स्थिर प्रकार नहीं हैं? पुनः, स्मरण क्या है, और उसे कौन करता है, और कैसे? आगे, यह कैसे हुआ कि प्रवाह ने संयोगवश एक ऐसी दिशा चुनी जो उन असंख्य लाखों व्यष्टियों के लिए, जो उसकी अनवरत, अनन्त, और प्रतीत होने योग्य लक्ष्यहीन यात्रा के दौरान उसकी सतह पर प्रकट होते हैं, पीड़ा और दुःख से भरी है? वह लक्ष्य क्या है जिसकी ओर वह अग्रसर हो रहा है?

> *यह प्रतीत होता है कि अतार्किक रहस्यवादियों में यह एक फैशन है कि जब वे किसी परिघटना को बौद्धिक रूप से स्पष्ट करने में असमर्थ हों, तब वे अपनी ही अंतःप्रज्ञाओं पर निर्भर रहें। इसमें एक स्पष्ट लाभ है, और वह यह कि रुख का परिवर्तन इतना अचानक और अप्रत्याशित होता है कि अधिकांश मामलों में प्रतिपक्षी सर्वथा चकित रह जाता है और कथन की सत्यता के प्रत्यक्ष खंडन के अतिरिक्त कोई बचाव नहीं पाता, जिसे शिष्टाचार और सद्व्यवहार करने की अनुमति नहीं देते, और जो केवल अप्रियता को ही जन्म दे सकता है। तथ्य यह है कि, सिवाय उस स्थिति के जहाँ इसका तात्पर्य सर्वज्ञता, अथवा ज्ञान के अन्य उच्चतर प्रकारों, यथा शुद्ध अथवा अति-दिव्यदृष्टि, से लिया जाए, जिसके अधिकार के दावे की सरलता से परीक्षा की जा सकती है, अंतःप्रज्ञा न तो कोई तर्क है न आत्म-प्रवंचना के विरुद्ध कोई गारंटी। साधारण मामलों में यह केवल एक आंतरिक विश्वास के भाव का पर्यायवाची है, जो और भी अधिक अस्पष्ट, अतार्किक और अविश्वसनीय है क्योंकि यह बौद्धिक निर्धारण से उत्पन्न नहीं होता। यदि जन्मजात बुद्धि की ऐसी आकस्मिक चमकों को मानवीय मार्गदर्शन के लिए यथार्थ आँकड़े प्रदान करने वाला स्वीकार किया जा सके, तो प्रत्येक पागल को दर्शनशास्त्र की पीठ पर बैठने अथवा विज्ञान के आश्रयदाता के रूप में गिने जाने का अधिकार होगा। घोषणाकर्ता में आत्म-प्रवंचना के विरुद्ध एक गारंटी होनी ही चाहिए, और उस व्यक्ति से कोई गारंटी पर्याप्त नहीं जो अपनी ही मान्यताओं से अस्पष्टता के तत्त्व को दूर करने में समर्थ न हो।*

यह उन कठिनाइयों का दृष्टान्त है जो परिवर्तन के दार्शनिकों के मार्ग में उत्पन्न होती हैं, जिनके पास जगत्-प्रक्रिया के मूल में शुद्ध बनने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यदि वे समस्या के स्वभाव पर पर्याप्त चिंतन करें, तो वे यह देखने में असफल नहीं रहेंगे कि किसी भौतिक जगत् की रचना

बिना, सर्वप्रथम, कुछ प्रकार की स्थिर इकाइयों, कणों अथवा परमाणुओं को प्रतिष्ठापित किए, स्पष्टतः असंभव है, जिनके संयोजन से पिंडों की रचना हो सके।

शुद्ध प्रक्रियाओं, बनने अथवा परिवर्तन से एक ठोस, द्रव्यगत जगत् की रचना का प्रस्ताव रखने वाली विचार-प्रणाली की अपर्याप्तता उन्हीं शब्दों से स्पष्ट है जो इसे अभिव्यक्ति देने के लिए प्रयुक्त किए गए हैं। क्योंकि एक प्रक्रिया किसी वस्तु की एक गति है, न कि स्वयं में एक वस्तु, जबकि बनना और परिवर्तन किसी द्रव्यगत आधार अथवा अवलंब के अभाव में, जिसमें वे अन्तर्निहित हो सकें, समान रूप से असंभव हैं। इस प्रकार, जहाँ आगे बढ़ने अथवा एक अवस्था से दूसरी में गुज़रने के लिए कुछ भी नहीं है, वहाँ कोई प्रक्रिया, बनना अथवा परिवर्तन नहीं हो सकता, और इस प्रकार की बोवाई से जो एकमात्र फ़सल आशा की जा सकती है वह शाब्दिक अमूर्तनाओं की एक आँधी है। दीप की ज्वाला की वह सुन्दर उपमा जिसका उपयोग बुद्ध — जैसा उन्हें उनके अनुयायियों द्वारा प्रबुद्ध कहा गया — ने अपने दर्शन को दृष्टान्त देने के लिए किया, केवल रूपों के संबंध में ही मूल्यवान है; यह द्रव्य के विभाग में, जिसकी अनुपस्थिति वस्तुओं के स्वयं अस्तित्व के लिए घातक होगी, सर्वथा भ्रामक है। क्योंकि, यद्यपि यह सत्य है कि ब्रह्मांड दीप की ज्वाला के समान एक परिवर्तनशील, गतिमान विहंगम-दृश्य है, जिसमें दीप्तिमान कण निरन्तर अपने ही प्रकार के अन्य कणों द्वारा प्रतिस्थापित होते रहते हैं, यह भी उतना ही सत्य है कि समस्त परिवर्तनों के स्वयं अंतिम आधार के संबंध में किसी भी प्रकार का परिवर्तन न तो कभी ज्ञात हुआ है न ही संभव है। जैसा जैन दर्शन इंगित करता है, प्रत्येक द्रव्य एक ही समय में उत्पत्ति, विनाश और निरन्तरता की त्रिविध परिघटना से चिह्नित है। इनमें से, प्रथम दो रूप से संबद्ध हैं, जिसके बिना कोई भी द्रव्य प्रकृति में अस्तित्वमान नहीं पाया जा सकता, और अंतिम द्रव्यों के भौतिक पक्ष का लक्षण है। उदाहरणार्थ, एक स्वर्ण-अंगूठी में अंगूठी-पन की उत्पत्ति और पूर्व रूप — छड़-पन, ढेला-पन, इत्यादि — का विनाश होता है, जिसके साथ-साथ सोने की एक द्रव्य के रूप में निरन्तरता बनी रहती है, अर्थात् दोनों ही अवस्थाओं में — जब वह छड़ अथवा ढेले के रूप में विद्यमान हो, और जब अंगूठी के रूप में।

यह सत्य है कि सोना, स्वयं एक सच्चा द्रव्य न होकर केवल पदार्थ का एक रूप होने के कारण, उत्पत्ति और विनाश के अधीन है; किन्तु यह अकल्पनीय है कि अंतिम द्रव्य — पदार्थ — की निरन्तरता के बिना, स्वर्णत्व, छड़त्व अथवा अंगूठीपन शुद्ध शून्य में कैसे अन्तर्निहित, उत्पन्न

अथवा लुप्त हो सकते थे। हमें, अतः, यह स्वीकार करना होगा कि शुद्ध बनना, अथवा परिवर्तन, जगत्-प्रक्रिया के कारण के रूप में सर्वथा अपर्याप्त और असमर्थ है।

*'एन इंट्रोडक्शन टु जैनिज़्म' — एन. रंगजी कृत*

यथार्थता (द्रव्य) के स्वभाव के विषय में जैन दृष्टिकोण का सुन्दर वर्णन श्री वी.आर. गांधी द्वारा किया गया है, जिन्होंने ईस्ट इंडिया एसोसिएशन (लंदन) की एक सभा में, २१ मई १९०० को बोलते हुए, कहा था:—

> "नौमेनन (सारतत्त्व) और फिनॉमेनन (परिघटना) दो पृथक् अस्तित्व नहीं हैं, अपितु किसी वस्तु की संपूर्ण सामग्री को देखने के हमारे दो ही रूप हैं, जिसका एक भाग हमें अभी ज्ञात है और एक भाग अज्ञात। इन शब्दों के विषय में सार्वजनिक मन में यह भ्रांति है कि वह तार्किक भेद को एक वास्तविक पृथक्करण के साथ गड्डमड्ड कर देती है। बौद्ध दृष्टिकोण में कुछ भी स्थायी नहीं। क्षणभंगुरता ही एकमात्र यथार्थता है। जैसा प्रोफेसर ओल्डेनबर्ग कहते हैं: 'ब्राह्मणों का चिंतन समस्त सत्ता में 'सत्' को पकड़ता है, बौद्धों का समस्त आभासी सत्ता में 'बनने' को।'
>
> "जैन, इसके विपरीत, सत् और बनने को हमारी एक ही वस्तु को देखने के दो भिन्न और परस्पर-पूरक रीतियों के रूप में मानते हैं। जैन दृष्टिकोण में यथार्थता परिवर्तनशील अवस्थाओं का एक स्थायी विषय है। होना, संबंध में खड़ा होना, सक्रिय होना, अन्य वस्तुओं पर क्रिया करना, नियम का पालन करना, एक कारण होना, अवस्थाओं का एक स्थायी विषय होना, आज वही होना जो कल था, अपनी बदलती हुई क्रियाशीलताओं के बावजूद अभिन्न रहना — ये यथार्थता की जैन अवधारणाएँ हैं। मात्र बनना उतना ही एक अमूर्तन है जितना मात्र सत्। संक्षेप में, सत् और बनना यथार्थता की पूर्ण धारणा के पूरक अंग हैं।" *

यही वह उत्तर भी है जो जैन दर्शन अस्तित्व के स्वभाव के विषय में वेदान्त को देता है। शुद्ध 'अस्तित्व' एक तार्किक अमूर्तन है, और केवल विचार में ही स्वयं में अस्तित्व रख सकता है। वास्तविक जीवन में, अस्तित्व का अर्थ है द्रव्य, स्थान, काल और गुणों के संदर्भ में विद्यमान रहना; किन्तु इसका अर्थ केवल यही है कि अन्य वस्तुओं के साथ सह-अस्तित्व में रहना।

इस रीति से जैन दर्शन अपने निर्ममतार्किकता से भिन्न-भिन्न दर्शनों की संरचना को ढहा देता है। किन्तु क्या इसके पास हमें, हमारी मान्यताओं को जो क्षति वह पहुँचाता है उसके प्रतिफल में, स्वयं देने के लिए कुछ है? हाँ, है; और जो वह हमें देता है वह न केवल उन त्रुटियों से मुक्त है जो

वह अन्य प्रणालियों में इंगित करता है, अपितु अनुभव की वस्तुओं और तथ्यों का एकमात्र संतोषजनक स्पष्टीकरण भी है जिसे युक्तिसंगत विचार स्वीकार कर सके।

जैन दर्शन इंगित करता है कि विचार के उपर्युक्त समस्त संप्रदाय अपनी एकांगिता के कारण त्रुटि में पड़ गए हैं। वे वस्तुओं को केवल एक विशेष दृष्टिकोण से देखते हैं, और शेष समस्त की उपेक्षा करते हैं। जीवंत यथार्थता से, जो सभी दिशाओं में मानसिक अटकल से बहती हुई परे है, निपटने का यह मार्ग नहीं है। अतः, यदि कोई संपूर्ण सत्य को पकड़ना चाहता है, तो उसे पहले वस्तुओं का समस्त संभव दृष्टिकोणों से अध्ययन करने के लिए स्वयं को भिन्न-भिन्न मुद्राओं में रखना होगा। अध्ययन की यह विशेष पद्धति, जिसे अनेकांत कहा जाता है, वही है जिसे जैन दर्शन स्वयं अपनाता है। इसकी सहायता से यह न केवल अन्य समस्त धर्मों में सत्य के तत्त्व को इंगित करता है, अपितु उनकी त्रुटियों को भी सुधारता है। यह हमें वस्तुओं का एक बहुआयामी, और अतः अनिवार्यतः सच्चा, दृष्टिकोण प्रदान करता है। यह कहता है:—

> "विचार सत्य नहीं है; व्यष्टि भी सत्य नहीं है। किन्तु दोनों ही भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से सत्य हैं। जब वक्ता एक पर बल देता है, तो वह अनेक की बात केवल एक अंतर्निहित संकेत के साथ कर रहा होता है। यदि अनेक को आगे रखा जाए, तो एक की उपेक्षा नहीं की जाती, अपितु उसे केवल गौण के रूप में निर्दिष्ट किया जाता है। सत्य न तो एक में है, न अनेक में; अपितु वह अनेक में एक में, अथवा एक में अनेक में, निहित है। प्रत्येक व्यष्टि एक विचार को अन्तर्निहित करती है, और प्रत्येक विचार व्यष्टियों को पूर्वकल्पित करता है। अस्तित्व तथा ज्ञान, दोनों ही इसी सापेक्षता द्वारा शासित हैं। अस्तित्व के गुणों से संपन्न होने के कारण, समस्त वस्तुएँ एक हैं। इसी प्रकार, फिर, परिणामों को देखने पर, अथवा द्रव्य, स्थान, काल और गुण के कारण भेदों पर विचार करने पर, यह स्पष्ट है कि प्रत्येक वस्तु प्रत्येक अन्य वस्तु से भिन्न है। इसी विचार को आधुनिक दर्शन में स्थानांतरित करते हुए, विषयी (सब्जेक्ट) समस्त ज्ञान का उद्गम है, क्योंकि वह अनेक में एक है, और इस प्रकार वही है जो अनेक को संभव बनाता है। ठीक यही विचार उन विषयों (ऑब्जेक्ट्स) पर भी लागू होता है जो विषयी को उसकी समस्त सामग्री देते हैं। 'विषयी विषयों से बुद्धिमत्ता के कारण भिन्न है, और विषय विषयी से अपने सत्स्वरूप, अथवा सत्ता के गुण, के कारण भिन्न हैं' — यह मान्य नहीं है, क्योंकि विषयी भी सत्स्वरूप से युक्त है। यह भेद ज्ञाता और ज्ञात दोनों को ही उनकी यथार्थता से वंचित कर देगा। यदि ज्ञाता सत्ता-रहित है, तो ज्ञात अनस्तित्वमान होगा। यदि ज्ञात असत् है, तो ज्ञाता, जो ज्ञात से ही संघटित है, वह भी असत् बन जाएगा। अतः, यथार्थता अथवा

सत्ता में, विषयी और विषय के बीच कोई असमानता नहीं है। भेद केवल कथंचित् है, अर्थात्, यहाँ, एक में निवास करने वाली बुद्धिमत्ता तथा अनेक में निवास करने वाली भौतिकता के दृष्टिकोण से है।"*

यही वह दृष्टिकोण है जिसे हम पूर्ववर्ती पृष्ठों में धीरे-धीरे विस्तार से प्रस्तुत करते रहे हैं, और इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता कि यही वह दृष्टिकोण भी है जो भिन्न-भिन्न धर्मों में असंगति और मतभेद के तत्त्व का लेखा-जोखा देता है। उदाहरणार्थ, हम देख सकते हैं कि अद्वैत वेदान्त का अंतिम सत्य वही है जो जैन सिद्धान्त का है, यद्यपि वे लगभग अन्य समस्त बातों में एक-दूसरे के विरोधी हैं। यह इस तथ्य के कारण है कि अद्वैतवाद स्वयं को सारतत्त्व के दृष्टिकोण तक ही सीमित रखता है, शेष सबकी पूर्णतः उपेक्षा करते हुए, जबकि जैन दर्शन व्यापक और सर्वग्राही है। दोनों ही यह सिखाते हैं कि आत्मा और परमात्मा एक हैं; दोनों ही प्रतिपादित करते हैं कि सारतत्त्व केवल एक ही है; किन्तु जैन दर्शन, अपने चरम विचार को अभिव्यक्ति देने में अधिक वैज्ञानिक और यथार्थ होने के कारण, उचित रूप से जोड़ता है, 'जब सारतत्त्व के दृष्टिकोण से देखा जाए।' इन नौ शब्दों का जोड़ वेदान्त की शिक्षा को उस विशाल जगत् के लिए स्वीकार्य बना देगा जो वर्तमान में उसका उपहास करता है। क्योंकि ब्रह्म एक इकाई नहीं, अपितु एक योग है, अनन्त। वेदान्त गलत होगा यदि वह 'एक' शब्द के लोकप्रिय अर्थ पर अड़ा रहे; द्वैतवाद असत्य होगा यदि वह 'योगों' की बहुविधता सिखाने का दावा करे।

*'एन इंट्रोडक्शन टु जैनिज़्म' — एन. रंगजी कृत*

इन अवलोकनों को आत्माओं के एकत्व अथवा बहुविधता के प्रश्न पर लागू करते हुए, हम कह सकते हैं कि द्वैतवाद और अद्वैतवाद दोनों ही अपने-अपने दृष्टिकोणों से सही हैं, किन्तु वे केवल आंशिक सत्य ही व्यक्त करते हैं। सत्ता के रूप में कल्पित निरपेक्ष एक है; किन्तु उन व्यष्टियों के संदर्भ में सोचे जाने पर, जिनके माध्यम से वह स्वयं को प्रकट करता है, अनेक है। जैन धर्म पर एक हाल का ग्रन्थ इस मामले को उचित रूप से प्रस्तुत करते हुए कहता है:—

"यहाँ कोई इस सिद्धान्त का उपहास करना चुन सकता है, यह टिप्पणी करते हुए कि यदि आत्मा परमात्मा बन सकती है, तो इसका अर्थ है कि जैन एक ईश्वर में नहीं, अपितु अनेक ईश्वरों में विश्वास करते हैं। इसके उत्तर में, यह स्मरण रखना चाहिए कि जैन एकांत के नहीं, अपितु अनेकांत के अनुयायी हैं। उनका विश्वास यह नहीं कि ईश्वर निरपेक्षतः एक है अथवा अनेक। जैन सिद्धान्तों के अनुसार, एक दृष्टिकोण से ईश्वर एक है, किन्तु दूसरे से, वह न केवल

अनेक है, अपितु अनन्त है। अपने स्वभाव अथवा स्वरूप (सर्वज्ञ और पूर्ण अवस्था) के संदर्भ में, वह एक है, किन्तु उन आत्माओं के संदर्भ में जिनमें वह पूर्ण अवस्था प्रकट हुई है, वह अनन्त है। यथार्थ में, जैन दर्शन किसी विशेष व्यष्टित्व की पूजा नहीं करता, अपितु उस पूर्ण, शुद्ध और शुभ अवस्था की, जिसमें आत्मा सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, सर्वशक्तिमान, सर्वसुखी और वीतराग के रूप में विद्यमान है। जैन दर्शन में व्यष्टित्व को नहीं, अपितु उस अवस्था को प्रमुखता दी जाती है जिसमें आत्मा परमात्मा बनती है, और वह अवस्था, चाहे व्यष्टिगत रूप से आत्माओं की संख्या कुछ भी हो, अभिन्न रूप से एक और वही है।"*

जैन दर्शन, इस प्रकार, सारतत्त्व की तथा व्यष्टि की, दोनों की यथार्थता से आरंभ करता है, और हमें विचार की उच्चतम ऊँचाइयों तक, दोनों में से किसी को भी नष्ट किए बिना, ले जाता है।एक ही केवल वितरणात्मक रीति से उनमें बसा हुआ है। एक मुक्त आत्मा कैसा अनुभव करेगी? — यह प्रश्न दोनों दृष्टिकोणों को संयुक्त करके उत्तरित किया जा सकता है, क्योंकि एक मुक्त आत्मा पूर्ण ज्ञान से संपन्न होगी। वह, तब, स्वयं को एक ऐसी अवस्था की भोक्ता जानेगी जो, इस रूप में, केवल एक और अविभाज्य है, किन्तु जो साथ ही उन समस्त के द्वारा भी समान रूप से भोगी जाती है जो मुक्त हो चुके हैं। यही, तब, ब्रह्म अथवा निरपेक्ष की सच्ची परिभाषा है, जैसा कुछ लोग उसे कहलाने पर अड़े रहते हैं।

ब्रह्म शब्द सामान्यतः अस्तित्व अथवा चेतना को द्योतित करता है। किन्तु चिंतन दर्शाता है कि अस्तित्व और चेतना विचार की शुद्ध अमूर्तनाएँ हैं, जैसे तरलता, मनुष्यत्व, अथवा कोई अन्य अमूर्त गुण। हमें एक निश्चित संख्या के व्यष्टियों अथवा वस्तुओं के बीच समान रूप से पाए जाने वाले गुणों को अमूर्त करने की आदत है, यह भूलते हुए कि, विचार से परे, वे स्वयं में अस्तित्व रखने में सक्षम नहीं हैं। जैसे तरलता को किसी द्रव अथवा तरल पदार्थ से स्वतंत्र होकर स्वयं में अस्तित्वमान कल्पित नहीं किया जा सकता, वैसे ही अस्तित्व और चेतना भी सत्ताओं और वस्तुओं से पृथक् अस्तित्व रखने में सक्षम नहीं हैं। तथ्य यह है कि गुण केवल द्रव्यों में ही अन्तर्निहित हो सकते हैं, और द्रव्य केवल गुणों के पुलिंदे ही हैं। विचार में उनके बीच कोई पृथक्करण करना अनुमत नहीं है। अतः, जिस क्षण हम ज्ञान (चेतना का गुण) और ज्ञानी (एक चेतन सत्ता, अथवा ज्ञाता) के बीच विभाजन करते हैं, हम इन दोनों पदों को अस्तित्व से वंचित कर देते हैं और उन्हें एक-दूसरे के साथ संबंध में प्रवेश करने में असमर्थ बना देते हैं।

मान लीजिए हम इस प्रस्ताव से आरंभ करें कि ज्ञान ज्ञानी से एक पृथक् वस्तु है। तब या तो ज्ञानी ज्ञान के गुण को 'प्राप्त करने' से पूर्व अज्ञानी था, अथवा वह पहले से ही एक जानने वाला प्राणी था। यदि उत्तरार्ध सत्य हो, तो ज्ञान उसकी सत्ता में कुछ भी नहीं जोड़ता, और उसकी उपेक्षा की जा सकती है। यदि पूर्व सत्य हो, तो वह या तो स्वभावतः अज्ञानी था, अथवा अज्ञान के गुण से ओतप्रोत होने के परिणामस्वरूप। यदि अब हम कहें कि वह अपने स्वभाव के कारण अज्ञानी था, तो वह कालांतर में कभी प्रकाशित नहीं हो सकता; किन्तु यदि हम कहें कि उसका अज्ञान अज्ञान के गुण के आत्मसातीकरण का परिणाम था, तो उसे सर्वप्रथम एक ज्ञानी ही माना जाना चाहिए।

इसके अतिरिक्त, ज्ञान, जब ज्ञानी से पृथक् किया जाता है, तो या तो एक ज्ञाता के रूप में अस्तित्व रख सकता है अथवा ज्ञान की एक वस्तु के रूप में। किन्तु पूर्व स्थिति में, ज्ञानी से उसका पृथक्करण काल्पनिक है; और उत्तर स्थिति में, वह अपनी विशेषता खो देता है और निकायों तथा संबंधों में वस्तुनिष्ठ हो जाता है, जो केवल तभी ज्ञान का गठन करते हैं जब किसी जानने वाली सत्ता द्वारा उन्हें संज्ञान में लिया जाए। अतः, ज्ञान और ज्ञानी का वास्तविक पृथक्करण केवल दोनों के ही विनाश में परिणत हो सकता है।

हमें, अतः, यह कहना होगा कि जीव अनेक हैं, यद्यपि वे सब एक ही सारतत्त्व को प्रकट करते हैं। जब हम व्यष्टियों की संख्या पर दृष्टि डालते हैं, तो ध्यान अनेक की ओर निर्दिष्ट होता है, किन्तु सारतत्त्व पर दृष्टि डालने पर एक की ओर।

यही ठीक-ठीक वह दृष्टिकोण है जो उत्पत्ति की पुस्तक में ईश्वरत्व के विषय में अपनाया गया है। उस पुस्तक के प्रथम अध्याय के २६वें श्लोक में कहा गया है:

"और परमेश्वर ने कहा, हम मनुष्य को अपने स्वरूप के अनुसार, अपनी समानता में बनाएँ।"

तिरछे अक्षरों में दिए गए शब्द अत्यन्त सारगर्भित हैं। मानो भूल और गलतफहमी की समस्त संभावना को दूर करने के लिए, लेखक तीसरे अध्याय के २२वें श्लोक में इस विषय का पुनः उल्लेख करता है, जहाँ प्रभु परमेश्वर से यह कहलवाया गया है:

"देखो, मनुष्य हम में से एक के समान बन गया है।"

'हम में से एक के समान' शब्द उपेक्षित किए जाने के लिए बहुत अधिक सारगर्भित हैं, और अचूक रूप से ईश्वर की उस अवधारणा की ओर संकेत करते हैं जो प्रकाश के एक महान् पर्वत की है जिसमें असंख्य छोटी-छोटी ज्योतियाँ हैं, सब एक-दूसरे में व्याप्त, और इस प्रकार एक में

अनेकत्व और अनेक में एकत्व प्रस्तुत करती हैं। यहाँ तक कि सर्प भी आदम और हव्वा को देवताओं की अवस्था का वचन देकर ही प्रलोभित करता है (उत्पत्ति ३:५)।

जहाँ तक इस्लाम का संबंध है, हम पहले ही अपने तीसरे अध्याय में दिखा चुके हैं कि अल्लाह की अवधारणा अनेकत्व में एकत्व की है, चाहे हम इस शब्द का मूल अल्-लाह मानें, अथवा इसे अल्-इलाह का संक्षिप्त रूप मानें; क्योंकि पूर्व एक छिपी हुई ज्वाला, अर्थात् चेतना, को द्योतित करता है, जो रूप में बहुत्ववादी है, यद्यपि सारतत्त्व में एकवचन; और उत्तरार्ध, अपने बाह्य रूप में ही, ज्ञान-ज्योतियों की एक बहुलता है। यही स्थिति गॉड शब्द के साथ भी है, जो, जैसा इंपीरियल डिक्शनरी दर्शाती है, मूलतः देवत्व की एक बहुत्ववादी धारणा को व्यक्त करता था।

पारसी धर्म की ओर मुड़ते हुए, हमें ईश्वरत्व की उसी बहुत्ववादी धारणा को पाते हैं। पारसियों के पवित्र शास्त्रों के अनुसार अहुर अनेक भी हैं और एक भी। ईश्वर की अवधारणा पर टिप्पणी करते हुए, श्री ई. एडवर्ड 'एनसाइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स' (खण्ड ६, पृ. २९१-२९२) में लिखते हैं:—

> "अहुर... क्रमिक रूप से प्रतिष्ठा प्राप्त करते प्रतीत होते हैं, और, प्रकटतः एक अत्यन्त प्रारंभिक युग में, उनमें से एक विशिष्टतः 'अहुर' बन गया था।"

श्री एडवर्ड की प्रगतिशील एकेश्वरवाद की धारणा स्वाभाविक रूप से बर्बरता की अवस्था से सभ्यता की अवस्था तक के विकास की धारणा पर आधारित है; किन्तु यह हमारे ज्ञान के आलोक में शायद ही समर्थनीय है, विशेषतः जब देवत्व के स्वभाव से अविभाज्य बहुत्व के विचार का एक पूर्ण स्पष्टीकरण उपलब्ध है। हम संसार के लगभग समस्त धर्मों में ईश्वर की बहुत्ववादी अवधारणा ही नहीं पाते, अपितु उनमें से अनेक में सारगर्भित संख्या २४ का स्पष्ट उल्लेख भी पाते हैं। यहाँ तक कि पारसी धर्म भी, जिसने निस्संदेह पुराने विधान की ख्याति के अनेक पैगंबरों को प्रेरित किया, देवताओं की ठीक-ठीक संख्या चौबीस बताता है। इन्हें विशुद्ध पौराणिक देवताओं के साथ भ्रमित नहीं किया जाना चाहिए, जो चेतना के पक्षों के मात्र व्यक्तित्व-रूप हैं, जैसा हमने पवित्र त्रित्व के सिद्धान्त के विश्लेषण में देखा, अपितु उन्हें जैन दर्शन में व्याख्यायित रूप में ही लिया जाना चाहिए।

आधुनिक लेखक सामान्यतः धर्म के सिद्धान्तों को समझने में त्रुटि में पड़ जाते हैं, क्योंकि उन्हें इसके मूल सिद्धान्तों का बहुत कम अथवा कोई ज्ञान नहीं होता। अतः, वे समस्त देवताओं में सर्वत्र

केवल तारामंडलों और तारों के व्यक्तित्व-रूप ही देखते हैं। प्रोफेसर क्यूमॉन्ट इन २४ देवताओं को राशिचक्र से बाहर के २४ तारे मानते हैं, 'बारह उत्तरी और बारह दक्षिणी गोलार्ध में, जो, कभी दृश्य और कभी अदृश्य होकर, जीवितों और मृतकों के न्यायाधीश बन जाते हैं।' ज़िमर्न के अनुसार, वे वे चौबीस तारामंडल हैं जो ध्रुव-तारों के चारों ओर वृत्तों में स्थापित हैं, जैसे रेवेलेशन की पुस्तक के २४ आध्यात्मिक राजा सिंहासन के चारों ओर स्थापित हैं। इस पर मॉल्टन इस प्रकार आपत्ति करते हैं (अर्ली ज़ोरोआस्ट्रियनिज़्म, पृ. ४०२):—

> "यह हमें आश्वस्त कर भी सकता है और नहीं भी। किन्तु उनका क्या तात्पर्य है जब वे आगे यह टिप्पणी करते हैं कि ये २४ चिह्न 'निस्संदेह' राशिचक्र के २४ विभाग हैं?... डियोडोरस स्पष्ट रूप से कहते हैं कि ये राशिचक्र से बाहर थे, और ज़िमर्न की टिप्पणी यह अन्तर्निहित करती है कि वे ध्रुवों से दूर नहीं हैं।"

हमारे विचार में, अहुर मज़्दा शब्द, जब एकवचन में प्रयुक्त हो, या तो परम अवस्था को द्योतित करता है अथवा सिद्ध आत्माओं को, 'धन्य सत्ताओं' को, सामूहिक रूप से लिया गया; और बहुवचन रूप में, २४ सर्वाधिक गौरवशाली सिद्धों को। यह यस्न २८.९ से स्पष्ट है, जो अभिलिखित करता है:—

> "इन वरदानों से, हे अहुर, हम कभी आपके क्रोध को न भड़काएँ, हे मज़्दा और सत्य और सर्वोत्तम विचार,... आप ही वे हैं जो कामनाओं और आशीषों के प्रभुत्व को आगे बढ़ाने में सर्वाधिक शक्तिशाली हैं" (अर्ली ज़ोरोआस्ट्रियनिज़्म, पृ. ३४६)।

यही विचार यस्न ५१.२० की शिक्षा में भी अन्तर्निहित है, जो इस प्रकार है:—

> "आप अपनी आशीषें हमें दें, आप सब जो इच्छा में एक हैं, जिनके साथ सत्य, सद्विचार, धर्मपरायणता, और मज़्दा (एक हैं), वचन के अनुसार, श्रद्धा के साथ पूजे जाने पर अपनी सहायता देते हुए।"

ईश्वर का विचार, इस प्रकार, पूर्णता का है, जिसे आत्माओं की कोई भी संख्या प्राप्त कर सकती है, यद्यपि किसी भी विशेष व्यष्टि को उस उच्च और उदात्त अवस्था पर कोई अनन्य अधिकार नहीं है। इस संबंध में लोकप्रिय भ्रांति एक अवस्था को एक सत्ता के रूप में व्यक्तिकृत कर देने में, तथा आदर्श को उन व्यष्टियों के साथ गड्डमड्ड कर देने में निहित है जो उसे साकार में लाते हैं।

उपर्युक्त को बाइबिल में सुन्दर रूप से व्यक्त किया गया है, दिव्य यूहन्ना के स्मरणीय शब्दों में, उस एक के रूप में जो उस सिंहासन पर बैठा है जिससे गर्जन और बिजलियाँ निकलती हैं,* और जो चौबीस आसनों से घिरा है जिन पर चौबीस बुज़ुर्ग बैठे हैं, सब श्वेत वस्त्र पहने और स्वर्ण-मुकुट धारण किए। यह उन चौबीस तीर्थंकरों की उदात्त अवस्था का प्रतिनिधित्व करता है जिनमें एक जीवंत सारतत्त्व सर्वाधिक पूर्णतः और परिपूर्ण रूप से प्रकट हुआ है। यह 'चौबीस में एक' का विचार है। फिर इसके पश्चात् 'एक में चौबीस' का विचार आता है, जिसे इस प्रकार वर्णित किया गया है:—

> "जब वे प्राणी उसकी महिमा और सम्मान और धन्यवाद करते हैं जो सिंहासन पर बैठा है, जो युगानुयुग जीवित है, तो चौबीस बुज़ुर्ग उसके सम्मुख गिर पड़ते हैं जो सिंहासन पर बैठा है, और उसकी आराधना करते हैं जो युगानुयुग जीवित है, और अपने मुकुट सिंहासन के सम्मुख डाल देते हैं, यह कहते हुए, तू योग्य है, हे प्रभु, महिमा और सम्मान और शक्ति ग्रहण करने के लिए, क्योंकि तूने ही सब वस्तुओं की सृष्टि की है, और तेरे ही आनन्द के लिए वे हैं और सृजी गई थीं।"

आँखों वाले† दोनों दिशाओं में देखने वाले चार प्राणी जीवित प्राणियों के चार वर्गों को दर्शाते हैं, अर्थात् वे जिनके शरीर चार भिन्न-भिन्न प्रकार के पदार्थ से बने हैं, अर्थात् वायुकायिक, अग्निकायिक, जलकायिक, और पृथ्वीकायिक। इन प्राणियों में से प्रत्येक के छह पंख काल के अवरोहण और आरोहण चापों — क्रमशः अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी — का निर्देश करते हैं। आरे (प्रवक्ते), जिनमें से प्रत्येक चाप पर छह हैं, संभवतः काल के उन विभागों का निर्देश करते हैं जिनमें चार प्रकार के जीव काल के परिवर्तनों के कारण भिन्न-भिन्न प्रकार के अनुभव भोगते हैं।

*गर्जन और बिजलियाँ जीवन की विस्फोटक प्रकृति को द्योतित करती हैं।*

† यहाँ संकेतित चार प्राणियों में से, सिंह और गरुड़ तुरन्त अपने-अपने प्रकारों की ओर संकेत करते हैं, क्योंकि सिंह पृथ्वी पर चलता है, अतः पृथ्वीकायिक जीवों का प्रतिनिधित्व करता है, जबकि गरुड़ आकाश में उड़ता है और इस प्रकार वायुकायिकों की ओर संकेत करता है। शेष दो में से, मनुष्य के मुख वाला अतिमानवीय प्रकार का, अर्थात् देवों अथवा दूतों का, प्रतीक है, जिनके शरीर लोकप्रिय रूप से उनकी स्फुरदीप्ति के कारण अग्नि-तत्त्व के बने माने जाते हैं। इससे बछड़े की व्याख्या शेष रह जाती है। अब, बछड़ा न केवल गाय का बच्चा है, अपितु समुद्री स्तनपायियों का भी, यथा व्हेल (इंपीरियल डिक्शनरी); अतः यह जलकायिक प्राणियों का प्रतीक है।

'आँखों' का रूपक हिन्दू पुराण-कथा में भी पाया जाता है। कहा जाता है कि वज्र के देवता इन्द्र ने अपने आध्यात्मिक गुरु गौतम की पत्नी अहल्या के साथ व्यभिचार किया, जिसके लिए उन्हें उनके संपूर्ण शरीर पर एक सहस्र अपमानजनक चिह्नों से दंडित किया गया। ये चिह्न, तथापि, कालांतर में आँखों में परिवर्तित हो गए, जिन्हें, श्री डब्ल्यू.जे. विल्किन्स — 'हिन्दू माइथोलॉजी' के लेखक — के अनुसार, 'अज्ञानियों द्वारा उनकी सर्वज्ञता के चिह्न माना जाने लगा।' इस कथा की व्याख्या हमें, कुछ ही शब्दों में, जीवन का स्वभाव तथा पदार्थ में उसके प्रकटीकरण का प्रभाव प्रदान करती है। इन्द्र जीवन हैं, वह देवता जो अपने हाथों में गर्जन और बिजली धारण करता है। वे सदा-हर्षित और सोम के प्रेमी हैं, आनन्द के मादक अमृत के। अहल्या ऋषि गौतम की पत्नी है, जो प्रज्ञा, अर्थात् बुद्धि, के व्यक्तित्व-रूप हैं। बुद्धि की पत्नी पदार्थ है, क्योंकि बुद्धि प्राथमिकतः केवल पदार्थ और रूप से ही व्यवहार करती है। अहल्या शब्द का अर्थ रात्रि, अर्थात् अंधकार, तथा साथ ही अनजुती हुई भूमि भी है, और इस प्रकार पदार्थ का सूचक है। अतः, इन्द्र का अहल्या के साथ पौराणिक व्यभिचार केवल इच्छा-शक्ति, अथवा जीवन, के पदार्थ में प्रवेश को ही द्योतित करता है, जिसके परिणामस्वरूप जीव इन्द्र के शरीर पर भद्दे धब्बों के रूप में प्रकट होते हैं। ये जीव कालांतर में, आध्यात्मिक विकास के क्रम में, स्व-चेतना का विकास करते हैं; अतः वे अपमानजनक चिह्न देवता के शरीर पर आँखों में परिवर्तित हो जाते हैं। श्री विल्किन्स की यह टिप्पणी कि जो लोग इन 'आँखों' को इन्द्र की सर्वज्ञता के चिह्न मानते हैं वे अज्ञानी हैं, इसे और अधिक टिप्पणी की आवश्यकता नहीं।

इस संक्षिप्त प्रस्तावना के पश्चात्, हम एपोकैलिप्टिक नाटक में चौबीस बुज़ुर्गों को सौंपी गई भूमिका के स्वभाव पर विचार करने के लिए आगे बढ़ सकते हैं। एक की, अर्थात् सत्ता अथवा जीवन के सारतत्त्व की, पूजा, समस्त चौबीस सिद्ध आत्माओं में उसके एकत्व की मान्यता का प्रतीक है। अतः यहाँ जो विचार व्यक्त किया गया है वह जीवन के एकत्व का है, उन चौबीस पूर्ण सत्ताओं से भिन्न किया गया जिनमें वह प्रकट हुआ है। ऐसा न हो कि कोई धर्मनिष्ठ किन्तु अविचारशील ईसाई यह सोचने के लिए प्रवृत्त हो जाए कि सिंहासन पर बैठा वह एक सुसमाचारों का यीशु ही है, हम यह जोड़ना चाहते हैं कि ऐतिहासिक यीशु इस नाटक में कहीं भी नहीं पाया जाता, अपितु मुक्त आत्मा को ही उस मेमने के रूप में कहा जा सकता है जिसकी विजय का वर्णन एपोकैलिप्स के आगामी अध्यायों में किया गया है। अतः, यीशु को,† और सामान्यतः प्रत्येक

आकांक्षी आत्मा को, उस मेमने द्वारा प्रतिनिधित्व किया गया कहा जा सकता है, जो जीवन की उस पुस्तक की मुहर खोलता है जो भीतर और पीठ पर लिखी है, अर्थात् मेरु-मज्जा के पदार्थ में, और योग के सात चक्रों (मानसिक केन्द्रों) से सील की गई है।

मोक्ष की अवस्था में, तब, आत्मा आनन्द के अपने स्वाभाविक वस्त्र में सुसज्जित होती है जो उसे जीवन के साथ अपने एकत्व को पहचानने में समर्थ बनाता है, और फिर भी विजयी जीव के रूप में अपने व्यष्टित्व को बनाए रखने में। इस रूप में, वह ब्रह्मांड के सर्वोच्च भाग तक उठ जाती है, जिसे सिद्धशिला कहा जाता है, और वहाँ सदा के लिए, स्थानांतरण से, अर्थात् बार-बार जन्म और मृत्यु की बाध्यता से, मुक्त रहती है।

अविकसित जीवों का भंडार-गृह वह क्षेत्र है जिसे निगोद कहा जाता है, जहाँ उनमें से अनन्त संख्या समस्त अनन्तकाल से विद्यमान है।

*बौद्ध मान्यता के अनुसार चौबीस बुद्धों की भी संख्या है, यद्यपि कुछ लोग गौतम बुद्ध को पच्चीसवें होने का गौरव देने का दावा करते हैं।*

† वस्तुतः, यूहन्ना रेवेलेशन की पुस्तक में यीशु शब्द का प्रयोग आत्मा के अर्थ में करते हैं।

निगोद ब्रह्मांड का वह भाग है जो नरकों के नीचे स्थित है। यहाँ विकास लगभग रुका हुआ है और इतनी धीमी गति से आगे बढ़ रहा है कि लगभग अगोचर है। इस अवस्था से जीव निरन्तर विकास की उच्चतर अवस्थाओं में गमन करते रहते हैं। इस अवस्था में एक जीव अपने आपके प्रति लगभग अचेतन होता है।

निगोद में जीव दो रूपों में विद्यमान हैं: या तो समूह-आत्माओं के रूप में जिनका एक साझा मुख होता है, अथवा पृथक् व्यष्टियों के रूप में। इनमें से कुछ, विकास के उच्चतर रूपों में प्रवेश करने के पश्चात्, पुनः निगोद की अवस्था में गिर जाते हैं और इतर निगोद कहलाते हैं। यही वे हैं जिनके विषय में कहा जाता है कि वे बाइबिल की भाषा में 'बाहरी अंधकार' में जाते हैं।

संलग्न आरेख में ब्रह्मांड का मानचित्र दिया गया है, जिसमें निगोद और सिद्धशिला दर्शाई गई है। उत्तरार्ध के स्थान का निम्नलिखित वर्णन शास्त्र में दिया गया है:*

"विमान सर्वार्थ के ऊपर बारह योजन पर वह स्थान है जिसे ईषत्प्राग्भार कहा जाता है, जिसका आकार एक छतरी का है: जहाँ सिद्ध आत्माएँ जाती हैं। यह ४५,००,००० योजन लंबा है, और उतना ही चौड़ा, और इसकी परिधि उससे कुछ अधिक तिगुनी है।

"इसकी मोटाई आठ योजन है, यह मध्य में सर्वाधिक है, और किनारों की ओर घटती जाती है, यहाँ तक कि यह मक्खी के पंख से भी पतली हो जाती है।

"यह स्थान, स्वभाव से शुद्ध, श्वेत स्वर्ण से बना है, आकार में एक खुली छतरी के सदृश है, जैसा जिनों में श्रेष्ठ ने कहा है। इसके ऊपर सीता नामक एक शुद्ध, धन्य स्थान है, जो शंख, अंक-रत्न, और कुन्द पुष्पों के समान श्वेत है; उससे एक योजन आगे जगत् का अंत है। वहाँ, जगत् के शीर्ष पर, धन्य सिद्ध आत्माएँ निवास करती हैं, समस्त स्थानांतरण से मुक्त, और सिद्धि की उत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त। उनका कोई दृश्य रूप नहीं, वे सर्वथा जीवन से बने हैं, और वे ज्ञान तथा श्रद्धा में विकसित हैं, उन्होंने संसार की सीमा पार कर ली है और सिद्धि की उत्कृष्ट अवस्था तक पहुँच गए हैं।"

यह उल्लेखनीय है कि लोकाकाश का रूप, जैसा आरेख में वर्णित है, अनिवार्यतः सर्वज्ञ सिद्ध भगवानों के ही उच्च और निर्विवाद प्रामाण्य पर दिया गया है। जिन्हें उनके वचन में विश्वास नहीं, उन्हें इसे सही मानने की आवश्यकता नहीं; किन्तु यह अनिवार्यतः भूगोल का विषय है जो तर्क की अपेक्षा साक्ष्य पर अधिक निर्भर करता है। धर्मशास्त्री के लिए, यह विषय न केवल विवाद के लिए खुला नहीं है, अपितु प्रामाण्य द्वारा निर्णीत भी है, क्योंकि लगभग समस्त धर्म सूक्ष्म-जगत् (मनुष्य का शरीर) को बृहत्-जगत् (ब्रह्मांड) की एक प्रतिकृति बताते हैं।

मध्यलोक कहलाने वाला केंद्रीय क्षेत्र केवल हमारे जगत् तक सीमित नहीं माना जाना चाहिए। इसमें बड़ी संख्या में विशाल 'महाद्वीप' और 'सागर' सम्मिलित हैं, यथा जम्बू-द्वीप, लवण समुद्र, और इसी प्रकार के अन्य, जो एक अटूट अनुक्रम में एक के बाद एक स्थित हैं। आधुनिक प्राच्यविदों को इन 'महाद्वीपों' और 'सागरों' की पहचान करना कठिन लगा है, और पाठ को समझने में असफल रहकर, वे इस निष्कर्ष पर कूद पड़े हैं कि जैन भूगोल से सर्वथा अनभिज्ञ थे। तथ्य, तथापि, ऐसा प्रतीत होता है कि पाठ ब्रह्मांड के प्रमुख विभागों को निर्दिष्ट करता है, न कि अकेले हमारे छोटे-से गोले को, यद्यपि उत्तरार्ध भी जम्बू-द्वीप कहलाने वाले केंद्रीय विभाग में सम्मिलित है।

मध्यलोक के नीचे नरक हैं, संख्या में सात, जो निगोद के ऊपर, एक के ऊपर एक स्थित हैं; और उसके ऊपर आठ स्तरों पर सोलह स्वर्ग हैं जहाँ पीड़ा और दुःख न्यूनतम ज्ञात हैं। इनके ऊपर उच्चतर दिव्य क्षेत्र हैं — ग्रैवेयक, अनुदिश और अनुत्तर — जहाँ लगभग पूर्ण सुख का ही

बोलबाला है; और इनके ऊपर पवित्र सिद्धशिला है जो उनका आवास-स्थल है जो दूसरे तट तक पहुँच चुके हैं। इस देव-निवास के नीचे का संपूर्ण क्षेत्र स्थानांतरण का क्षेत्र है, जिसे संसार कहा जाता है, और जिसे गुरु के वचन की सहायता से पार किया जाना है।

आत्मा के स्वभाव की ओर लौटते हुए, जीव अथवा आत्मा एक द्रव्य है जिसका कार्य जानना है; और, जैसा पूर्व के एक अध्याय में दिखाया जा चुका है, प्रत्येक आत्मा स्वभावतः अनन्त ज्ञान और आनन्द की क्षमता से संपन्न है। इस रूप में, प्रत्येक अमुक्त आत्मा ज्ञान और हर्ष के एक संकुचित पक्ष के सदृश है — एक विचार-लय अथवा आनन्द से आवेशित प्रज्ञा का एक गोलक। वह पदार्थ से नहीं बनी, यद्यपि एक द्रव्य होने के कारण उसे सर्वथा 'अभौतिक' नहीं कहा जा सकता।

अपने आयामों के विषय में, आत्मा एक विस्तारमान और संकुचनशील द्रव्य है, और मुक्ति की प्राप्ति से पूर्व उसका अपना कोई निश्चित आकार नहीं। यह स्पष्ट है कि आत्मा अपने भौतिक शरीर से छोटी नहीं हो सकती, क्योंकि उस स्थिति में वह शारीरिक प्रभावों को अपने ही रूप में अनुभव करने में असमर्थ होगी। इस पर सरलता से सहमति हो जाएगी यदि हम इस प्रस्ताव पर विचार करें कि, चूँकि सुख और दुःख अहं के प्रभाव हैं, अर्थात् आत्म-द्रव्य के परिणाम, अतः किसी ऐसे स्थान में जो आत्मा द्वारा व्याप्त न हो, दोनों में से किसी को भी अनुभव करना असंभव है। यदि यह कहा जाए कि आत्मा को कष्ट के स्थान से एक मानसिक संदेश प्राप्त होता है, तो इसका उत्तर यह है कि इस मान्यता पर सुख अथवा दुःख की कोई अनुभूति नहीं होगी; क्योंकि जिस प्रकार किसी मनुष्य के लिए यह संभव नहीं कि वह अपने घर में आग लगने के संदेश की प्राप्ति पर, चाहे वह इस सूचना से मानसिक रूप से कितना ही व्यथित क्यों न हो, जलने की वास्तविक संवेदना और शारीरिक पीड़ा का अनुभव करे, उसी प्रकार और ठीक उन्हीं कारणों से आत्मा के लिए भी उस स्थान में सुख अथवा दुःख अनुभव करना संभव नहीं जहाँ वह नहीं है। और, अंततः, यदि यह भी मान लिया जाए कि संदेश से शारीरिक पीड़ा उत्पन्न हो सकती है, तो अनुभूति स्वयं आत्मा के द्रव्य तक ही सीमित रहेगी, और इस प्रकार हृदय की गुहा तक अथवा जहाँ कहीं भी आत्मा स्थित हो, किन्तु कष्ट के स्थान पर नहीं। वास्तविक अनुभव, तथापि, अत्यन्त स्पष्टता से यह प्रदर्शित करता है कि पीड़ा की अनुभूति जीव-यन्त्र में किसी विशेष स्थान तक सीमित नहीं है, अपितु संपूर्ण शरीर में

अनुभव की जा सकती है। यह निर्विवाद रूप से संपूर्ण शरीर में आत्मा के व्यापन को सिद्ध करता है।

इस दृष्टिकोण पर एक संभावित आपत्ति यह है कि, चूँकि हमारी संवेदनाएँ क्रमिक रूप से अनुभव की जाती हैं, एक साथ नहीं, अतः आत्मा शरीर के प्रत्येक भाग में उपस्थित नहीं हो सकती। किन्तु इसमें कोई बल नहीं है; क्योंकि संवेदनाओं का क्रम इस तथ्य से उत्पन्न होता है और उसी के कारण है कि तंत्र के किसी विशेष भाग पर विशिष्ट ध्यान अन्य भागों में आत्मा की संवेदनशीलता को प्रभावित करता है, उसे तत्काल के लिए अन्य उद्दीपनों के प्रति असंवेदनशील बना देता है। यदि अब यह कहा जाए कि आत्मा की संवेदनशीलता किसी विशेष संवेदना पर विशिष्ट ध्यान दिए जाने से प्रभावित नहीं होती, अपितु यह क्रम मन के उस अवरोध के कारण है जिसे केन्द्राभिमुखी आवेगों द्वारा केवल एक-एक करके ही पार किया जा सकता है, तो फिर मानसिक अवरोध के दूसरी ओर आत्मा के 'साक्षात्कारियों' की संख्या पर कोई सीमा नहीं होनी चाहिए, क्योंकि अवरोध एक बार पार हो जाने पर, इन बाहर से आने वाले 'आगन्तुकों' को एक-दूसरे के साथ मिलकर, हाथ में हाथ डाले, आत्मा के सम्मुख प्रस्तुत होने से रोकने वाली कोई और बाधा नहीं रह जाती। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जब तक आत्मा स्वयं उस इन्द्रिय-उद्दीपन के अतिरिक्त, जिस पर वह उस समय ध्यान दे रही हो, सबके प्रति अभेद्य न बन जाए, तब तक उसे अपने उन समस्त प्रभावों को अनुभव करना चाहिए जो एक साथ, अर्थात् एक ही समय में, उत्पन्न होते हैं। किन्तु चूँकि यह वास्तविक अनुभव में कभी घटित होता नहीं जाना गया, अतः यह तर्क हमारे प्रस्ताव को निर्णायक रूप से सिद्ध करता है।

यह आगे भी देखा जा सकेगा कि जीवन की व्यवस्था में मन का कार्य आत्मा को उस स्थान में इन्द्रिय-उद्दीपन का अनुभव कराना नहीं है जहाँ वह नहीं है, जैसा कुछ लोग प्रतिपादित करते हैं, क्योंकि यह एक विशुद्ध मानसिक कल्पना के तुल्य होगा, अपितु किसी भी विशेष आवेग को, इच्छानुसार, क्षेत्र के सर्वाधिक तीव्रता से सचेत भाग के केन्द्र में आमंत्रित करना है, उसे उसके सामान्य पथ से विचलित करते हुए जहाँ वह अनिवार्यतः एक गति-निर्वहन के रूप में स्वयं को समाप्त कर देता।

जब मन द्वारा किसी इन्द्रिय-आवेग को आमंत्रित किया जाता है, तो वह एक तंत्रिका-लूप के साथ-साथ यात्रा करता है — यदि हम उस व्यवस्था को इस प्रकार कह सकें जो तकनीकी रूप से

प्रत्यक्ष प्रतिवर्तों (डायरेक्ट रिफ्लेक्सेज़) के रूप में जाने जाने वाले तंत्र को मन की यन्त्र-रचना से जोड़ती है — और फिर एक विचारशील विश्लेषण के अधीन किया जाता है, जो व्यष्टि के विकास के अनुसार न्यूनाधिक विस्तृत होता है। यह केवल उन्हीं प्राणियों में घटित होता है जो मन से संपन्न हैं; निम्नतर पशुओं में, जो इससे संपन्न नहीं हैं, और जो, अतः, रुक नहीं सकते, टाल नहीं सकते, विचार नहीं कर सकते, तुलना नहीं कर सकते, अथवा एक हेतु को दूसरे के विरुद्ध सूक्ष्मता से तोल नहीं सकते, गति तुरन्त प्रतिवर्तों के निर्धारित मार्गों से होकर एक गति-निर्वहन में गुज़र जाती है, जिसके परिणामस्वरूप एक पेशी का संकुचन होता है। ऐसे पशु किसी चुनाव का प्रयोग नहीं कर सकते, और घातक रूप से निर्धारित गति को निष्पादित करने के लिए विवश हैं, चाहे परिस्थितियाँ कुछ भी हों। इससे यह दर्शित होता है कि मन निष्पादित की जाने वाली गति के संबंध में चुनाव का एक साधन है, तथा प्राप्त गति के संबंध में विश्लेषण का, जिसे वह तंत्र में किसी भी विशेष गति-पथ पर मोड़ सकता है, इच्छानुसार उसके मार्ग को रोकते और बदलते हुए। यह यह दर्शाने के लिए पर्याप्त है कि मन का कार्य किसी संवेदना को उस स्थान से भिन्न किसी स्थान में अनुभव कराना नहीं है जहाँ उसे अनुभव किया जाना चाहिए, अपितु केवल उसका विश्लेषण करना, उसके स्वाभाविक प्रतिवर्तों को अनुमति देना अथवा रोकना अथवा इच्छानुसार, उसी समय, उनके स्थान पर अन्य को प्रतिस्थापित करना है। अतः यह आपत्ति अपनी संपूर्णता में विफल हो जाती है, और हमें, तदनुसार, यह निष्कर्ष निकालना होगा कि आत्मा शरीर के किसी विशेष स्थान तक सीमित नहीं है, अपितु अपनी परिधि के भीतर उसके प्रत्येक भाग में व्याप्त है।

अब, चूँकि शरीर स्थिर नहीं, अपितु एक ऐसी वस्तु है जो छोटे आयामों से बढ़ती है, अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि जब तक आत्मा स्थानांतरण में संलग्न है, उसका अपना कोई स्थायी आकार नहीं हो सकता। इसका तात्पर्य यह है कि आत्मा एक विस्तारमान और संकुचनशील द्रव्य है; वह स्त्री-गर्भ में एक सूक्ष्मदर्शीय आकार से आरंभ होती है और अपने शरीर के साथ-साथ विस्तृत होती जाती है जब तक वह अपने पूर्ण अनुपात को प्राप्त न कर ले। अंततः, अर्थात् प्रत्येक सांसारिक जीवन के अंत में, वह पुनः अगले जन्म के बीज में संकुचित हो जाती है ताकि विस्तार की प्रक्रिया को एक बार फिर से गुज़रे। इस प्रकार जीव स्थानांतरण के क्रम में, अपने भिन्न-भिन्न शरीरों में, निर्वाण प्राप्त होने तक, विस्तार और संकुचन करता रहता है।

हिन्दू दार्शनिक रामानुज भी यही दृष्टिकोण अपनाते प्रतीत होते हैं जब वे कहते हैं:—

"आत्माएँ और पदार्थ असत्य अथवा अयथार्थ हैं, जिसका पुनः अर्थ यह है कि वे परिणाम के अधीन हैं, जो अनिवार्यतः अशुद्धता का एक तत्त्व है। आत्माओं के मामले में, यह परिणाम बुद्धि के विस्तार अथवा संकुचन का रूप लेता है।" — श्री रामानुजाचार्य, टी.आर. चारियार कृत, पृ. ५८

आत्मा के स्थान के विषय में, माहर की 'साइकोलॉजी' में आने वाला निम्नलिखित अंश हमारे लिए अत्यन्त रुचिकर है:—

"प्राचीन और आधुनिक दार्शनिकों के बीच, शरीर के उस ठीक-ठीक भाग के विषय में जिसे आत्मा का स्थान माना जाए, बहुत विवाद रहा है। कुछ ने इसे हृदय में स्थित किया है, अन्यों ने मस्तिष्क में, और अन्यों ने मस्तिष्क के विभिन्न भागों में। इस प्रश्न पर मतों की निराशाजनक रूप से परस्पर-विरोधी स्थिति संभवतः इस भ्रान्त किन्तु व्यापक रूप से प्रचलित दृष्टिकोण के कारण है कि आत्मा में निहित सारतत्त्व अथवा द्रव्य की सरलता एक गणितीय बिन्दु के सदृश एक स्थानिक सरलता है। इसके परिणामस्वरूप, किसी सामान्य तंत्रिका-केन्द्र, किसी ऐसे केन्द्र-बिन्दु को खोजने के निष्फल प्रयत्न निरन्तर किए जाते रहे हैं जहाँ से संचार की रेखाएँ शरीर के समस्त क्षेत्रों तक विकीर्ण होती हों। आत्मा की अविभाज्यता, तथापि, ठीक बुद्धि और इच्छा-शक्ति की अविभाज्यता के समान, किसी बिन्दु की सूक्ष्मता में निहित नहीं है। आत्मा एक अभौतिक ऊर्जा है, जो, यद्यपि पृथक्-पृथक् सिद्धान्तों अथवा भागों के साथ-साथ भाग-दर-भाग गठित नहीं है, तथापि एक विस्तृत विषय में अपने गुण का प्रयोग करने में सक्षम है। ऐसी यथार्थता, किसी भौतिक सत्ता के समान, आकाश के भिन्न-भिन्न भागों को अपने ही राशि के भिन्न-भिन्न भागों द्वारा अधिकृत नहीं करती। पांडित्यपूर्ण भाषा में इसे शरीर, जिसे वह सजीव बनाती है, में सर्वत्र उपस्थित, न कि परिसीमाकारी, अपितु निश्चयात्मक रूप से वर्णित किया गया था; परिमाण के स्पर्श (per contactum quantitatis) से नहीं अपितु गुण के स्पर्श (per contactum virtutis) से। इसकी उपस्थिति किसी विस्तृत वस्तु की सी नहीं है जिसके भिन्न-भिन्न भाग आकाश के संगत क्षेत्रों को भरते और उनसे परिसीमित होते हैं, अपितु एक अभौतिक ऊर्जा की है जो जीवित शरीर में सर्वत्र अपनी उचित क्रियाशीलताओं का प्रयोग करती है।

"आत्मा, यद्यपि अपरिमाणात्मक रीति से, संपूर्ण शरीर में उपस्थित है: इसके अतिरिक्त, वह अपने सारतत्त्व की संपूर्णता में सर्वत्र इस प्रकार उपस्थित है, यद्यपि वह अपनी समस्त शक्तियों का प्रयोग सर्वत्र करने में सक्षम न हो। ...जिन क्रियाशीलताओं को एक विशेष अंग

की आवश्यकता होती है वे उस क्षेत्र तक सीमित हैं जो शारीरिक साधन द्वारा अधिकृत है। जिस सीमा तक वह द्रव्यगत विषय, जिसकी सीमाओं द्वारा सामान्यतः जैविक क्रियाशीलता परिभाषित और अनुकूलित होती है, बढ़ता अथवा घटता है, उस सीमा तक आत्मा को, रूपकात्मक भाषा में, आभासी वृद्धि अथवा ह्रास का अनुभव करते हुए कहा जा सकता है — अपने बलों के क्षेत्र और परिसर में एक विस्तार अथवा संकुचन; किन्तु स्वयं आत्मा के द्रव्य में कोई वास्तविक परिमाणात्मक वृद्धि नहीं है।"

शरीर में आत्मा का 'प्रसार' प्रकृति में विसरण के किसी अन्य मामले से तुलनीय नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मा एक सरल द्रव्य है और सर्वथा भागों से रहित है। ऐसी सरल सत्ता के विस्तार और संकुचन के विचार के संबंध में जो कठिनाई अनुभव की जाती है वह इस तथ्य में निहित है कि मानव मन लगभग विशिष्ट रूप से परिमाणात्मक परिघटनाओं से व्यवहार करने के लिए अनुकूलित है, और उस वस्तु के विस्तार को अपने आप में चित्रित करने का प्रयत्न करते समय असफल हो जाता है जो भिन्न-भिन्न तत्त्वों और भागों से संघटित नहीं है। किन्तु, जैसा माहर एस.जे. बल देते हैं, कल्पना संभाव्यता की कोई कसौटी नहीं है।

इस बिन्दु को कुछ सीमा तक दृष्टान्तित करने के लिए प्रकाश की सादृश्यता का प्रयोग किया जा सकता है; क्योंकि जैसे प्रकाश का क्षेत्र किसी छोटे कमरे अथवा बड़े हॉल में रखे जाने के अनुसार, अथवा भिन्न-भिन्न प्रकार के आवरणों के प्रयोग से, बढ़ता अथवा घटता है, यद्यपि वे किसी भी अर्थ में उसके प्रसार को परिमाणात्मक रूप से प्रभावित नहीं करते, वैसे ही आत्मा भी भिन्न-भिन्न शरीरों को भरने के लिए विस्तृत और संकुचित होती है।

यह कि जीवंत बल अथवा लय की अवधारणा अदार्शनिक मन के लिए कुछ हद तक उलझन भरी होनी चाहिए, यह केवल स्वाभाविक है। क्योंकि चेतना पत्थर अथवा धातु जैसी कोई वस्तु नहीं, अपितु एक जीवंत और जानने वाला द्रव्य है, जिसे प्राचीनों ने पदार्थ से भेद करने के लिए आत्मा (स्पिरिट) कहा। यह विचार का विषयनिष्ठ पक्ष है, जीवन का जीवंत सारतत्त्व। यह प्रश्न कि किसी द्रव्य को यह समस्त कार्य क्यों करने चाहिए? अस्वीकार्य है। दर्शन का संबंध केवल वस्तुओं को वैसा खोजने से है जैसी वे अस्तित्व में हैं, न कि उन्हें अपने वार्ताकारों की सनक के अनुरूप बनाने से। कोई भी इसी प्रकार पूछ सकता है: पदार्थ को जड़ ही क्यों होना चाहिए, आकाश को विस्तृत, काल को क्षणभंगुर, इत्यादि? बिन्दु यह नहीं कि मन एक सरल द्रव्य को एक विस्तृत सत्ता

के रूप में चित्रित कर सकता है या नहीं, अपितु यह कि आत्मा वे कार्य करती है या नहीं जो उसे आरोपित किए गए हैं, और इस विषय में इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता कि दिए गए कारणों से शरीर में उसका 'प्रसार' पूर्णतः आवश्यक है।

वेदान्त जीव को स्व की प्रतिबिंब (पड़छाया) बताता है, किन्तु यह वर्णन किसी भी अर्थ में यथार्थ नहीं, क्योंकि एक प्रतिबिंब केवल किसी सतह पर डाली गई और वापस परावर्तित हुई प्रकाश-किरणों की संख्या का परिणाम है, जैसे जल में सूर्य का प्रतिबिंब। जीव, परावर्तित प्रतिबिंब के समान एक परिणाम न होने के कारण, किसी वस्तु का प्रतिबिंब नहीं हो सकता, अपितु स्वयं में विद्यमान एक स्वतंत्र यथार्थता है।

यह विचार कि जीव ब्रह्म की प्रतिबिंब है, केवल इस सीमा तक सत्य हो सकता है कि उसमें ब्रह्म बनने की सामर्थ्य है, अन्यथा नहीं। किन्तु जहाँ तक जीव विचार का एक केन्द्र, अथवा एक विचार-लय है, वह अपने ही रूप का निर्माता है, जिसे वह अपने चरित्र अथवा स्वभाव की प्रमुख प्रवृत्तियों के अनुसार बनाता है। अतः जो शरीर वह अपने लिए बनाता है वह उसके मन का प्रतिबिंब है। प्रत्येक प्राणी, इस अर्थ में, अपने ही चरित्र की प्रतिबिंब है; किन्तु इस सिद्धान्त को इससे आगे ले जाना असंभव है, सिवाय इस अर्थ में कि प्रत्येक जीव अपने ही रूप के भीतर उस दिव्य अवस्था के बीज को समेटे हुए है जो निर्वाण प्राप्त होने पर प्राप्त होगी। क्योंकि, यदि जीव केवल चेतना की एक प्रतिबिंब हो, तो वह चेतना से संपन्न कैसे हो गया? अवलोकन निश्चित रूप से शुद्ध प्रतिबिंबों में समझ, इच्छा-शक्ति और स्मृति की धारणा का समर्थन नहीं करता।

इस प्रश्न पर विचार करने की ओर बढ़ते हुए कि क्या गति शुद्ध आत्मा का एक गुण है, चिंतन दर्शाता है कि आत्मा स्वभावतः गतिहीन है; वह केवल पदार्थ की सहायता से एक स्थान से दूसरे स्थान को गति कर सकती है। यदि आत्मा को इधर-उधर गति करनी होती, तो वह या तो इसलिए करती क्योंकि यह उसका स्वभाव है, अथवा इसलिए कि वह पदार्थ के आकर्षण और प्रतिकर्षण के बलों के अधीन है; किन्तु जहाँ तक पूर्व विकल्प का संबंध है, इसमें ऐसा सुझाव देने वाला सर्वथा कुछ नहीं कि गति शुद्ध आत्मा की विशेषता है, और उत्तरार्ध के संबंध में, प्रकृति के द्रव्यगत बलों के प्रति उसकी अधीनता ठीक उसी प्रकार की है जैसे उस कीट की जो चुंबक की ओर इसलिए आकृष्ट होता है क्योंकि वह शहद से सने लोहे के बुरादे के एक टुकड़े पर अपनी पकड़ नहीं छोड़ेगा। इसमें सर्वथा कुछ भी नहीं दर्शाता कि आत्मा, अपनी स्वाभाविक शुद्धता में, आकर्षण और

प्रतिकर्षण के उन भौतिक बलों की क्रियाशीलता से प्रभावित होने योग्य है जिनके अधीन पदार्थ निस्संदेह है। वस्तुतः आत्मा स्वयं गुरुत्वाकर्षण पर भी, यदि वह स्व-सचेत हो, पलक झपकते ही विजय पा सकती है। इसकी एक आंशिक पुष्टि इस तथ्य में मिलती है कि, जहाँ निर्जीव, अचेतन वस्तुएँ इस शक्तिशाली बल से मुक्त नहीं हो सकतीं, वहीं हम अपनी सर्वथा इच्छामात्र से, इसकी अवहेलना करते हुए, उछलते हैं, नाचते हैं और चलते हैं। इस प्रकार यह निश्चित है कि गति आत्मा का कोई कार्य नहीं, जो गुरुत्वाकर्षण के बल के अधीन केवल इस सीमा तक है कि पदार्थ का साहचर्य उसे अपने शरीरों के साथ खींचे जाने के योग्य बना देता है। इसके अतिरिक्त, यदि आत्मा गति से चिह्नित होती, तो शरीर कभी विश्राम नहीं जान पाता, क्योंकि वह अपने अधिष्ठाता से स्वयं को पृथक् नहीं कर सकता जिसकी तनिक-सी इच्छा उसे गति में डालने के लिए पर्याप्त है।

यह सत्य है कि आत्मा काल में निरन्तर रहती है, किन्तु निरन्तरता का विचार उस गति से एक सर्वथा भिन्न प्रकार की गति को अन्तर्निहित करता है जो हम एक स्थान से दूसरे स्थान को गमन करते समय करते हैं। 'होना' और 'निरन्तर होते रहना' एक ही वस्तु न होने के कारण, इनके बीच का भेद ठीक-ठीक वही है जो निरन्तरता के विचार के मूल में है; और यह क्रियात्मक क्रियाशीलता के निर्वहन में निहित है, जिसे एक मामले में ध्यान में नहीं लिया जाता और दूसरे में निरन्तर निष्पादित होते हुए कहा जाता है। किन्तु जहाँ तक निरन्तरता के विचार में अन्तर्निहित गति के स्वभाव का संबंध है, यह स्पष्ट है कि यह एक स्थान से दूसरे स्थान को स्थानांतरण की नहीं हो सकती, क्योंकि किसी कार्य का निर्वहन बिना किसी विशेष स्थान से हटे भी हो सकता है। काल में गति, वस्तुतः, आकाश में दूरी के पदों में मापी जाने वाली नहीं है; यह 'क्षणों', अथवा गुणों — तीव्र, कम तीव्र, और पुनः तीव्र — का एक गुणात्मक प्रत्यावर्तन है, जो निश्चित रूप से स्थानिक अर्थ में गति नहीं है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आत्मा गति से चिह्नित नहीं है।

हम यहाँ कुछ सामान्य त्रुटियों को सुधारने के लिए थोड़ा ठहर सकते हैं जिनमें दार्शनिक कुछ पदों को परिभाषित करने का प्रयत्न करते समय अनजाने ही पड़ जाते हैं। चूँकि परिभाषाओं का एकमात्र प्रयोजन हमें वस्तुओं को वैसा समझने में समर्थ बनाना है जैसी वे अस्तित्व में हैं, अतः उनमें अत्यन्त परिशुद्ध होने की आवश्यकता को साकार करना स्पष्टतः सर्वोच्च महत्त्व का है। जहाँ इस आवश्यकता की उपेक्षा की गई है, और यथार्थ वर्णन के स्थान पर अयथार्थ परिभाषाओं को स्वीकार किया गया है, वहाँ इस त्रुटि से भ्रम के अतिरिक्त — कभी-कभी अत्यन्त निकृष्टतम

प्रकार का — कुछ भी परिणाम नहीं निकला है।बुद्ध की निर्वाण को परिभाषित करने में असमर्थता, जिसका उल्लेख आगे पुनः किया जाएगा, तथा शंकराचार्य की ब्रह्म की निरपेक्ष के रूप में अवधारणा, जिसे बनना वेदान्त में मुख्य वांछित लक्ष्य है, इस बिन्दु के दृष्टान्त में उद्धृत किए जा सकते हैं। ईश्वर की आधुनिक धर्मशास्त्रीय अवधारणा भी विचार की परिशुद्धता से इसी प्रकार की एक स्खलना का परिणाम है।

समस्त सच्ची परिभाषाएँ किसी वस्तु के अन्य वस्तुओं के साथ जिन संबंधों में वह खड़ी है, उनके वर्णन को अन्तर्निहित करती हैं, न कि उन्हें उनसे पृथक् कर देने को; और चूँकि कोई भी वस्तु संबंधों से रहित नहीं, अतः सापेक्षता ही समस्त उचित और दार्शनिक परिभाषाओं की सच्ची विशेषता है। यदि दार्शनिक झुकाव रखने वाले धर्मशास्त्र के जिज्ञासु इसे ध्यान में रखें, तो वे शीघ्र ही अपनी आत्माओं पर प्रज्ञा के सच्चे प्रकाश का उदय होते देखेंगे, और तब शीघ्रता से यह साकार कर लेंगे कि भ्रान्त विचारों की प्रशंसा में, अथवा निंदा में, अपने आपको कर्कश स्वर में थका देना किसी भी अर्थ में मुक्ति का पथ नहीं है।

यह समय आ गया है कि जो लोग एक मिशनरी धर्म से संबंधित होने पर गर्व करते हैं वे उस बुराई के स्वभाव को समझें जो धर्म के सिद्धान्तों के स्थान पर मनुष्यों के विचारों और परंपराओं के प्रसार से उत्पन्न होती है। मनुष्यों के मन में अज्ञान और अस्पष्ट रहस्यवाद का बीज रोपना खरी दुष्टता से कम कुछ नहीं है; और फिर भी इससे तब तक बचा नहीं जा सकता जब तक शिक्षक, अथवा प्रचारक, जो भी स्थिति हो, केवल भारी-भरकम किन्तु अन्यथा खोखले शब्दों में ही उलझा रहे। जो हज़ारों प्रचारक सार्वजनिक रूप से प्रचार करते हैं, और उतनी ही बड़ी संख्या में वे जो अपने सिद्धान्तों को पुस्तकों में लिखते हैं, उनमें से मुश्किल से एक हज़ार में एक को यह ज्ञान है कि उसके द्वारा प्रयुक्त शब्दों का क्या तात्पर्य है; फिर भी वे सब, बिना लाज-शर्म के, अपने कथित रूप से असहाय ईश्वर के हितों में अलंकार-रचना की एक अंतहीन धारा उंडेलते रहते हैं, जिसका उद्देश्य, वे प्रतीत होता है मानते हैं, रक्षा करने के लिए योद्धाओं की एक विशाल सेना की माँग करता है! उनमें से अधिकांश, जब अपने ईश्वर की अवधारणा को परिभाषित करने के लिए कहा जाए, तो संगत भाव की ठोस भूमि पर से अपना पैर खो बैठते हैं, और तत्त्वमीमांसात्मक बकवास के दलदल में लड़खड़ाने लगते हैं। यदि यही स्थिति स्वयं शिक्षकों की है, तो उनके 'शिकारों' की दशा क्या होगी?

परिभाषाएँ अपने प्रयोजन की पूर्ति करने में विफल हो जाती हैं जब वे प्रकृति के प्रति सत्य होना बंद कर देती हैं, और दार्शनिक केवल तब बड़बड़ाते हैं जब वे शुद्ध अमूर्तनाओं की बात स्वयं में अस्तित्वमान के रूप में करते हैं।

निरपेक्ष की वह अवधारणा जिसे वेदान्त और विचार की कुछ अन्य प्रणालियाँ एकमात्र विद्यमान यथार्थता के रूप में प्रतिष्ठापित करने पर अड़ी रहती हैं, एक मानसिक अमूर्तन और मूर्त वस्तुओं के बीच विवेक की कमी से उत्पन्न भ्रम का एक उपयुक्त दृष्टान्त है। शुद्ध अस्तित्व के रूप में देखे जाने पर, यह मात्र द्रव्य का एक गुण है, न कि स्वयं में एक द्रव्य अथवा वस्तु। इस रूप में, यह असंभव है कि वह स्वयं में अस्तित्व रख सके, क्योंकि गुण केवल द्रव्यों में ही अन्तर्निहित होते हैं और द्रव्य गुणों के मात्र पुलिंदे हैं। यदि ऐसा न होता, तो हमें अस्तित्व अन्य समस्त गुणों से पृथक् अस्तित्वमान मिलता। किन्तु यह बेतुका है; क्योंकि तब अस्तित्व स्वयं के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु से संबंधित नहीं होता, जिससे शेष समस्त गुण और वस्तुएँ अनस्तित्वमान हो जातीं। अस्तित्व स्वयं भी तब किसी भी वस्तु का लक्षण-रहित गुण बन जाता, और, भिन्न-भिन्न द्रव्यों और गुणों के अभाव में, ब्रह्मांड का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता।

इस प्रकार, शुद्ध अस्तित्व के रूप में निरपेक्ष की अवधारणा तार्किक रूप से पूर्णतः अस्वस्थ है। निरपेक्ष की सर्व की एक समष्टि के रूप में अवधारणा शेष रह जाती है जिस पर विचार किया जाए। किन्तु इस रूप में यह किसी भी सामूहिक अवधारणा के सदृश होगी, यथा ब्रिटिश साम्राज्य अथवा फ्रांसीसी गणराज्य, जो शुद्ध मानसिक कल्पनाएँ हैं। मान लीजिए हम उत्तरार्ध को खोजने निकलें, और उसकी खोज में फ्रांस जाएँ। यह स्पष्ट है कि हम फ्रांस में केवल देश, लोग, संस्थाएँ, इत्यादि ही देखेंगे, किन्तु स्वयं फ्रांसीसी गणराज्य को नहीं। क्योंकि उत्तरार्ध केवल एक विचार है जो फ्रांसीसी की अनेक वस्तुओं के माध्यम से कार्य करता है, और उन्हें एक सुगठित समग्र के रूप में एक साथ बाँधे रखता है। अब, मान लीजिए हम फ्रांसीसी गणराज्य के विचार और फ्रांस में वास्तव में विद्यमान वस्तुओं, अथवा संस्थाओं, के बीच के बंधन को हटा दें, और विचार में उनके बीच एक पूर्ण विच्छेद कर दें। तब हमें, एक ओर, देश, लोग, संस्थाएँ, इत्यादि इतने ही पार्सलों के रूप में मिलेंगे, और दूसरी ओर, एक सर्वथा अनस्तित्वमान अमूर्तन। पूर्व, एक बाँधने वाले बंधन के अभाव में, स्वतंत्र इकाइयाँ बन जाएँगी, और उत्तरार्ध एक ऐसा विचार बन जाएगा जिसके नियंत्रण के लिए कुछ भी नहीं, क्योंकि हमने उससे उन्हीं वस्तुओं के साथ सभी संबंध नकार दिए हैं जिन्हें वह

नियंत्रित कर सकता था; और चूँकि उसका अस्तित्व-कारण केवल फ्रांसीसियों के बीच लक्ष्यों और आकांक्षाओं के एकत्व का बंधन है, जिसे वास्तविक पृथक्करण द्वारा उससे नकार दिया गया है, अतः उसका अस्तित्व स्वयं ही स्व-विरोधाभासी हो जाता है और अपनी कल्पना के क्षण में ही समाप्त हो जाता है। एक वास्तविक फ्रांसीसी गणराज्य के लिए एक जीवंत बल, अथवा विचार, की आवश्यकता है जो फ्रांस के लोगों के मन को वास्तव में प्रभावित करे, और उन्हें एक राष्ट्र के रूप में एक साथ बाँधे रखे। इन दो पदों को अलंघनीय अवरोधों से पृथक् कीजिए, और आप मनुष्यों के हृदयों में गणतांत्रिक भावना को, तथा गणराज्य के विचार में अस्तित्व की शक्ति को, एक ही आघात में नष्ट कर देंगे।

दर्शन का निरपेक्ष, जब एक सामूहिक अवधारणा के रूप में कल्पित किया जाए, फ्रांसीसी गणराज्य के समान ही प्रकार का एक विचार है, और उसी वर्ग की समस्त सीमाओं के अधीन है जिससे वह संबंधित है। यह एक सत्ता नहीं, अपितु एक बंधन है, और उन पदों से पृथक् अस्तित्व नहीं रख सकता जिन्हें वह जोड़ता और नियंत्रित करता है। अब यह देखा जा सकेगा कि प्राचीन उपनिषदों में ब्रह्म का विचार एक शुद्ध मानसिक अमूर्तन है। वेदान्त संप्रदाय के प्रारंभिक हिन्दू सिद्धान्तकार, अतिचेतना की अवस्था से अनभिज्ञ,* जिसे बाद में तुरीय, चौथी, के रूप में पहचाना गया, प्रतीत होता है कि वे 'वह' बनने के विचार में, एक मानसिक अमूर्तन के रूप में कल्पित, मग्न रहे। वस्तुतः, ब्रह्म का उनका अपना ही वर्णन इसके विपरीत किसी भी तर्क का खंडन करने के लिए पर्याप्त है, क्योंकि वह ('वह' वही सर्वनाम है जो ब्रह्म के लिए अपरिवर्तनीय रूप से प्रयुक्त होता है) सत्-ज्ञाता-आनन्दमय नहीं, अपितु केवल सत्, चित् और आनन्द है, अर्थात्, अस्तित्व-ज्ञान-आनन्द, दूसरे शब्दों में, शुद्ध अमूर्तनाएँ। तदनुसार, हिन्दू दार्शनिकों ने ब्रह्म का वर्णन अपरिवर्तनीय रूप से अखंड मौन बनाए रखकर ही किया — एक पद्धति जिसका उपयोग बुद्ध ने भी कुछ अवसरों पर किया। इसका कारण इस तथ्य में निहित था कि उनकी ब्रह्म की अवधारणा, किसी सत्ता की न होकर, शुद्ध मानसिक अमूर्तनाओं की थी, जो अविश्लेषणीय और अतः लगभग शब्दों से परे हैं, जिससे उनके पास चुप रहने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं बचा।

*डायसन की 'फिलॉसफी ऑफ द उपनिषद्स', पृ. ८०९*

हिन्दू, तथापि, ब्रह्म का वर्णन करने में अपनी अक्षमता को कोई रहस्य नहीं बनाते थे, और अंततः यह खुले तौर पर अपरिवर्तनीय रूप से कहते थे। कभी-कभी यह मौन अत्यन्त उत्कंठापूर्ण

रीति से बनाए रखा जाता था, और अंततः क्रुद्ध प्रतिपक्षी को इस प्रकार के किसी उत्तर से, समस्त अभियोगात्मक साहस के साथ उच्चारित, चकित करने के लिए एक तर्क के रूप में प्रयुक्त किया जाता था: "मैं निरन्तर तुम्हें उत्तर देता रहा हूँ, किन्तु यदि तुम नहीं समझते तो यह मेरा दोष नहीं है; ब्रह्म, प्रिय महोदय, शब्दों से वर्णित नहीं किया जा सकता, अपितु मौन से!"

बाद की शिक्षा चेतना की चौथी अवस्था को सर्वथा उचित रूप से स्वीकार करती है, जो मानवजाति के लिए सच्चा आदर्श है; यद्यपि यहाँ भी एक अमूर्तन के रूप में ब्रह्म की अवधारणा बहुत भ्रम के लिए उत्तरदायी है। यदि वेदान्ती इस विषय पर गंभीरता से चिंतन करें, तो वे यह देखने में असफल नहीं रहेंगे कि एक शुद्ध मानसिक अमूर्तन बनना न तो वांछनीय है न संभव।

यदि हम क्षणभर के लिए अपने पुराने दृष्टान्त की ओर लौटें, तो हम एक ही दृष्टि में वेदान्त की अवधारणा में अन्तर्निहित बेतुकेपन को देख सकते हैं। मान लीजिए हम फ्रांसीसी राष्ट्रपति के सम्मान-पद के एक उम्मीदवार से उस आदर्श के विषय में पूछें जो उसकी दृष्टि में है, और वह उत्तर दे कि वह फ्रांसीसी गणराज्य बनने का प्रयत्न कर रहा है, क्या वह ऐसा कहने में सही होगा? निश्चित रूप से नहीं; क्योंकि कोई भी फ्रांसीसी गणराज्य नहीं बन सकता। इसी प्रकार, कोई भी दर्शन के निरपेक्ष को नहीं बन सकता, जो संपूर्ण जगत् के साथ उसी संबंध में खड़ा है जिस संबंध में फ्रांसीसी गणराज्य फ्रांस के लोगों और संस्थाओं के साथ खड़ा है। न ही उस सुख की कल्पना संभव है जो कोई सामान्य अर्थ में बल, अथवा शक्ति, अथवा यहाँ तक कि अस्तित्व अथवा मन बनकर, प्राप्त कर सकता है। यह किसी भी अर्थ में ज्ञाता अथवा भोक्ता नहीं है। ईश्वर बनना, निश्चय ही, दर्शन के निरपेक्ष को बनने का तात्पर्य नहीं रखता, अपितु चिंतक से भिन्न ज्ञाता, खोजी से भिन्न भोक्ता, एक शब्द में, परमात्मा — सत्ता और बनने के गणराज्य को नहीं, अपितु उसके सर्वज्ञ अध्यक्ष को। निश्चय ही, जब कोई कानून पढ़ने के लिए इन्स ऑफ कोर्ट में सम्मिलित होता है, तो वह कानून बनने की आकांक्षा नहीं रखता, अपितु एक वकील बनने की। कानून बनना न तो एक संभावना है न ही वह आदर्श जो दृष्टि में है।

बुद्ध का आदर्श भी संतोष देने के लिए अत्यन्त अस्पष्ट है। मोक्ष निर्वाण है, हमें बताया जाता है; किन्तु निर्वाण क्या है? इस विषय में कुछ भी निश्चित नहीं कहा गया, और हमें 'प्रबुद्ध' — जैसा बुद्ध को उनके अनुयायियों द्वारा कहा जाता है — के अनेक बिखरे हुए अवलोकनों से अपने ही निष्कर्ष निकालने के लिए छोड़ दिया गया है। 'दुःख का स्रोत जीवन है, और जीवन का स्रोत

इच्छा-शक्ति (कामना, तृष्णा) है, अतः, कामना का, अर्थात् इच्छा-शक्ति का, विनाश निर्वाण है।' यह, यदि एक योग्य अर्थ में लिया जाए, जहाँ तक जाता है, सत्य है, किन्तु यह निर्वाण की एक स्पष्ट अवधारणा बनाने में हमें समर्थ करने के लिए पर्याप्त दूर नहीं जाता। निर्वाण में जीवन का स्वभाव क्या है? — यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर देने से प्रारंभिक बौद्धों ने इनकार कर दिया। कुछ लोगों ने बुद्ध के मौन के कारण निर्वाण की कल्पना विनाश के समतुल्य के रूप में की है; और विचार का यह भ्रम 'इच्छा' शब्द के गलत प्रयोग से और भी बढ़ गया प्रतीत होता है, जो दो भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता है। प्रथम, यह इच्छा-शक्ति को द्योतित करता है, और दूसरा, कामना को। अब, कामना का विनाश इच्छा-शक्ति के विनाश का तात्पर्य नहीं रखता; क्योंकि वे दो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं, प्रकाश और छाया के समान। वस्तुतः, कामनाओं को केवल इच्छा-शक्ति के प्रयोग द्वारा ही त्यागा जा सकता है, जो इस प्रकार के प्रयोग के परिणामस्वरूप अधिकाधिक सुदृढ़ और विकसित होती जाती है। अतः, कामनाओं का विनाश जीव के विनाश के समतुल्य नहीं, अपितु वस्तुतः उसकी पूर्णता की ओर ले जाता है।

बुद्ध के निर्वाण के विचार पर अटकल लगाना व्यर्थ है, क्योंकि कोई भी अभी तक बौद्ध साहित्य में प्रयुक्त इस शब्द में ज्ञान की कोई सकारात्मक सामग्री खोज नहीं पाया है। बौद्ध धर्म के दृढ़तम समर्थक भी इसके विचार को पूर्ण विनाश के विचार के साथ जोड़े जाने से बचना कठिन पाते रहे हैं। जीने की इच्छा का विनाश — यही वह है जो डाह्ल्मान निर्वाण को अन्तर्निहित समझते हैं — पहले ही मोक्ष का एक भ्रान्त दृष्टिकोण दिखाया जा चुका है।

बुद्ध के दर्शन पर एक दृष्टि ही यह दिखाने के लिए पर्याप्त है कि उनके तंत्र में विचार का भ्रम 'सत्' से भिन्न 'बनने' कहलाने वाली वस्तु पर बहुत अधिक बल देने से उत्पन्न हुआ है। बुद्ध के अनुयायियों को निर्वाण में जीव की स्थिति के विषय में परेशान करने वाले प्रश्नों का सामना करने के लिए हर प्रकार के बहानों का सहारा लेना पड़ा। निर्वाण में जीवन के स्वभाव को स्पष्ट करने में उनके शिष्यों की अक्षमता का एक दृष्टान्त राजा प्रसेनदि और भिक्षुणी खेमा — जो अपनी प्रज्ञा के लिए विख्यात थीं — के बीच के संवाद में मिलता है। "क्या पूर्ण सत्ता [बुद्ध] मृत्यु के पश्चात् अस्तित्वमान रहती है, हे आदरणीया?" राजा ने पूछा। "उदात्त सत्ता ने, हे महान् राजा, हमें कब्र के परे किसी स्वर्ग के अस्तित्व को प्रकट नहीं किया है," खेमा ने उत्तर दिया। "तब पूर्ण सत्ता," राजा ने पुनः कहा, "मृत होने के पश्चात् अब और अस्तित्वमान नहीं है, हे आदरणीया?" इसका जो उत्तर

दिया गया वह था: "न तो, हे राजा, उदात्त सत्ता ने यह प्रकट किया है कि जो पूर्ण है वह मृत होने के पश्चात् अब अस्तित्वमान नहीं है।" "तो क्या मुझे यह विश्वास करना चाहिए," राजा ने आगे कहा, "कि पूर्ण सत्ता मृत होने पर, न तो अस्तित्वमान है न अनस्तित्वमान?" किन्तु राजा यही प्रश्न किसी पत्थर की मूर्ति से भी पूछ सकते थे, क्योंकि यह आज तक अनुत्तरित है।

हमें ऐसे मामले से नहीं निपटना है जहाँ शिष्यों की निम्न बुद्धि को उनके गुरु के सिद्धान्त की व्याख्या में त्रुटियों के लिए दोषी ठहराया जाए; स्वयं बुद्ध के पास इस बिन्दु पर कहने के लिए कुछ भी निश्चित नहीं था। एक बार एक भ्रमणशील भिक्षु ने उनसे पूछा: "यह कैसे है, गौतम? क्या कोई 'मैं' है?" बुद्ध ने कोई उत्तर नहीं दिया। भिक्षु ने आगे कहा: "यह कैसे है, गौतम? क्या कोई 'मैं' नहीं है?" किन्तु प्रबुद्ध सत्ता ने केवल मौन बनाए रखा, यहाँ तक कि, अंततः, भिक्षु अधीर होकर चला गया।

एक अन्य भिक्षु ने उनसे पूछा, "किसे स्पर्श है? किसे संवेदना है?" बुद्ध ने उत्तर दिया: "यह प्रश्न स्वीकार्य नहीं है। मैं यह नहीं कहता, 'उसे स्पर्श है।' यदि मैं यह कहता, 'उसे स्पर्श है,' तो प्रश्न, 'किसे स्पर्श है, आदरणीय महोदय?' स्वीकार्य होता। किन्तु चूँकि मैं ऐसा नहीं कहता, अतः मुझसे, जो ऐसा नहीं कहता, केवल यह पूछना स्वीकार्य है, 'स्पर्श किससे उत्पन्न होता है, आदरणीय महोदय?'"

पॉल डाल्के 'बुद्धिज़्म एण्ड साइंस' के पृष्ठ २४० पर कहते हैं, "बौद्ध धर्म वास्तविकता का सिद्धान्त है, और ज्ञानमीमांसा के दृष्टिकोण से जगत् के एक दृष्टिकोण के रूप में इसका मूल्य इस तथ्य में निहित है कि यह हमें वास्तविकता को वास्तविकता के रूप में स्वीकार करना सिखाता है। इसी विचार का यह स्वयं एक शहीद है, इस सीमा तक कि इसकी अपनी शिक्षा यहाँ आदर्श रूप से कुछ भी स्थिर और अटल नहीं है, अपितु केवल इसे अपने ही स्व में अनुभव करने के लिए एक प्रोत्साहन है; यह 'पलायन के लिए बनाया गया एक बेड़ा है; धारण के लिए नहीं बनाया गया।'"

किन्तु हमें बौद्ध धर्म को निष्पक्ष रूप से सुने जाने का अवसर देना चाहिए। आइए देखें इस विशेष बिन्दु पर इस तंत्र के प्रवर्तक अपना औचित्य कैसे प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं: "'मैं हूँ,' भिक्षुओ, एक विश्वास है। 'मैं ऐसा हूँ,' एक विश्वास है। 'मैं रहूँगा,' एक विश्वास है। 'मैं नहीं रहूँगा,' एक विश्वास है। 'मेरा एक रूप होगा,' एक विश्वास है। 'मैं रूपरहित रहूँगा,' एक विश्वास है। 'मुझे प्रत्यक्ष होगा,' एक विश्वास है। 'मैं प्रत्यक्ष से रहित रहूँगा,' एक विश्वास है। विश्वासों को

पोषित करना बीमार होना है। विश्वासों को पोषित करना दुर्बल होना है। विश्वासों को पोषित करना रुग्ण होना है। जब, तथापि, विश्वासों का समस्त पोषण जीत लिया जाता है, तब ही कोई सम्यक् चिंतक कहलाता है।"

तो, प्रज्ञा विश्वास करने से इनकार करने में निहित है! बहुत अच्छा, हम भी बुद्ध के ही प्रामाण्य पर, बुद्ध ने जो कहा उस पर विश्वास करने से इनकार करते हैं! इस प्रकार, उन पर विश्वास करके, हम बीमार, दुर्बल और रुग्ण हैं; उन पर विश्वास न करके, हम कम-से-कम बुद्धिमान हैं!

दीप की ज्वाला की वह सुन्दर उपमा, जिसका उपयोग बुद्ध ने संपूर्ण प्रकृति की अनित्यता को दर्शाने के लिए किया, आलोचना के सम्मुख कठिनाई से ही टिकेगी। जीवंत वास्तविकता, अथवा लय, जैसा हमने उसे कहा है, की तुलना पदार्थ के एक प्रकटीकरण से करना, दर्शन में शायद ही अनुमत है। एक ज्वाला स्वयं में अस्तित्व नहीं रखती और नहीं रख सकती; किन्तु आत्मा, वास्तविकता, अथवा लय, एक स्वयं-सिद्ध सिद्धान्त है, और अतः मृत्यु और क्षय से मुक्त है।

इसके अतिरिक्त, चूँकि एक मुक्त आत्मा कभी भी किसी-न-किसी प्रकार के ज्ञान अथवा विश्वास के बिना नहीं रह सकती, सारतः शुद्ध चेतना होने के कारण, अतः प्रश्न यह है: 'निर्वाण में, मुक्त आत्मा का विश्वास क्या होगा?' बौद्ध धर्म के अनुसार, यह केवल यही हो सकता है कि विश्वास करने से बचा जाए, जो, जैसा हमने पहले इंगित किया है, स्वयं ही एक असत्य विश्वास है। बुद्ध का लक्ष्य मन से चेतना और ज्ञान को मिटा देना प्रतीत होता है, यह भूलते हुए कि सर्वज्ञता ज्ञान अथवा विश्वास से रहित होने में नहीं, अपितु पूर्ण ज्ञान और सम्यक् विश्वास रखने में निहित है। मन को एक तबुला रासा (कोरी पट्टिका) तक न्यूनीकृत करने का हमारा प्रयत्न व्यर्थ है, क्योंकि जानना ही उसका स्वभाव है। अतः, जो दर्शन इस अप्राप्य लक्ष्य को प्राप्त करने की आकांक्षा रखता है, वह अपने ही स्वभाव से विफलता के लिए अभिशप्त है। इसका अनुसरण करने वाले लाखों लोगों की राय पर अटकल लगाना बिन्दु से परे है, क्योंकि केवल बहुत थोड़े ही लोग सत्य को उसकी नग्न भव्यता में जानना चाहते हैं।

पॉल डाल्के, महान् गुरु के दर्शन पर अपने कुशल ग्रन्थ, 'बुद्धिज़्म एण्ड साइंस', में, बुद्ध को यह कहते हुए प्रस्तुत करते हैं:—

> "मैं न केवल यह जानता हूँ कि मैं स्वयं में एक एकत्व के रूप में कोई सच्चा 'मैं' नहीं हूँ, अपितु मैं यह भी जानता हूँ कि मैं वस्तुतः क्या हूँ। और यह कि मैंने वास्तव में इसे समझ लिया

है — इसे मैं अपने ही व्यक्तित्व में सिद्ध करता हूँ। क्योंकि, जिस क्षण से मैंने स्वयं को अनादिकाल से वर्तमान क्षण तक अपनी ही इच्छात्मक क्रियाशीलताओं द्वारा स्वयं को बनाए रखने वाली एक प्रक्रिया के रूप में समझा, तब से मुझमें समस्त इच्छात्मक क्रियाशीलताएँ समाप्त हो गई हैं। बल का कोई नया उभार, 'मैं'-प्रक्रिया का कोई आगे का स्व-आवेशन, अब मुझमें कोई स्थान नहीं रखता। मैं जानता हूँ: यह मेरा अंतिम अस्तित्व है। जब यह टूटेगा, तो कोई कर्म शेष नहीं रहेगा जो किसी नए स्थान में, चाहे स्वर्गीय हो, चाहे सांसारिक जगतों में, पुनः पकड़ बना सके। दहन की वह अनादि प्रक्रिया समाप्त हो रही है, अपने आप एक अंत को पहुँच रही है, जैसे एक ज्वाला जिसे और तेल न मिले।"

उसी पुस्तक के पृष्ठ ९३ पर कहा गया है: "जब मैं कहता हूँ, 'वह हरा है,' तो यह कथन ज्ञान की कोई निश्चित सकारात्मक सामग्री नहीं देता; इसे कहते हुए मैं केवल यह कहता हूँ, 'वह लाल, पीला, नीला, इत्यादि नहीं है।'" यह ऐसा हो सकता है अथवा न हो, किन्तु हमें विश्वास है कि श्री डाल्के इस परिभाषा पर अड़े रहने वाले अंतिम व्यक्ति होंगे यदि किसी रेस्तराँ में जाकर वे, मान लीजिए, एक प्याला चाय का ऑर्डर दें, और वेटर केक, बिस्किट, कॉफी, इत्यादि, इत्यादि लेकर घूमने लगे, यह सोचते हुए कि अतिथि का चाय का प्याला इन सबका, और चाय के अतिरिक्त शेष सबका, केवल एक निषेध है, जिसे, तथापि, वह जानने से वंचित है, क्योंकि इसमें स्वयं में ज्ञान की कोई सकारात्मक सामग्री नहीं है। यह, हमें आशंका है, सत्य होने के लिए बहुत अच्छा है।

जीव, जैसा पहले ही इंगित किया जा चुका है, एक जीवंत लय है, जो अपने ही बल पर विद्यमान है, अतः वह वस्तुतः अविनाशी है, ठीक पदार्थ के अंतिम कणों के समान। वैज्ञानिक अनुसंधान पदार्थ के परमाणुओं को ईथर में भँवर-वलयों तक न्यूनीकृत कर देता है* जो अपनी ही लय से बने रहते हैं।

*इस बिन्दु पर सर ऑलिवर लॉज कृत 'द ईथर ऑफ स्पेस' से निम्नलिखित रुचिपूर्वक पढ़ा जा सकता है:—*

"किन्तु अब प्रश्न यह उठता है कि पदार्थ का ईथर से बना होना कैसे संभव है? एक ठोस वस्तु कठोरता, अभेद्यता, प्रत्यास्थता, और इसी प्रकार के गुणों से संपन्न होती है: इनकी नकल एक शुद्ध तरल, जैसा ईथर को होना ही चाहिए, द्वारा कैसे की जा सकती है?

"उत्तर है, इनकी नकल गति में एक तरल द्वारा की जा सकती है; एक कथन जो हम लॉर्ड केल्विन के अधिकांश कार्य के परिणामस्वरूप विश्वासपूर्वक करते हैं। इसे कुछ प्रयोगों से

दृष्टान्तित किया जा सकता है। तीलियों का एक पहिया, पारदर्शी अथवा स्थिर होने पर भेद्य, घूमने पर अपारदर्शी हो जाता है, जिससे उसकी ओर फेंकी गई एक गेंद उसके पार नहीं जाती, अपितु उछल आती है। एक चरखी से लटकती रेशम की डोरी तीव्र गति में डाले जाने पर कठोर और श्यान हो जाती है; और डोरी पर उत्पन्न स्पंद अथवा तरंगें उसकी अपनी वेग के बराबर गति से उस पर यात्रा करती हैं, चाहे वह वेग कुछ भी हो, इस प्रकार वे स्थिर खड़ी प्रतीत होती हैं। एक लचीली शृंखला, घुमाई जाने पर, गति जारी रहते हुए सिरे पर खड़ी रह सकती है। पर्याप्त गति से पानी की एक धार को हथौड़े से मारा जा सकता है, और वह तलवार से काटे जाने का प्रतिरोध करती है। कागज़ की एक घूर्णनशील तश्तरी लचीली धातु के समान प्रत्यास्थ बन जाती है, और एक वृत्तीय आरी के समान कार्य कर सकती है... एक दीर्घवृत्ताकार छिद्र से निकाला गया भँवर-वलय, एक भारतीय रबर के छल्ले के समान, स्थिर वृत्ताकार रूप के इर्द-गिर्द दोलन करता है: इस प्रकार गतिज प्रत्यास्थता का एक सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करते हुए, और हमें स्पष्ट रूप से दर्शाते हुए कि एक तरल एक ठोस के कुछ गुणों को प्रदर्शित कर सकता है।"

यहाँ तक कि मुँह से फूँके गए धुएँ के छल्लों का भी एक-दो क्षण का अस्तित्व होता है, और अपने ही प्रकार के दूसरे के संपर्क में आने पर वे अत्यन्त विचित्र व्यवहार करते हैं। वे प्रायः सिकुड़ जाते हैं, मानो स्वयं को समेट लेते हैं, और एक-दूसरे के भीतर से, संपूर्ण और अखंड, गुज़र जाते हैं। यदि गैसीय पदार्थ के कण, जो प्रणोदन के बल के अतिरिक्त किसी अधिक स्थायी वस्तु से बँधे नहीं होते, इस रीति में बने रह सकते हैं, तो इसमें क्या आश्चर्य है कि जीवन की स्वयं-सिद्ध लय, आत्मा, एक स्थायी सत्ता अथवा इकाई हो?

इस प्रकार, इसमें कोई संदेह नहीं कि निर्वाण की जैन अवधारणा, जिसमें मुक्त आत्मा परमात्मा के रूप में समस्त अनन्तकाल के लिए बनी रहती है, दर्शन का एक सत्य है। मोक्ष में मुक्त हुई सत्ता की पहचान जीवंत लय द्वारा अपने अंतिम भौतिक अवतार के रूप को बनाए रखने तथा विगत के ज्ञान द्वारा निर्धारित होती है।

सिद्धात्माओं की विशिष्ट विशेषताओं के विषय में, सम्यक् श्रद्धा, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् आचरण उनकी आत्माओं के स्थायी गुण हैं। इनमें से, उनकी श्रद्धा को संशोधित नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्रज्ञा ही उनकी स्थायित्व की गारंटी है; उनका ज्ञान शाश्वत है, क्योंकि यह केवल सत्ता की, अर्थात् उनकी शुद्ध आत्माओं की चेतना की, अवस्था है; और सम्यक् आचरण बना रहता

है क्योंकि कामनाओं का पूर्ण विनाश उसे समस्त प्रकार की न्यूनताओं, त्रुटियों और उतार-चढ़ावों से मुक्त सुनिश्चित करता है।

सिद्धात्मा के व्यक्तित्व के स्वभाव को, यह स्मरण रखा जाना चाहिए, किसी अमुक्त आत्मा के व्यक्तित्व के समान नहीं समझा जाना चाहिए। यह किसी गणनाशील, विनियोगी अहं के निजी प्रेम और घृणा, अथवा राग-द्वेष, का व्यक्तित्व नहीं है; यह सर्वज्ञता से जन्मा व्यक्तित्व है, जो उन असंख्य निकायों की, जिनमें मुक्त आत्मा ने निर्वाण-प्राप्ति से पूर्व अवतार लिया था, चेतना में निहित है, जिसमें उस अंतिम सांसारिक रूप का ज्ञान भी सम्मिलित है जिसे उसने मनुष्यों के जगत् में धारण किया था, यद्यपि उसमें उष्णता की अनुभूति सम्मिलित नहीं है।

सिद्धात्मा के स्वभाव के अन्वेषण का परिणाम हमें यह कहने का औचित्य प्रदान करता है कि, मुक्त आत्माओं, परमात्माओं, के अतिरिक्त, किसी पृथक् और भिन्न प्रकार के ईश्वर जैसी कोई वस्तु नहीं हो सकती। यह न केवल इस तथ्य से प्रतीत होता है कि जगत्-प्रक्रिया बिना किसी के हस्तक्षेप के चल सकने में सक्षम है, अपितु इस अतिरिक्त तथ्य से भी कि ऐसी एक पौराणिक सत्ता की परिकल्पना पर केवल निकृष्टतम प्रकार का भ्रम ही उत्पन्न हो सकता है। जिन कारणों ने हमें इस निष्कर्ष तक पहुँचाया है वे इस पुस्तक में अन्यत्र पहले ही प्रस्तुत किए जा चुके हैं, और उन्हें पुनः प्रस्तुत करना समय का व्यर्थ अपव्यय होगा।

हमें ऐसा प्रतीत होता है कि भिन्न-भिन्न धर्मों के बीच ईश्वर के विचार के संबंध में उत्पन्न गलतफहमी, जैसा समस्त प्रकार की गलतफहमियों के साथ सामान्यतः होता है, विचार में परिशुद्धता की कमी के कारण है। लोक (ब्रह्मांड) एक मनुष्य के धड़ के रूप में, अलोक के मध्य में, धारण किया हुआ है, जिसका सिद्धशिला शीर्ष पर, उस स्थान पर है जहाँ सिर होना चाहिए। यह सिद्धशिला, जैसा पहले ही अवलोकित किया जा चुका है, सर्वज्ञ आत्माओं का आवास है, और, उसी कारण से, ब्रह्मांड की आध्यात्मिक आँख कही जा सकती है। वहाँ निवास करने वाली मुक्त आत्माएँ, अवस्था के एकत्व तथा आत्म-द्रव्य, अर्थात् आत्मा, की उस विशेष शक्ति के कारण, जो अनन्त आत्माओं को परस्पर बहिष्करण के बिना एक ही आकाश में विद्यमान रहने में समर्थ बनाती है, एक प्रकार के परस्पर-व्याप्त अस्तित्व का भोग करती हैं। पाठक को उत्पत्ति ३:२२ का वह अंश स्मरण हो सकता है जो इस प्रकार पढ़ता है:—

"और प्रभु परमेश्वर ने कहा, देखो, मनुष्य अच्छे और बुरे को जानने में हम में से एक के समान बन गया है।" — उत्पत्ति ३:२२

यही ईश्वर का सच्चा विचार है जिससे प्राचीन पूर्णतः परिचित थे, किन्तु कालक्रम में लोग सत्य को दृष्टि से खो बैठे, और, बाद के युगों की मानवता की व्यक्तिकरण-प्रवृत्ति के अनुपालन में, ब्रह्मांड के रूप और प्रकृति के बलों को अविवेकपूर्ण रीति से व्यक्तिकृत कर बैठे, इस प्रकार एक रहस्य-प्रेमी काव्यात्मक झुकाव वाले मन की कल्पना में जन्मे देवी-देवताओं की भीड़ के कारण उत्पन्न भ्रम में, मुक्त आत्मा की देवत्व-अवस्था के सच्चे अर्थ को दृष्टि से खो बैठे। तथ्य-प्रधान मनोवृत्ति के लोगों ने, तथापि, शीघ्र ही यह अनुभव किया कि देवी-देवताओं की उस विशाल भीड़ — जिनकी संख्या अकेले हिन्दू धर्म में ३३,००,००,००० तक जा पहुँची — का परिणाम स्वर्गिक जगत् में प्रभुत्व के लिए पवित्र युद्धों के अतिरिक्त कुछ और नहीं हो सकता, और, इस अनियंत्रणीय भीड़ से क्षुब्ध होकर, उन्होंने उनमें से सर्वाधिक शक्तिशाली, जो भी वह हो, को श्रद्धांजलि अर्पित करने का चुनाव किया। इस प्रकार हमें एक ऐसा ईश्वर मिलता है जो न केवल यथार्थता के क्षेत्र में नहीं पाया जा सकता, अपितु जो जगत् में बहुत सारी उपद्रव के लिए भी उत्तरदायी है। जैसे-जैसे मनुष्यों के बीच ज्ञान और भी क्षीण होता गया, गलतफहमियाँ गरमागरम विवादों में परिपक्व होती गईं, और कलह, युद्ध, तथा कड़वी दुश्मनियाँ जगत् में प्रचुर हो गईं। वर्तमान समय में, स्थिति यहाँ तक पहुँच गई है कि सच्चे स्पष्टीकरण को बिना किसी शिष्टाचार के एक नास्तिक विधर्म के रूप में निंदित कर दिया जाता है! फिर भी, कोई भी वास्तव में उस एक की उचित परिभाषा देने का प्रयत्न नहीं करता जिसकी सब बात करते हैं। यदि उन्होंने कभी ऐसा करने का प्रयत्न किया होता, तो वे यह खोजने में असफल न रहते कि जो गुण वे अपने ईश्वर को आरोपित करते हैं वे केवल उसे अस्तित्व से बाहर ही खंडित कर सकते हैं। उदाहरणार्थ, सर्वज्ञता और आनन्द के गुण, जो देवत्व के अनिवार्य गुण हैं, किसी भी अर्थ में उन तथ्यों के साथ संगत नहीं हैं जो पवित्र बाइबिल के निम्नलिखित जैसे कथनों में समाहित हैं:—

"और यहोवा को पछतावा हुआ कि उसने पृथ्वी पर मनुष्य को बनाया था, और उसके हृदय में दुःख हुआ।" — उत्पत्ति ६:६

एक ईश्वर जो वस्तुओं और सत्ताओं की सृष्टि केवल बाद में उस पर पछताने के लिए करता है, उसे सर्वज्ञ और आनन्दमय कहलाने का कोई अधिकार नहीं। कामना-रहित होना देवत्व का एक

लक्षण अवश्य होना चाहिए, चाहे वह किसी भी रूप में प्रतिष्ठापित हो, किन्तु यह अधिकांश आधुनिक धर्मशास्त्रों द्वारा परिकल्पित ईश्वर की विशेषताओं में से एक नहीं है, यह प्रमाण की आवश्यकता के लिए बहुत ही स्पष्ट है। सच्चा ईश्वर पूर्णता का आदर्श है, सिद्धात्मा की अवस्था, जो पहले से ही प्रत्येक आत्मा के भीतर है; और यही वह आदर्श है, जो सर्वाधिक पूर्ण मात्रा में, जैन धर्म के चौबीस पूर्ण सत्ताओं — तीर्थंकरों — के जीवनों में प्रकट है, और जिसे ईसाई धर्म में चौबीस आध्यात्मिक बुज़ुर्गों के रूप में जाना जाता है, जिससे जैन अपने मंदिरों में अपनी दैनिक प्रेरणा प्राप्त करने जाते हैं। हमें यह न भूलें कि यह आदर्श के प्रति भक्ति है, न कि किसी असत्य और अनस्तित्वमान मूर्ति के प्रति उन्मादपूर्ण मोह, जो कभी आध्यात्मिक प्रगति का साधन हो सकती है। सांसारिक मामलों में भी, जो कोई किसी पेशे में उत्कृष्टता प्राप्त करना चाहता है उसे उस पेशे के किसी महान्, जीवंत नेता को अपना आदर्श बनाना चाहिए, और उसकी सर्वोच्चता को प्राप्त करने के लिए उसके पदचिह्नों पर चलना चाहिए। क्या कोई कानून का छात्र चमत्कारिक दीपक के अलादीन जैसी किसी रहस्यमय कल्पना की मूर्ति की पूजा करके एक सुविख्यात वकील बनने की आशा कभी कर सकता है? उसे उस व्यक्ति की सेवा में रहने का निश्चय करना चाहिए जो पेशे में पहले ही उत्कृष्टता तक पहुँच चुका है, उसकी पूजा करने के लिए नहीं, न ही उससे अपनी महानता का एक टुकड़ा अपनी ओर फेंकने की भीख माँगने के लिए, अपितु उसे उस आदर्श के रूप में मन में रखने के लिए जिसे प्राप्त करना है, और उस पथ पर उसका अनुसरण करने के लिए जो उसकी साकारता की ओर ले जाता है। तभी भक्ति से कल्याण उत्पन्न हो सकता है। यह समय आ गया है कि मानवजाति पूजा के सच्चे अर्थ को समझे: यह किसी व्यक्ति के प्रति भक्ति नहीं, अपितु उस आदर्श के प्रति है जो धर्म द्वारा विहित है। दिव्य अवस्था का वह महान् आदर्श, जिसे साकार करने के लिए मूर्तिवत् पूजनीय बनाया जाना चाहिए, भक्त के ईश्वर का मूल है; और यह समय का अपव्यय है कि किन्हीं अन्य देवी-देवताओं के सम्मुख झुका जाए, जो, एक अंधी गली के समान, कहीं नहीं ले जाते, अपितु अपने भक्तों को अपने साथ उसी स्थान में उलझाए रखते हैं — अंधकार और असत्य के क्षेत्र में।

हम यह भी अवलोकित कर सकते हैं कि, चूँकि जगत्-प्रक्रिया शाश्वत है, अर्थात् काल में आरंभ-रहित है, अतः कभी ऐसा कोई समय नहीं था जब पूर्णता की अवस्था को स्थगित कहा जा सके। अतः, पूर्ण आत्माएँ सदैव सिद्धशिला में विद्यमान रही हैं, और भविष्य में भी सदैव वहाँ

विद्यमान रहेंगी। सामान्यतः, तथापि, पूजा के प्रयोजनों के लिए केवल वर्तमान काल-चक्र के चौबीस तीर्थंकरों को ही श्रद्धांजलि अर्पित करना आवश्यक है।

अब हमें अजीव के स्वभाव की जाँच की ओर बढ़ना चाहिए, जो जैन सिद्धान्त में द्रव्य के दो मुख्य विभागों में से दूसरा है। इस वर्ग में आकाश, काल, दो प्रकार के ईथर और पदार्थ सम्मिलित हैं, और इसे अजीव (अ = नहीं + जीव = आत्मा) कहा जाता है ताकि इसे जीव, चेतन द्रव्य, अर्थात् आत्मा, से भेद किया जा सके। हम पाँच अजीव द्रव्यों को एक-एक करके लेंगे ताकि उनके स्वभाव का निर्धारण कर सकें।

आकाश से आरंभ करते हुए, आकाश के उद्गम का बर्गसन का विवरण इतना अत्यन्त रोचक और शिक्षाप्रद है कि हम उनकी 'क्रिएटिव एवोल्यूशन' से निम्नलिखित संक्षिप्त अंश दिए बिना नहीं रह सकते:—

> "जब कोई कवि मुझे अपनी कविताएँ पढ़कर सुनाता है, तो मैं उसमें इतनी रुचि ले सकता हूँ कि उसके विचार में प्रवेश कर सकूँ, स्वयं को उसकी भावनाओं में रख सकूँ, उस सरल अवस्था को पुनः जी सकूँ जिसे उसने वाक्यों और शब्दों में तोड़ दिया है। तब मैं उसकी प्रेरणा के साथ सहानुभूति रखता हूँ, मैं इसका अनुसरण एक निरन्तर गति के साथ करता हूँ जो, स्वयं प्रेरणा के समान, एक अखंड कृत्य है। अब, मुझे केवल अपने ध्यान को शिथिल करना है, अपने भीतर के उस तनाव को छोड़ना है, ताकि वे ध्वनियाँ, जो अब तक अर्थ में समाहित थीं, मुझे भिन्न-भिन्न रूप से, एक-एक करके, अपनी द्रव्यता में प्रकट हों। इसके लिए मुझे कुछ करना नहीं है; कुछ हटा लेना ही पर्याप्त है। जितना-जितना मैं स्वयं को जाने देता हूँ, उतना-उतना क्रमिक ध्वनियाँ अधिकाधिक व्यष्टिकृत होती जाएँगी; जैसे वाक्य शब्दों में टूटे थे, वैसे ही शब्द अक्षरों में विभाजित होंगे जिन्हें मैं एक के बाद एक प्रत्यक्ष करूँगा। मुझे स्वप्न की दिशा में और भी आगे जाने दीजिए: स्वयं अक्षर ढीले हो जाएँगे और किसी काल्पनिक कागज़ की चादर पर हाथ-में-हाथ नाचते हुए दिखाई देंगे। तब मैं गुंथन की परिशुद्धता, जुलूस की विस्मयकारी व्यवस्था, अक्षरों के अक्षरों में, अक्षरों के शब्दों में, और शब्दों के वाक्यों में यथार्थ सन्निवेशन की प्रशंसा करूँगा। जितना-जितना मैं शिथिलता की इस सर्वथा नकारात्मक दिशा का अनुसरण करता हूँ, उतना-उतना अधिक विस्तार और जटिलता मैं उत्पन्न करूँगा; और जितनी-जितनी जटिलता अपनी बारी में बढ़ती है, उतनी ही अधिक विस्मयकारी वह व्यवस्था प्रतीत होगी जो तत्त्वों के बीच अबाधित बनी रहती है। फिर भी यह जटिलता और विस्तार कुछ भी सकारात्मक नहीं दर्शाते; वे इच्छा-शक्ति की एक न्यूनता को अभिव्यक्त करते हैं। और,

दूसरी ओर, व्यवस्था को जटिलता के साथ-साथ बढ़ना ही चाहिए, क्योंकि यह उसका एक पहलू ही है। हम एक अविभाज्य समग्र में जितना अधिक प्रतीकात्मक रूप से अंशों को प्रत्यक्ष करते हैं, अंशों के बीच के संबंधों की संख्या उतनी ही अधिक अनिवार्यतः बढ़ती है, क्योंकि वास्तविक समग्र की वही अखंडता प्रतीकात्मक तत्त्वों की बढ़ती बहुविधता के ऊपर मंडराती रहती है जिसमें ध्यान के विकिरण ने उसे विघटित कर दिया है। इस प्रकार की एक तुलना हमें कुछ हद तक यह समझने में समर्थ बनाएगी कि किस प्रकार यथार्थता के धनात्मक की वही पृथक्करण, किसी मूल गति का वही प्रतिलोमन, आकाश में विस्तार और उस विस्मयकारी व्यवस्था को, जो गणित वहाँ पाता है, एक साथ उत्पन्न कर सकता है। इन दोनों मामलों के बीच निस्संदेह यह भेद है कि शब्द और अक्षर मानवता के एक धनात्मक प्रयत्न द्वारा आविष्कृत किए गए हैं, जबकि आकाश स्वतः उत्पन्न होता है, जैसे संख्याएँ प्रतिष्ठापित होते ही एक व्यवकलन का शेषफल उत्पन्न होता है। किन्तु, एक मामले में जैसे दूसरे में, अंशों की अनन्त जटिलता और उनके बीच उनका पूर्ण समन्वय एक ही समय में एक प्रतिलोमन द्वारा उत्पन्न किए जाते हैं जो, मूल में, एक व्यवधान है, अर्थात्, धनात्मक यथार्थता की एक न्यूनता है।"

पुनः, उद्धृत ग्रन्थ के पृष्ठ २१८ पर कहा गया है:—

"जहाँ तक आकाश का संबंध है, हमें एक विशेष प्रकार के मानसिक प्रयत्न द्वारा, अ-स्थानिक की उस प्रगति, अथवा अधिक ठीक-ठीक कहें तो प्रतिगति, का अनुसरण करना होगा जो स्वयं को स्थानिकता में अवनत करती है। जब हम स्वयं को उच्चतम संभव मात्रा में स्व-सचेत बनाते हैं और फिर स्वयं को धीरे-धीरे वापस गिरने देते हैं, तो हमें विस्तार की अनुभूति होती है: हमें स्व का एक विस्तार उन स्मृतियों में प्राप्त होता है जो स्थिर और एक-दूसरे से बाह्य हैं, उस तनाव के स्थान पर जो उसने एक अविभाज्य सक्रिय इच्छा-शक्ति के रूप में रखा था। किन्तु यह केवल एक आरंभ है। हमारी चेतना, गति को रेखांकित करते हुए, हमें उसकी दिशा दिखाती है और हमें अंत तक उसे जारी रखने की संभावना प्रकट करती है; किन्तु चेतना स्वयं इतनी दूर नहीं जाती। अब, दूसरी ओर, यदि हम पदार्थ पर विचार करें, जो हमें पहली दृष्टि में आकाश के साथ संपाती प्रतीत होता है, तो हम पाते हैं कि जितना अधिक हमारा ध्यान उस पर केन्द्रित होता है, उतना ही अधिक वे अंश, जिन्हें हमने पास-पास रखा हुआ कहा था, एक-दूसरे में प्रवेश करते हैं, प्रत्येक समग्र की क्रिया के अधीन होते हुए, जो फलतः किसी न किसी रीति से उसमें उपस्थित है। इस प्रकार, यद्यपि पदार्थ स्वयं को आकाश की दिशा में विस्तृत करता है, वह उसे पूर्णतः प्राप्त नहीं करता; जहाँ से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं

कि वह उस गति को, जिसे चेतना अपनी उद्भवशील अवस्था में हमारे भीतर रेखांकित कर सकती है, बहुत आगे तक ले जाता है।"

यह सब अत्यन्त सुस्पष्ट और रोचक है; किन्तु हमें अपने ध्यान से यह बच निकलने नहीं देना चाहिए कि भौतिक विस्तार तथा मानसिक प्रतिगति और अग्रगति एक ही वस्तु के पक्ष नहीं, अपितु भिन्न-भिन्न वस्तुओं के हैं। कवि के विचार में प्रवेश करने की सरल अवस्था का तात्पर्य विस्तार के क्षेत्र से स्वयं कवि का लोप हो जाना नहीं है। जब तक हम कवि को उसकी कविता के साथ, तनाव की अवस्था में, समेट नहीं लेते, तब तक यह दिखाने का प्रयत्न व्यर्थ है कि वह भी प्रतिगति की गति में स्वयं को फैलाता है। विस्तार और संकुचन, इस प्रकार, जीवीय चेतना के दो पक्ष हैं, किन्तु प्रकृति की अन्य वस्तुओं के नहीं। और, चूँकि, जीवित प्राणियों की चेतना की अवस्थाओं से परे, उन अवस्थाओं के बाहर की वास्तविक वस्तुएँ जहाँ की तहाँ बनी रहती हैं, अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि विस्तार और संकुचन दोनों ही एक ही समय में अस्तित्वमान हैं। बर्गसन की त्रुटि, ऐसा प्रतीत होता है, उसी प्रकार उत्पन्न हुई है जैसे एकत्ववाद की अन्य अनेक त्रुटियाँ, विचार की एक एकत्ववादी आकांक्षा से, जिसका शिकार, जैसा हम इन पृष्ठों में पहले ही देख चुके हैं, पूर्व और पश्चिम दोनों में अनेक दार्शनिक बने हैं। इस प्रकार, यह कथन कि आकाश पहले से ही मन द्वारा अपने ही डी-टेंशन में एक अन्तर्निहित विचार के रूप में धारण किया हुआ है, अर्थात् उसके अपने मानसिक संचालनों के संभव विस्तार के रूप में, केवल कुछ सीमा तक ही सत्य है।

यहाँ तक कि जीवन के संभव विस्तार का क्षेत्र भी एक स्थायी माना जाना चाहिए, क्योंकि यह प्रतिपादित करने का कोई आधार नहीं कि यह प्रतिगति की गति के साथ-साथ ही सृजित होता है। यदि जीवन उक्त गति के आरंभ से पूर्व अस्तित्व रखता है, तो उसे आकाश में अस्तित्व रखना ही चाहिए, जिसे एक अनन्त रूप से विस्तृत द्रव्य के रूप में कल्पित किया जाना चाहिए, जो कहीं भी कोई रिक्तता शेष न छोड़े, अन्यथा हमें रिक्तता को भी आकाश के रूप में स्वयं में अस्तित्वमान मानना पड़ेगा, जो बेतुका होगा। आकाश, अतः, किसी भी अर्थ में, जीवन की प्रतिगति की गति के परिणाम के रूप में नहीं माना जा सकता। आइए हम अपने बिन्दु पर एक दृष्टान्त द्वारा बल दें। जब कोई संगीतकार, कान से, किसी वाद्य-यन्त्र पर, एक धुन उत्पन्न करता है, तो उसकी उँगलियाँ स्वचालित रूप से कुंजियों पर दौड़ती हैं, उसके मन को संगीत का आनन्द लेने के लिए स्वतंत्र छोड़ते हुए। किन्तु जिस क्षण एक भूल भरा स्वर बजाया जाता है, उसका ध्यान अपनी 'अचेतन'

मुद्रा से जागृत हो जाता है, और चूक के स्वभाव और कारण को खोजने में संलग्न हो जाता है। वह तब कल्पना में स्वरों को पास-पास फैला देता है, और उसे चुन लेता है जो अपने स्थान से बाहर था। यह वह वस्तु है जो सबको ज्ञात है, किन्तु जो ज्ञात नहीं वह उस प्रक्रिया का स्वभाव है जो स्वयं मन के भीतर घटित होती है। वह तल्लीन ध्यान, जिसके साथ हमारा संगीतकार धुन का निष्पादन और आनन्द ले रहा था, वही मुद्रा नहीं थी जो स्वरों और विरामों को, एक-दूसरे के पास-पास रखे हुए, लिखित स्क्रॉल में देखती है। उस समय संगीतकार के लिए न कोई स्वर था न कोई विराम; और उसका संपूर्ण मन, मानो, स्वयं धुन में ही समेटा हुआ था। यह एक उच्चतर लय थी जिस पर आत्मा ताल दे रही थी, और जिसमें संपूर्ण धुन मन के सम्मुख एक ही संवेदना अथवा अनुभूति के रूप में उपस्थित थी। उस मुद्रा में आत्मा धुन को उसकी संरचना जानने के बजाय उसे जीती थी। प्रत्येक स्वर तब समग्र के एक अंश के रूप में अनुभव किया जाता था, और जो पहले हो चुका था तथा जो...जो अनुसरण करने वाला था, वह सब एक ही क्षण में समग्र की ओर संकेत करता था। वह विवेचनात्मक चेतना, जो धुन को पृथक् स्वरों और विरामों में काट देती है, अपने सिंहासन को खाली कर चुकी थी और, मानो, जीवन की उच्चतर लय की तीव्रता में समेटी हुई पड़ी थी। जब वह दुर्घटना घटित हुई, तो आत्मा की लय धुन की लय के साथ सामंजस्य से बाहर हो गई, और इच्छा-शक्ति, अप्रत्याशित के प्रकट होने से क्षुब्ध होकर, विसंगति के स्वभाव और कारण को खोजने के लिए विवेचनात्मक बुद्धि के तल पर उतर आई। निम्नतर तल पर इच्छा-शक्ति के इस अवतरण ने धुन की लय को शिथिल कर दिया और उसे मन में पृथक् और असंबद्ध स्वरों तथा विरामों के रूप में फैला दिया। इस प्रकार, समग्र रूप में धुन की अनुभूति उन स्वरों के ज्ञान से प्रतिस्थापित हो गई जिनसे वह बनी थी; और इसी ज्ञान का, विवेचन की एक तालिका के रूप में, उपयोग करते हुए ही मन उस स्वर को चिह्नित करने में समर्थ हुआ जो भूल से बजाया गया था।

यहाँ तक हम बर्गसन के साथ सहमत हैं, किन्तु जब वे आगे बढ़कर यह दिखाने का प्रयत्न करते हैं कि संगीतकार, वाद्य-यन्त्र, दर्शक, और आकाश भी प्रतिगति की गति द्वारा ही सृजित हैं, तो उनके साथ चलना असंभव हो जाता है। सत्य यह है कि इच्छा-शक्ति विस्तार और तनाव की शक्ति रखती है, किन्तु यह शक्ति केवल उसकी अपनी चेतना की सामग्री के प्रति उसकी जागरूकता को ही प्रभावित करती है। जगत् में बाहर की वस्तुएँ इच्छा-शक्ति में लय के परिवर्तन से प्रभावित नहीं होतीं, और जहाँ की तहाँ बनी रहती हैं। निकाय और यौगिक, निस्संदेह,

समय-समय पर नष्ट हो सकते हैं, और होते भी हैं; किन्तु मन यह विश्वास करने से इनकार करता है कि आकाश, पदार्थ, ईथर, इत्यादि, कभी भी अस्तित्व से सर्वथा लुप्त हो सकते हैं, यद्यपि कुछ प्रकार की अनुभूतियों की तीव्रता के कारण उनकी चेतना शून्य-बिन्दु तक न्यूनीकृत हो सकती है।

आकाश की यथार्थता इस तथ्य से भी समर्थित होती है कि वस्तुओं तक पहुँचने के लिए उस दूरी को पार करना आवश्यक है जो उन्हें हमसे पृथक् करती है। इसके अतिरिक्त, आकाश को हटा देने का परिणाम या तो समस्त वस्तुओं को 'कहीं नहीं' में डाल देना ही हो सकता है, अथवा प्रत्येक व्यष्टि परमाणु को अपने ही प्रकार के शेष सबसे पूर्ण पृथक्करण में डालकर उसे एक शाश्वत, एकाकी कारावास के लिए अभिशप्त करना। किन्तु एक विकल्प उतना ही अकल्पनीय है जितना दूसरा, क्योंकि 'कहीं नहीं' उतनी ही बड़ी बेतुकी बात है जितनी निरपेक्ष रिक्तता, और पृथक्करण केवल आकाश में ही संभव है, आकाश-रहितता में कभी नहीं। जैसा डायसन कहते हैं, कहीं भी न होना, अथवा एक ही समय में दो भिन्न-भिन्न स्थानों में होना, असंभव है।

आकाश एक यथार्थता है, न कि एक निरपेक्ष शून्यता, यह इस तथ्य से भी स्पष्ट है कि निरपेक्ष रिक्तता, अथवा शून्यता, का हमारा विचार, मूल में, केवल वही है जिसे बर्गसन एक स्व-विनाशकारी विचार कहते हैं (क्रिएटिव एवोल्यूशन, पृ. २९६-२९९)। तथ्य यह है कि निरपेक्ष शून्यता प्रकृति में एक असंभावना है, और मन के लिए सर्वथा अकल्पनीय है, शून्यता की सच्ची अवधारणा, अथवा वह जो वह वास्तव में और तार्किक रूप से अन्तर्निहित करती है, केवल 'स्थान' के विचार पर ही आधारित है, चाहे अप्रशिक्षित मन इन दोनों पदों से कितना ही भ्रमित क्यों न हो जाए। समस्त इन्द्रिय-गोचर वस्तुओं से रहित एक कमरे अथवा स्थान के प्रत्यक्ष से उत्पन्न रिक्तता के विचार से आरंभ करते हुए, सामान्य व्यक्ति शून्यता की अपनी अवधारणा का विस्तार तब तक करता है जब तक सान्तता की सीमाएँ अनन्त की असीमता में विलीन नहीं हो जातीं। वह अब स्वयं को यह मानता है कि उसने शुद्ध शून्य का एक सर्वथा यथार्थ प्रतिबिंब अर्जित कर लिया है, और उसे आकाश के स्थान पर प्रतिष्ठापित करने पर अड़ता है। किन्तु यह स्पष्ट है कि जो उसने हाथ में लिया है वह निरपेक्ष शून्य नहीं, अपितु कुछ भी न रखने वाले एक अनन्त विस्तार की शुद्ध अवधारणा है, जो एक सर्वथा भिन्न वस्तु है; क्योंकि शुद्ध विस्तार किसी द्रव्य के अभाव में, जिसमें वह अन्तर्निहित हो सके, चिंतनीय नहीं है, अतः, मूल में, हमारे मित्र की रिक्तता की अवधारणा वास्तव में और सच्चाई से हमारे आकाश के विचार का ही प्रतिनिधित्व करती है। इसके अतिरिक्त,

यदि हम आकाश को द्रव्यता से वंचित कर उसे निरपेक्ष शून्यता से प्रतिस्थापित करें, तो उत्तरार्ध की अवधारणा को असीमित विस्तार को अन्तर्निहित करना ही होगा, क्योंकि स्थानिकता का हमारा विचार केवल एक असीम विस्तार का ही है। किन्तु ऐसी एक अवधारणा उतनी ही स्व-विनाशकारी होगी जितनी एक वर्गाकार वृत्त, अथवा एक वृत्ताकार वर्ग, का विचार, क्योंकि तब यह उस वस्तु में, जिसका स्वयं कोई अस्तित्व नहीं है, अनन्त विस्तार के गुण की उपस्थिति को अन्तर्निहित करेगी। दूसरी ओर, यदि एक अनन्त शून्य न होकर बड़ी संख्या में सान्त शून्य हों, तो प्रत्येक के आकार के विषय में प्रश्न उठेगा; क्योंकि यदि उनके आयाम ज्यामिति के बिन्दु से बड़े न हों, तो ऐसे बिन्दुओं की सहायता से एक अनन्त रूप से विस्तृत आकाश अथवा 'स्थान' की हमारी अवधारणा का निर्माण असंभव होगा। किन्तु यदि यह कहा जाए कि शून्यता की प्रत्येक इकाई अथवा परमाणु वास्तविक आयामों से संपन्न है, यद्यपि एक सान्त प्रकार के, तो पुरानी कठिनाई अधिक बल के साथ पुनः प्रकट होती है, क्योंकि जिसका कोई अस्तित्व नहीं वह एक सान्त आकार का उतना ही अक्षम है जितना एक अनन्त आकार का। शून्यताओं की एक बहुसंख्या की परिकल्पना पर एक और कठिनाई उत्पन्न होती है, क्योंकि 'अयथार्थों' की एक बहुसंख्या केवल अस्वस्थ बुद्धियों के लिए ही एक संभव अवधारणा है।

आकाश की अनन्तता इस तथ्य से स्पष्ट है कि हम इसे सान्त के रूप में कल्पित नहीं कर सकते। यदि यह एक सान्त द्रव्य होता, तो यह किसी अन्य वस्तु द्वारा सीमित होता, और इसका एक 'परे' होता जो या तो आकाश का ही एक और खंड होना चाहिए अथवा शुद्ध शून्यता। किन्तु उत्तरार्ध नहीं, पहले ही दिए गए कारणों से। तब यह पूर्व ही होगा। किन्तु दो सान्त आकाशों को स्वयं अपने रिक्त स्थानों को भरने के लिए एक अन्तर-आकाश की आवश्यकता होगी। हमें तब यह जाँचना होगा कि यह अन्तर-आकाश अनन्त है अथवा नहीं, और, यदि यह सान्त सिद्ध हो, तो एक दूसरे अन्तर-आकाश को प्रतिष्ठापित करना, और इसी तरह अनन्त तक। किन्तु यह बेतुका है, क्योंकि एक अनन्त आकाश ही समस्त वस्तुओं के लिए स्थान खोजने के प्रयोजन के लिए पर्याप्त है। आकाश, तब, एक ऐसा द्रव्य है जो अनन्त और अ-परमाण्विक, अर्थात् भागरहित, है। इसका कार्य समस्त वस्तुओं के लिए स्थान खोजना है, यद्यपि 'स्थान' के स्वभाव का होने के कारण, इसे स्वयं इसकी आवश्यकता नहीं।

आकाश का एक यथार्थता के रूप में गिने जाने का दावा उसके भागरहित, अ-परमाण्विक स्वभाव पर आधारित है, जो इसे सदैव एक ही अवस्था में संरक्षित रखता है। एक परिणाम न होने के कारण, अपितु स्वयं में केवल एक सरल द्रव्य होने के कारण, इसकी कल्पना अन्य द्रव्यों से उत्पन्न हुआ नहीं की जा सकती; और, इस रूप में, इसे एक अंतिम यथार्थता, अर्थात् स्वयं-वस्तु, होना चाहिए।

संस्कृत में आकाश कहलाने वाली आकाश की अनन्तता को जैन सिद्धान्त दो भागों में विभाजित करता है, अर्थात्, लोकाकाश (लोक + आकाश), वह आकाश जो ब्रह्मांड द्वारा अधिकृत है, और अलोकाकाश (अ, नहीं, और लोकाकाश), ब्रह्मांड से परे का भाग। लोकाकाश वह भाग है जिसमें शेष पाँच द्रव्य, अर्थात् जीव, पदार्थ, काल, धर्म और अधर्म, पाए जाते हैं; किन्तु अलोकाकाश शुद्ध आकाश का वह क्षेत्र है जिसमें कोई अन्य द्रव्य नहीं और जो तीन लोकों (संपूर्ण ब्रह्मांड) की सीमाओं से परे सभी दिशाओं में फैला हुआ है, जैसा पूर्व पृष्ठ ७१६ के मानचित्र में दर्शाया गया है।

आकाश, इस प्रकार, एक स्वयं-सिद्ध सत्ता है; यह किसी प्रतिगति अथवा अग्रगति की प्रक्रिया द्वारा न तो सृजित किया जा सकता है न ही नष्ट। अपने विस्तार की अनन्तता में, यह पदार्थ और रूप के ब्रह्मांड को, तथा उसके परे स्थित को भी, समाहित करता है। यह इस प्रकार लोक और अलोक दोनों को समाहित करता है, और असृजित तथा शाश्वत है, अतः, एक स्वयं-सिद्ध यथार्थता, क्योंकि इसे सृजित करने के लिए न कोई सत्ता है, न इसकी सृष्टि का कोई संभव स्रोत। 'आकाशातीतता' का विचार शब्दों में एक विरोधाभास है, क्योंकि जो अस्तित्वमान है उसे किसी-न-किसी रूप में आकाश को अधिकृत करना ही होगा।

अगला द्रव्य जिस पर हमारा ध्यान जाना चाहिए वह काल है, वह निरन्तरता का सूत्र जिस पर अनुक्रम के क्रमिक क्षण गुँथे हुए हैं। काल एक यथार्थता है, यह इस तथ्य से स्पष्ट है कि न तो द्रव्यों और वस्तुओं की निरन्तरता, न ही घटनाओं का अनुक्रम, उसके बिना कल्पित किया जा सकता है।

काल के विचार में अन्तर्निहित प्राथमिक अवधारणा निरन्तरता की है, क्योंकि काल में निरन्तर रहने की शक्ति समस्त द्रव्यों द्वारा भोगी जाती है, और, एक सीमित मात्रा तक, समस्त निकायों और रूपों द्वारा भी। निरन्तरता स्वयं असंबद्ध घटनाओं, परिवर्तनों, अथवा क्षणों की एक श्रृंखला का

योग नहीं है, अपितु बने रहने की एक प्रक्रिया है, अर्थात्, भूत से सदैव-नवीकृत वर्तमान में एक धारणीयता — व्यष्टित्व का क्षण-दर-क्षण एक अस्तित्व-बचाव, अथवा वहन। यदि हम अपनी स्व-निरन्तरता की अनुभूति का विश्लेषण करें, तो हम अवलोकित करेंगे कि हमारी चेतना स्वयं को काल में बने रहते हुए अनुभव करती है, अर्थात्, वह स्वयं को निरन्तर भूत को उत्तीर्ण करते हुए, और वर्तमान में, संपूर्ण और अखंड, उभरते हुए जानती है, साथ ही क्षण-दर-क्षण एक प्रकार की यात्रा संपन्न करने की जागरूकता के साथ। की गई प्रगति की यह चेतना आकाश में की गई किसी यात्रा की चेतना नहीं है, अपितु एक सर्वथा भिन्न रीति में की गई यात्रा की है। यह एक ऐसी यात्रा है जो यात्री को आकाश में ठीक उसी स्थान पर छोड़ती है जहाँ वह पहले था, किन्तु अवधि में उसकी प्रगति को अन्तर्निहित करती है। अब, चूँकि हमें यात्रा, अथवा परिवर्तन, की चेतना केवल तभी हो सकती है जब किसी प्रकार की गति वास्तव में निष्पादित हो रही हो, अतः काल में चेतना की प्रगति किसी-न-किसी रीति में एक वास्तविक यात्रा होनी ही चाहिए। विश्लेषण यह तथ्य प्रकट करता है कि निरन्तरता की गति एक स्थान से दूसरे स्थान को स्थानांतरण की प्रक्रिया नहीं है, अपितु एक प्रकार का अपने ऊपर घूर्णन है, जिससे प्रत्येक घूर्णन हमें एक नया 'अब' प्रदान करता है, साथ ही, उसी समय, हमें अन्य समस्त संदर्भों में वहीं छोड़ देता है जहाँ हम पहले थे। आत्म-निरीक्षण इस निष्कर्ष की पूर्ण पुष्टि करता है, क्योंकि, जबकि निरन्तरता की चेतना भूत से वर्तमान की ओर एक निरन्तर गति को अन्तर्निहित करती है, यह न तो आकाश में स्थानगमन का विचार अन्तर्निहित करती है, न ही तादात्म्य के परिवर्तन की धारणा। काल की चेतना, तब, किसी प्रकार के आंतरिक घूर्णन की गति की चेतना है। जो कोई भी अपनी आंतरिक सत्ता में स्वयं को समेट लेता है, और निरन्तरता की जागरूकता पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है, वह स्वयं को उसी व्यष्टि के रूप में प्रत्येक 'अब' में उभरता हुआ अनुभव करेगा, और यह भी जानेगा कि वर्तमान क्षण उस स्व-जागरूकता की अनुभूति में निहित है जो जीवन को इन्द्रिय-अंगों से स्वतंत्र होकर अपने ही अस्तित्व की है। प्रगति की यह अनुभूति ठीक-ठीक वही है जिससे काल की हमारी चेतना उत्पन्न होती है, और जो इस प्रगति को संपन्न होने में समर्थ बनाता है वह काल का द्रव्य है।

काल, इस प्रकार, वह द्रव्य है जो वस्तुओं को प्रकृति में निरन्तर बने रहने में समर्थ बनाता है। जैन, अतः, काल को एक ऐसे द्रव्य के रूप में परिभाषित करते हैं जो अन्य द्रव्यों की उनकी निरन्तरता में सहायता करता है। जैसे कुम्हार के चाक की केन्द्रीय लौह-कील उसके घूर्णन के लिए

आवश्यक है, वैसे ही काल, अर्थात् काल का द्रव्य, प्रकृति में द्रव्यों के 'घूर्णन' के लिए आवश्यक है। ये घूर्णन, तथापि, तत्त्वों और वस्तुओं का एक वास्तविक चक्करदार घूमना नहीं समझे जाने चाहिए, क्योंकि हमारी चेतना किसी ऐसी भौतिक गति की साक्षी नहीं देती; वे द्रव्यों के गुणों से संबंधित हैं, और कुछ सीमा तक श्वसन की प्रक्रिया से मिलते-जुलते हैं, यदि हम सरल द्रव्यों के संबंध में ऐसे रूपक का प्रयोग कर सकें।

'कालिक' गतिचक्रण में अन्तर्निहित गति के स्वभाव पर और भी अधिक प्रकाश 'वर्तमान' की चेतना की परिघटना के अध्ययन से पड़ता है, जिससे समस्त जीवधारी परिचित हैं। चिंतन इस तथ्य को प्रकट करता है कि वर्तमान क्षण की हमारी जागरूकता सत्ता की एक निश्चित प्रकार की तीव्रता, अथवा लय, की अनुभूति है, जो हमारे उसे रोकने के प्रयत्न के साथ ही धूमिल हो जाती है, किन्तु केवल अवधि के अगले 'अब' के रूप में तुरन्त पुनः प्रकट होने के लिए। एक क्षण में ध्यान अथवा तीव्रता का प्रसार होता है, और अगले में उसका संचयन अथवा पुनर्भरण। जीवन, मानो, प्रत्येक क्षण अवधि पर विजय पाने के लिए झुकता है, और प्रत्येक बार अपनी विजय के प्रति सचेत होकर उठता है। काल में प्रगति की जागरूकता, तब, जीवन की एक प्रत्यावर्ती, फिर भी निरन्तर, लय की जागरूकता है — तीव्र, कम तीव्र, अर्थात् लुप्त होती, और पुनः तीव्र। अब, यदि हम इस तथ्य को ध्यान में रखें कि जीवन स्वयं एक प्रकार की लय है, तो हमें कहना होगा कि इसकी प्रत्यावर्ती तीव्रताएँ केवल इसकी अपनी गुणात्मक गतियाँ हैं, जिनके क्रम में यह काल में अपने भावी गतिचक्रणों के लिए निरन्तर नवीन बल संचित करता रहता है।

अन्य वस्तुओं को अपने 'कालिक' गतिचक्रणों के निष्पादन में सहायता देने वाले एक द्रव्य के रूप में, काल की कल्पना केवल घूर्णन-खंभों के रूप में की जा सकती है। यह कि इन घूर्णन-खंभों को, जैसा हमने काल की इकाइयों को कहा है, किसी भी रीति में उन द्रव्यों के अंश नहीं समझा जा सकता जो उनके इर्द-गिर्द घूमते हैं, यह इस तथ्य से स्पष्ट है कि वे शेष समस्त द्रव्यों — आत्माओं और पदार्थ के परमाणुओं, जो अंतिम इकाइयाँ हैं, सहित — की निरन्तरता के लिए आवश्यक हैं, और उनकी कल्पना यह नहीं की जा सकती कि प्रत्येक अपने घूमने के लिए एक-एक कील ढो रहा हो। काल, अतः, एक पृथक् द्रव्य के रूप में कल्पित किया जाना चाहिए जो अन्य द्रव्यों और वस्तुओं को उनकी निरन्तरता की गतियों में 'सहायता' देता है।

जो लोग काल को एक पृथक् द्रव्य नहीं मानते, उन्हें यह ध्यान में रखना चाहिए कि शुद्ध अस्तित्व और सत्ता की निरन्तरता के बीच एक वास्तविक भेद अन्तर्निहित है, और यह कि, यद्यपि वस्तुएँ केवल अपने ही आंतरिक वेग के कारण घूमती हैं, तथापि उन्हें अपने 'कालिक' गतिचक्रणों में सहायता के लिए किसी-न-किसी प्रकार के खंभे की आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त, चूँकि आत्माएँ और पदार्थ के कण दोनों ही अविभाज्य इकाइयाँ हैं जिनकी 'कालिक' प्रक्रिया, अथवा धारणीयता, आकाश में उसी स्थान पर, गुणात्मक अर्थ में, अपने ऊपर घूमने से बनी रहती है, अतः यह अत्यन्त स्पष्ट रूप से इससे निष्कर्ष निकलता है कि घूर्णन-खंभों की अनुपस्थिति उन्हें तुरन्त काल में उनकी निरन्तरता से वंचित कर देगी और उन्हें उन भँवरों के समान लुप्त और विलीन कर देगी जो घूमना बंद करते ही अस्तित्व में रहना बंद कर देते हैं।* अब, चूँकि वस्तुएँ लोकाकाश के समस्त भागों में निरन्तर रहती हैं, अतः यह आगे निष्कर्ष निकलता है कि काल को उस क्षेत्र के आकाश के प्रत्येक कल्पनीय बिन्दु पर उपस्थित होना ही चाहिए। काल को, तब, असंख्य बिन्दुओं अथवा कीलों से बना एक द्रव्य कहा जा सकता है, जिनमें से प्रत्येक लोकाकाश कहलाने वाले आकाश के क्षेत्र के केवल एक बिन्दु को अधिकृत करता है। इस रूप में, इसके कणों की कल्पना एक-दूसरे के साथ, अथवा अन्य द्रव्यों के साथ, यौगिक बनाते हुए नहीं की जा सकती। इसी कारण इसे अनस्तिकाय कहा जाता है, अर्थात्, यह किसी एकाकी प्रदेश (आकाश में सूक्ष्मतम कण अथवा परमाणु के आकार का एक काल्पनिक बिन्दु) से आगे विस्तृत नहीं होता।

> *प्रश्न, 'काल स्वयं किस पर घूमता है?' उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि उसके कण स्वयं पर ही घूमते हैं। यदि काल अपनी निरन्तरता के लिए किसी अन्य द्रव्य पर निर्भर होता, और वह द्रव्य किसी और पर, और इसी तरह आगे, तो श्रृंखला अंतहीन होती, और हमें अंततः यह स्वीकार करना पड़ता कि विद्यमान द्रव्यों में एक विशेष द्रव्य ऐसा होना ही चाहिए जो स्वयं पर घूमे और साथ ही अन्यों के घूर्णन में भी सहायता करे। मान लीजिए हम त१, त२, त३... त द्रव्यों की एक श्रृंखला के रूप में प्रतिष्ठापित करें, जिसमें त१ पदार्थ के कणों और अन्य ज्ञात द्रव्यों के घूर्णन का कारण है, त२ त१ का, और इसी तरह आगे। तब, उपर्युक्त अवलोकनों के आलोक में, त एक ऐसा द्रव्य है जिसके कण घूर्णन-खंभों के रूप में विद्यमान हैं और अपने ही घूर्णन के लिए स्वयं पर निर्भर हैं। अब, चूँकि त हमें घूर्णन-खंभे प्रदान करता है, और स्व-निरन्तरता से भी संपन्न है, अतः शेष श्रृंखला — त१, त२, इत्यादि — का अस्तित्व में कोई भी प्रयोजन नहीं है। अतः, केवल त को ही मान्यता दी जानी चाहिए; और चूँकि यह काल के द्रव्य में आवश्यक समस्त गुणों से संपन्न है, अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि यह स्वयं काल ही है।*

'शुद्ध अस्तित्व' और 'सत्ता' की निरन्तरता के बीच हमारे द्वारा बल दिया गया भेद, यहाँ यह इंगित किया जा सकता है, विशुद्ध काल्पनिक अथवा शब्दों का मात्र मामला नहीं है; इन दोनों पदों के बीच एक वास्तविक भेद है और यह इस तथ्य में निहित है कि उत्तरार्ध में उपस्थित कार्यशीलता

का संकेत पूर्व में सर्वथा अनुपस्थित है। 'होना' और 'निरन्तर होते रहना' एक ही वस्तु न होने के कारण, इनके बीच का भेद ठीक-ठीक वही है जो कार्य के विचार के मूल में है, क्योंकि प्रकृति में होना वास्तव में केवल कार्य करना ही है। दूसरे शब्दों में, शुद्ध कार्यरहित 'होना' मन के लिए सर्वथा अचिन्त्य है, अतः अस्तित्व उसे नहीं आरोपित किया जा सकता जो समस्त कार्य से रहित है। निरन्तर होते रहना, तब, समस्त वस्तुओं के संबंध में सत्य है, और यह निरन्तरता स्वयं केवल काल के द्रव्य की सहायता से ही संभव है, जैसा पहले ही दिखाया जा चुका है।

काल के इस द्रव्य को जैन दार्शनिकों द्वारा निश्चय काल कहा जाता है, ताकि इसे व्यावहार (व्यावहारिक) काल से भेद किया जा सके जो किसी भी अर्थ में एक द्रव्य नहीं, अपितु केवल अवधि का एक माप है — घंटे, दिन, और इसी प्रकार के अन्य।

यही काल का व्यावहार पक्ष है जिसके विषय में कहा जाता है कि यह जानने वाली चेतना को प्रागनुभविक (à priori) रूप से दिया गया है, जैसा कांट और शोपेनहावर के निम्नलिखित तर्कों से स्पष्ट होगा:*

(१) काल का विचार अनुभव से व्युत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि यदि यह प्रागनुभविक रूप से उनके मूल में न होता तो हमें समकालिकता अथवा अनुक्रम की चेतना ही न हो सकती।

(२) हम काल में से समस्त वस्तुओं को विचार से हटा सकते हैं, किन्तु स्वयं काल को नहीं।

(३) काल कोई विवेचनात्मक अथवा सामान्य विचार नहीं है, क्योंकि भिन्न-भिन्न काल केवल उसी एक काल के भाग हैं, और एक वस्तु द्वारा दी गई प्रस्तुति एक प्रत्यक्ष है।

(४) यदि किसी वस्तु की हमारी प्रस्तुति विचारों के कारण होती, तो आंशिक प्रस्तुतियाँ पहले बनतीं, और सामान्य विचार इन्हें एक साथ रखकर बनता। किन्तु काल की अनंतता केवल एक ही अंतर्निहित काल की सीमाओं के द्वारा ही संभव है। अतः काल की हमारी प्रस्तुति एक प्रागनुभविक प्रत्यक्ष है।

(५) काल के सिद्धान्त, सामान्यतः, आपाततः-निश्चित निश्चितता रखते हैं, किन्तु यदि वे अनुभव से व्युत्पन्न होते तो उनमें यह न हो सकती। काल की प्रागनुभविक प्रस्तुति के बिना, परिवर्तन अथवा गति (स्थान का परिवर्तन) का विचार असंभव होता। काल उसी स्थान में परिवर्तन की संभावना है।

*देखें एम. केली कृत 'कांट्स फिलॉसफी ऐज़ रेक्टिफाइड बाय शोपेनहावर'*

इस प्रकार, जानने वाले विषयी के दृष्टिकोण से, काल परिवर्तन की चेतना की एक प्रागनुभविक शर्त है। इसका तात्पर्य यह लिया जा सकता है कि काल प्रत्यक्ष की एक वस्तु नहीं, अपितु सारतः मानसिक कल्पना का विषय है।

नियमित रूप से पुनरावर्तित होने वाली घटनाओं और एक चक्र के बीच सादृश्य से प्रभावित होकर, प्राचीनों ने काल को चक्र (पहिया) के रूप में वर्णित किया, और उसे काल (गतिकर्ता) कहा। और, चूँकि समस्त निकाय कालक्रम में रूप के विघटन के अधीन हैं, और चूँकि मृत्यु केवल उस रूप-विघटन को द्योतित करती है जो किसी निकाय पर ऊर्जा, अर्थात् गति, की क्रियाशीलता से उत्पन्न होता है, अतः काल भी संहारक के रूप में माना जाने लगा।

हिन्दू पुराण-कथा में काल का प्रतिनिधित्व गरुड़, पक्षियों के राजा, द्वारा किया जाता है। वे व्यावहारिक रूप से अजेय हैं और देवताओं के साथ एक संघर्ष में स्वयं का अच्छा लेखा-जोखा देते हैं। स्वयं विष्णु भी उन्हें पराभूत नहीं कर सके, यद्यपि उनके बीच संपन्न शान्ति-संधि की शर्तें देवता की श्रेष्ठता के विषय में कोई संदेह नहीं छोड़तीं। समझौते के परिणामस्वरूप, गरुड़ विष्णु के वाहन का पद स्वीकार करते हैं, इस शर्त पर कि उन्हें उत्तरार्ध के रथ पर उनकी ध्वजा के रूप में स्थान दिया जाए। विष्णु मित्रता के प्रतीक स्वरूप उन्हें अमरत्व भी प्रदान करते हैं। इस कथा की व्याख्या काल के स्वभाव में खोजी जानी चाहिए जो शाश्वत, और, इस रूप में, अनिवार्यतः, अमर है। विष्णु की ध्वजा के रूप में, काल उस अमरत्व का सूचक है जो धर्म के साथ जुड़ी हुई है। गरुड़ को आगे यह भी दर्शाया गया है कि वे अपने पंजों में एक विशाल कछुए और एक विशाल हाथी को कसकर पकड़े और ढोते हैं जो एक-दूसरे से लड़ रहे थे और जिन्हें अंततः वे निगल जाते हैं। यह आत्मा और पदार्थ के बीच के स्वाभाविक विरोध की, तथा देहधारी जीवन के, कछुए द्वारा प्रतीकित,* और भौतिक यौगिकों के, जिनके लिए हाथी अपने विशालकाय होने के कारण एक उत्कृष्ट प्रतीक है, संहारक के रूप में काल की शक्ति की ओर संकेत करता है।

*देखें पूर्व, पृ. २२०*

काल के स्वभाव के पूर्वगामी स्पष्टीकरण से यह स्पष्ट है कि कोई भी ऐसा दर्शन जो निरन्तरता और अनुक्रम के तत्त्वों की उपेक्षा करता है, उसके रहस्य को सुलझाने में कभी सफल नहीं हो सकता। जगत् के अधिकांश दर्शनों ने इसे अनुक्रम का पर्यायवाची मान लिया है, और, फलतः, इसके सच्चे स्वभाव को समझने में विफल रहे हैं। कुछ तो इसे अस्तित्वमान द्रव्यों की सूची से हटा

देने की सीमा तक भी चले गए हैं, यह भूलते हुए कि वस्तुएँ केवल काल में ही निरन्तर रहती हैं और रूप के परिवर्तनों से गुज़रती हैं, अन्यथा नहीं। अपने एक पक्ष में, तब, काल निरन्तरता का स्रोत है, और दूसरे में, एक प्रकार का बल है जो वस्तुओं के लिए अनुक्रम और क्रमबद्धता को लाँघना असंभव बना देता है, उन्हें विकास के पथ पर बिन्दु-दर-बिन्दु, अथवा चरण-दर-चरण, यात्रा करवाकर। ब्रह्मांड से काल को एक सर्वव्यापी बल के रूप में हटा दीजिए, उसे व्यष्टियों में ऊर्जा के कैप्सूलों के रूप में प्रतिस्थापित कीजिए, और आप अनुक्रम की, अर्थात् क्रमबद्ध कार्य-कारणता की, संभावना को एक ही आघात में नष्ट कर देंगे, क्योंकि काल-रहित जगत् में वस्तुएँ चमत्कारिक दीपक के अलादीन के सुन्दर महल के समान प्रकट और लुप्त हो सकती हैं। काल को जगत् से सर्वथा हटा दीजिए, और आप उसके विकास को तत्क्षण रोक देंगे, क्योंकि कोई भी जगत्-प्रक्रिया वहाँ कल्पित नहीं की जा सकती जहाँ निरन्तरता और अनुक्रम दोनों ही अपनी अनुपस्थिति से स्पष्ट हों। इस प्रकार, एक दृष्टिकोण से, काल शाश्वत गति-यंत्र (perpetuum mobile) की मुख्य कमानी का कार्य करता है, और, दूसरे से, दुष्ट संयोग को जगत् में मनुष्यों और वस्तुओं के साथ अपनी विचित्र शरारतें खेलने से रोके रखता है।

अब हम धर्म और अधर्म नाम से ज्ञात दो द्रव्यों की ओर आते हैं। ये दो प्रकार के ईथर हैं जो क्रमशः जीवों और पदार्थ को उनकी गति और विश्राम में सहायता के रूप में आवश्यक हैं। धर्म के, एक सहगामी कारण के रूप में, बिना, प्रकृति में एक स्थान से दूसरे स्थान को गति एक असंभावना होगी, और अधर्म के बिना, गतिमान वस्तुओं के लिए विश्राम में आना संभव नहीं होगा। यह स्पष्ट है कि प्रकृति में वस्तुओं को अपनी गति के लिए किसी-न-किसी प्रकार के माध्यम की आवश्यकता है, क्योंकि, जैसा हेकल इंगित करते हैं (द रिडल ऑफ द यूनिवर्स, अध्याय १२), दूरी पर क्रिया का विचार दर्शन में सर्वथा असमर्थनीय है, और केवल इस मान्यता पर ही संभव है कि वस्तुएँ रिक्त आकाशों को एक छलांग लगाकर पार कर जाती हैं, जो एक अत्यन्त बेतुका प्रस्ताव है। इसकी संरचना के विषय में:—

> "ईथर परमाणुओं से बना नहीं है। यदि यह माना जाए कि यह सूक्ष्म समांगी परमाणुओं से बना है (उदाहरणार्थ, एक समान आकार के अविभाज्य ईथरीय कण), तो यह भी मानना होगा कि इन परमाणुओं के बीच कुछ और भी है, या तो 'रिक्त स्थान' अथवा एक तीसरा, सर्वथा अज्ञात माध्यम, एक विशुद्ध काल्पनिक 'अंतर-ईथर'; इसकी प्रकृति के विषय में प्रश्न हमें मूल कठिनाई पर ही वापस ले आता है, और इसी तरह अनन्त तक... चूँकि हमारे ज्ञान की वर्तमान

> स्थिति में एक रिक्त आकाश और दूरी पर क्रिया का विचार शायद ही संभव है... मैं ईथर के लिए एक विशेष संरचना प्रतिष्ठापित करता हूँ जो, गुरुत्वाकर्षणीय पदार्थ के समान, परमाण्विक नहीं है, और जिसे अस्थायी रूप से (आगे किसी निर्धारण के बिना) ईथरीय अथवा गतिक संरचना कहा जा सकता है।" (द रिडल ऑफ द यूनिवर्स)

यह स्पष्टतः सही है; और यह भी सरलता से देखा जा सकता है कि, गति ब्रह्मांड के समस्त भागों में वस्तुओं की एक विशेषता होने के कारण, उसका माध्यम एक ऐसा द्रव्य होना चाहिए जो क्रियाशीलता के संपूर्ण क्षेत्र को भर दे। इस बिन्दु तक जैन दर्शन आधुनिक विज्ञान के साथ पूर्ण सहमति में है, धर्म की उसकी अवधारणा विशुद्ध रूप से गति के एक सार्वभौमिक माध्यम की है — एक द्रव्य जो लोक के साथ सह-विस्तृत है और भागों तथा अंतरालों से रहित है। किन्तु जब वैज्ञानिक आगे बढ़कर, अपनी एकत्ववादी आकांक्षा के अनुपालन में, अपने ईथर को समस्त प्रकार के गुणों से संपन्न करने का प्रयत्न करते हैं, उसे यहाँ तक कि पदार्थ के परमाणुओं का स्रोत बताते हैं, तो जैन सिद्धान्त उनके दृष्टिकोणों का समर्थन नहीं करता।

जब कुछ हलकों में प्रचलित भ्रम विचार की स्पष्टता को स्थान देगा, तो यह पहचाना जाएगा कि कोई भी एक द्रव्य वे समस्त कार्य एक ही समय में नहीं कर सकता जो हम ईथर को आरोपित करते हैं। वर्तमान में, लोग इसे एक सर्वव्यापी, अ-परमाण्विक माध्यम कल्पित करते हैं, जो एक शुद्ध तरल के रूप में आंतरिक रूप से परिसंचरित होता है, और प्रकाश के तुल्य एक विशाल वेग रखता है। हम स्वीकार करते हैं कि हमें यह अवधारणा किसी भी अर्थ में स्पष्ट प्रतीत नहीं होती। एक अनन्त द्रव्य, स्वाभाविक रूप से, 'बाह्य रूप से' गति नहीं कर सकता, किन्तु क्या यह आंतरिक रूप से गति कर सकता है? यदि ईथर में गति है, तो यह केवल अंशों की गति हो सकती है; किन्तु फिर ईथर अ-परमाण्विक है (हेकल)। इस प्रकार हमें एक ऐसे द्रव्य के अंशों की गति मिलती है जो, अपनी परिभाषा से ही, अंशों से रहित है!

हमें ऐसा प्रतीत होता है कि त्रुटि प्रकृति में वस्तुओं के कार्यों के विश्लेषण में नहीं, अपितु उन्हें एक ही द्रव्य पर आरोपित करने में है। ऐसा दृष्टिकोण अपनाने के स्थान पर जो हमें स्पष्ट विचार के नियमों के साथ टकराव में डाल दे, हमें यह पहचानना चाहिए कि भिन्न-भिन्न कार्य भिन्न-भिन्न द्रव्यों द्वारा संपन्न किए जाते हैं जो सब एक ही आकाश में, परस्पर व्याप्त रीति में, विद्यमान हैं। आकाश तब उस भागरहित, अ-परमाण्विक, विस्तृत द्रव्य का प्रतिनिधित्व करेगा जो समस्त वस्तुओं के

लिए स्थान प्रदान करता है, काल, निरन्तरता और अनुक्रम के मूल में की यथार्थता अथवा बल का, जीव, स्व-सचेत सत्ताओं का, और पदार्थ,* परमाण्विक द्रव्य का, जो भिन्न-भिन्न प्रकार की ऊर्जा की क्रियाशीलता के परिणामस्वरूप ईथर में इधर-उधर गति करता है।

जैन सिद्धान्त के अनुसार, धर्म में पदार्थ के किसी विशिष्ट गुण का लेश नहीं, और यह पदार्थ नहीं है, यद्यपि सारतः एक द्रव्य है, अर्थात् एक स्वयं-सिद्ध यथार्थता। यह समस्त इन्द्रिय-गोचर गुणों से रहित है, और इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता। धर्म गति का कारण नहीं, अपितु केवल उसका माध्यम है। जैसे जल जलचर प्राणियों की गतियों में सहायक है किन्तु उन्हें गति में नहीं लाता, वैसे ही धर्म केवल गति का एक वाहन है, न कि उसका उद्भवकर्ता अथवा कारण।

अधर्म भी, धर्म के समान, एक ऐसा द्रव्य है जो संपूर्ण लोकाकाश में व्याप्त है; यह भी अपनी संरचना में अ-परमाण्विक है और इन्द्रिय-गोचर गुणों से रहित है। यह गति के शमन का सहगामी कारण है।

गति के शमन के सहगामी कारण के रूप में अधर्म की आवश्यकता किसी को भी स्पष्ट रूप से बोध होगी जो इस प्रस्ताव को ध्यान में रखे कि प्रत्येक निकाय अपनी विश्राम अथवा गति की अवस्था में एक सरल रेखा में एकसमान रूप से बना रहता है, सिवाय इसके कि उसे बाह्य बलों द्वारा उस अवस्था को बदलने के लिए बाध्य किया जाए, और स्वयं से यह प्रश्न पूछे कि जीवों और हल्के प्रकार के पदार्थों जैसे द्रव्य गति की अवस्था से विश्राम में कैसे आते हैं। घर्षण का सिद्धान्त इनमें से किसी पर भी लागू नहीं होता और जड़त्व आत्माओं का गुण नहीं है। विज्ञान को ज्ञात एकमात्र अन्य बल जिसे उन्हें विश्राम में लाने में सहायक माना जा सकता है वह गुरुत्वाकर्षण है, किन्तु वह केवल उस दिशा के निर्धारण से संबंधित है जो एक गतिमान निकाय ले सकता है, और यद्यपि यह कहना संभव है कि गुरुत्वाकर्षण स्वयं अंततः अधर्म का कार्य निष्पादित कर सकता है, किसी गतिमान निकाय को उस निकाय के पास लाकर विश्राम में जिसकी ओर वह गुरुत्वाकर्षित हुआ है, यह स्पष्ट है कि इसकी क्रियाशीलता एक निकाय को दूसरे की ओर आकृष्ट करने तक ही सीमित है। इसके अतिरिक्त, गुरुत्वाकर्षण एक सर्वव्यापी माध्यम नहीं है, यद्यपि सर सैयद आइज़ैक न्यूटन* को अधर्म के स्वभाव में एक सच्ची झलक प्राप्त थी प्रतीत होती है जब उन्होंने गुरुत्वाकर्षण के आकाश में व्याप्त एक ईथरीय माध्यम पर निर्भर होने की एक परिकल्पना का साहस किया।

*देखें जे.सी. मैक्सवेल कृत 'मैटर एण्ड मोशन'*

आगे के चिंतन से यह दिखेगा कि गुरुत्वाकर्षण द्रव्यगत निकायों की स्थिरता का माध्यम नहीं हो सकता; क्योंकि गति में एक निकाय दिया गया, गुरुत्वाकर्षण केवल उसकी गति की दिशा निर्धारित कर सकता है, किन्तु उसके भाग्य से इससे आगे कोई सरोकार नहीं रखता — चाहे वह उस राशि के पास विश्राम में आ जाए जिसकी ओर वह आकृष्ट हुआ है, अथवा उसकी सतह पर सदैव फिसलता और लुढ़कता रहे?

वैज्ञानिक चिंतन की प्रवृत्ति यह नियम सुझाती प्रतीत होती है कि किसी राशि की स्थिरता काल के किसी दिए गए क्षण में भिन्न-भिन्न दिशाओं से पदार्थ की अन्य राशियों द्वारा उस पर डाले गए 'खिंचाव' का परिणाम है; किन्तु शुद्ध आत्मा के मामले में अधर्म जैसे किसी द्रव्य की आवश्यकता स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। यह ध्यान में रखा जाना चाहिए कि गुरुत्वाकर्षण का जीव पर वास्तव में कोई प्रभाव नहीं है जिसका स्वभाव स्वयं स्वतंत्रता ही है। यह, तथापि, अपने उस शरीर के साथ साहचर्य के कारण भेद्य बना दिया जाता है जो उस बल के अधीन है। किन्तु यहाँ भी अवलोकन दर्शाता है कि व्यष्टि इच्छा-शक्ति गुरुत्वाकर्षण की क्रियाशीलता को आंशिक रूप से निरस्त करने की शक्ति से संपन्न है, जैसे चलने, कूदने और इधर-उधर गति करने में; और एक प्रशिक्षित तपस्वी की इच्छा-शक्ति का मामला सर्वथा विस्मयकारी है, इस सीमा तक कि यह लेविटेशन (हवा में उठने) की परिघटना को घटित करती है और मनुष्य को हवा में चलने में समर्थ बनाती है, जैसा प्राचीन अभिलेख साक्षी देते हैं।

अंततः, जब आत्मा पाप की अशुद्धियों के भार से पूर्णतः मुक्त हो जाती है, तो वह तुरन्त ऊपर उठती है और देवताओं में अपना स्थान लेने के लिए सिद्धशिला को चली जाती है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि शुद्ध आत्मा गुरुत्वाकर्षण की क्रियाशीलता के अधीन नहीं है, अतः, यदि उस बल को विश्राम के माध्यम के रूप में भी माना जाए, तो यह एक मुक्त आत्मा को गति से स्थिरता की अवस्था ग्रहण करने में सहायता के लिए उपलब्ध नहीं होगा। ऐसे एक माध्यम की आवश्यकता इस बात पर विचार करने से देखी जा सकती है कि उसके निषेध में क्या अन्तर्निहित है; क्योंकि जो मुक्त आत्मा ब्रह्मांड के शीर्ष पर निर्वाण की ओर उठती है वह तब निरन्तर एक शाश्वत अस्थिरता की अवस्था में फिसलती और लुढ़कती रहेगी। किन्तु यह स्पष्टतः बेतुका है।

अधर्म, तब, प्रकृति की व्यवस्था में एक आवश्यक तत्त्व है। इसका कार्य, तथापि, वस्तुओं को विश्राम में लाना अथवा उनकी गति में किसी भी रीति से हस्तक्षेप करना नहीं है; अपितु केवल उन्हें, जब भी और जिस भी कारण अथवा कारणों से उनकी गति रुके, स्थिर बनाने में समर्थ बनाना है।

इससे धर्म और अधर्म नाम से ज्ञात दोनों द्रव्यों का हमारा सर्वेक्षण पूर्ण होता है।

अब हम जैन धर्म के छह द्रव्यों में से अंतिम, पुद्गल, अथवा पदार्थ, के विचार की ओर आगे बढ़ते हैं, जो वेदान्त के अनुसार भ्रामक है, किन्तु जैन धर्म के अनुसार एक यथार्थता। पदार्थ चाहे कितना भी भ्रामक क्यों न हो, वह निश्चित रूप से कहीं से भी अस्तित्व में नहीं आया। हम अंततः इसे चाहे किसी भी नाम से पुकारने का निश्चय करें, यह कुछ ऐसा है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। यहाँ तक कि यदि इसे भ्रामक भी माना जाए, तो इसकी यथार्थता विवाद के लिए खुली नहीं, क्योंकि एक भ्रम एक निरपेक्ष अनस्तित्व नहीं है। हम इसे किसी भी रीति में देखें, हमें इसके अस्तित्व को, किसी-न-किसी रूप में, पहचानना ही होगा, क्योंकि रूपों के अतिरिक्त किसी चमत्कार के अर्थ में, अर्थात् कुछ भी न से किसी वस्तु का बनाया जाना, कोई सृष्टि है और हो सकती है। पदार्थ, तथापि, स्वयं रूप नहीं, अपितु समस्त रूपों का द्रव्यगत आधार है।

जैन दर्शन इंगित करता है कि पदार्थ छह भिन्न-भिन्न रूपों में विद्यमान है, अर्थात्, (१) सूक्ष्म-सूक्ष्म, अथवा अत्यंत सूक्ष्म, (२) सूक्ष्म, अर्थात्, सूक्ष्म, (३) सूक्ष्म-स्थूल, जो नेत्र के लिए अदृश्य है किन्तु किसी अन्य इन्द्रिय अथवा इन्द्रियों से प्रत्यक्ष किए जाने में सक्षम है, (४) स्थूल-सूक्ष्म, अर्थात् नेत्र के लिए दृश्य, (५) स्थूल, अर्थात्, स्थूल, जैसे जल, और (६) स्थूल-स्थूल, अर्थात्, अत्यंत स्थूल।

पदार्थ का एक और पक्ष है जिसे जैन धर्म में कर्म-पुद्गल कहा जाता है; किन्तु हम इसका उल्लेख बाद में करेंगे जब हम कर्म के सिद्धान्त से निपटने के लिए आएँगे। यहाँ यह इंगित करना पर्याप्त है कि, चूँकि हमारे विचार और कृत्य हमारे चरित्र को प्रभावित करते हैं, और हमारी आत्माओं की प्रवृत्तियों को सृजित अथवा संशोधित करते हैं, अतः कर्म को किसी-न-किसी प्रकार का बल पहचाना जाना चाहिए; क्योंकि यह प्रतिपादित करना हास्यास्पद होगा कि कोई वस्तु उस से प्रभावित हो सकती है जिसमें द्रव्यता का सर्वथा अभाव हो। अब, चूँकि पदार्थ के बिना बल अचिन्त्य है, अतः व्यष्टि कर्मों को किसी-न-किसी प्रकार के द्रव्यगत साधन के माध्यम से ही अपने प्रभाव उत्पन्न करने वाले माने जाने चाहिए।

पदार्थ के संबंध में अगला प्रश्न यह है कि क्या यह एक ही द्रव्य है अथवा अंशों से बना है। ब्रह्मांड का चलचित्रात्मक दृष्टिकोण पहली दृष्टि में यह सुझाव देता प्रतीत होता है कि पदार्थ केवल एक ही द्रव्य हो सकता है, किन्तु यदि हम उसके स्वभाव में कुछ और गहराई से झाँकें, तो हम तुरन्त पाते हैं कि वह दृष्टिकोण साधारण प्रत्यक्ष की शक्ति तक ही सीमित है जिसके साथ बुद्धि इस मामले में सहमत नहीं होती, इस आधार पर कि स्वयं चित्रों को अंशों से, अतः परमाण्विक पदार्थ, अथवा कणों से, बना होना ही चाहिए। इसके अतिरिक्त, यह एक स्वतःसिद्ध सत्य है कि यदि द्रव्यगत वस्तुओं को टुकड़ों में काटा जा सकता है, तो उन्हें अंशों से बना होना ही चाहिए। कठिनाई तभी उठती है जब हम एक कल्पित जगत्-प्रक्रिया के आरंभ में अपना स्थान लेते हैं, और, पदार्थ के अस्तित्व को एक दी हुई इकाई मानते हुए, यह खोजने का प्रयत्न करते हैं कि उस इकाई को परमाणुओं में कैसे काटा जा सकता था। अतः सांख्य, जो जगत्-प्रक्रिया अथवा विकास के आरंभ में अखंड प्रकृति को प्रतिष्ठापित करता है, और वे अन्य समस्त संप्रदाय जिन्होंने पुद्गल (पदार्थ) के स्थान पर काल्पनिक पदों — यथा योग-प्रणाली का आकाश — को प्रतिस्थापित किया है, उन्हें इसे अवर्णनीय बताकर स्पष्ट करना पड़ा है। हमें वस्तुओं के स्वभाव में एक महान् अंतर्दृष्टि प्राप्त होती प्रतीत होती है जब हम एक कल्पित स्रोत से पदार्थ की उत्पत्ति का निर्धारण करते हैं; किन्तु जिस क्षण हम पूछते हैं कि यह उस स्थान से कैसे बाहर आ सकता था जहाँ यह पहले अस्तित्वमान नहीं था, संपूर्ण भवन भूमिसात् हो जाता है, हमें कणों की अनन्तता के साथ, स्थायी यथार्थों के रूप में, छोड़ते हुए। इन कणों का स्वभाव अप्रासंगिक है; वे शुद्ध स्पंदन हो सकते हैं, अथवा किसी प्रकार के बल में भँवर, अथवा कुछ और भी; वे निश्चित रूप से किसी अविभाज्य समग्र के अंश नहीं हैं। हमें, अतः, यह निश्चय करना होगा कि पदार्थ को कणों की एक अनन्त संख्या से बना हुआ कहा जाए।

जैन धर्म के अनुसार, पदार्थ, अन्य द्रव्यों के समान, केवल गुणों का एक पुलिंदा है। गुण, अथवा गुण, वे हैं जो द्रव्यों में अन्तर्निहित होते हैं, जैसे द्रव्यता समस्त परमाणुओं और पदार्थ के निकायों में विद्यमान है। यह कहना सही नहीं कि गुण स्वयं में अस्तित्व रख सकते हैं। ऐसे...कई गुण हैं, किन्तु उनमें छह अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। ये हैं: (१) अस्तित्व, (२) उपभोज्यता अथवा उपयोगिता, (३) द्रव्यत्व, (४) ज्ञेयता, (५) विशिष्ट अथवा तादात्म्य-लय, अर्थात् वह बल जो किसी

वस्तु को अपने सारतत्त्व में परिवर्तित होने से रोकता है, तथा (६) किसी-न-किसी प्रकार का रूप धारण करने का गुण।

ये कुछ सामान्य गुण हैं; इनके अतिरिक्त, विशेष अथवा वैयक्तिक गुण भी हैं जो केवल विशेष रूपों, संयोगों, अथवा व्यष्टियों में ही विद्यमान होते हैं, जैसे हिम-श्वेतता, कमल-श्वेतता, और इसी प्रकार के अन्य।

थोड़े से चिंतन से यह स्पष्ट हो जाएगा कि ऊपर गिनाए गए छह सामान्य गुण केवल पदार्थ में ही नहीं, अपितु समस्त छह द्रव्यों में विद्यमान हैं। इनके अतिरिक्त, छह द्रव्यों में से प्रत्येक अपने विशेष गुण से भी संपन्न है, उदाहरणार्थ, आकाश में समस्त वस्तुओं के लिए स्थान खोजने और उन्हें समाहित करने का गुण है। अतः, सामान्य गुणों की कल्पना पदार्थ तथा प्रकृति में विद्यमान अन्य द्रव्यों के आधार-तत्त्व के रूप में की जानी चाहिए। अतः, पदार्थ को उस वस्तु के रूप में परिभाषित किया जाना चाहिए जो अन्य द्रव्यों के साथ कुछ निश्चित सामान्य गुण साझा करती है, और साथ ही उस वस्तु के रूप में भी जो अनन्त कणों से बनी है, जिनमें से प्रत्येक ऊपर वर्णित सामान्य गुणों से व्याप्त है।

पदार्थ के स्वभाव पर उपभोज्यता, अथवा उपयोगिता, के गुण के संदर्भ में और भी प्रकाश पड़ता है। जीव भोक्ता है, और पदार्थ भोग्य वस्तु; अतः उनके बीच का संबंध विषयी और विषय का है।

भोक्ता और भोग्य वस्तु के बीच का सामान्य तत्त्व विशेष गुणों से बना है, जैसे उदाहरणार्थ, नेत्र, जो रूप का भोक्ता है, और उसके विषय के बीच का सामान्य तत्त्व वर्ण है। क्योंकि नेत्र वर्ण के प्रति अनुक्रिया देने के लिए अनुकूलित है, जो पदार्थ का एक गुणधर्म है। अब, चूँकि इन्द्रिय-अंग जीव की केवल बहिर्मुखी इन्द्रिय-शक्तियाँ अथवा साधन हैं, अतः जो तत्त्व समस्त वस्तुओं के उपभोग को संभव बनाते हैं, वे आत्मा के संविधान में ही विद्यमान होने चाहिए। किन्तु ये आत्मा में केवल उपभोग की क्षमताओं के रूप में ही विद्यमान हो सकते हैं, इन्द्रिय-गोचर गुणों के रूप में नहीं, जैसे वे बाहर विद्यमान हैं।

यहाँ भी यह स्पष्ट है कि पदार्थ के विशेष गुण, अर्थात् शब्द, वर्ण, रस, गंध, तथा स्पर्श (स्पर्शजन्य गुणधर्म, अर्थात् ताप, शीत, और इसी प्रकार के अन्य) जीव के सुख-निष्कर्षण-योग्य गुणों के अनुरूप हैं। अतः आत्मा के सकारात्मक गुणों और जगत् में बाहर विद्यमान नकारात्मक

तत्त्वों के बीच की असमानता निरपेक्ष नहीं; दूसरे शब्दों में, जीव की स्पंदन-शक्ति का पदार्थ के स्पंदनों से लगभग वही संबंध है जो प्रत्यक्ष के विषयी का प्रत्यक्ष किए जाने वाले विषय से है। यह भाववाद के दृष्टिकोण से पूर्णतः मेल खाता है, जिसके अनुसार पदार्थ इन्द्रिय-गोचर गुणों के एक पुलिंदे के अतिरिक्त कुछ नहीं। जैन धर्म, इस प्रकार, यथार्थवाद और भाववाद के बीच विद्यमान प्राचीन शत्रुता के कारणों को पूर्णतः स्पष्ट कर देता है, और अपनी अनेकांत अन्वेषण-पद्धति द्वारा उन्हें एक सामान्य मंच पर एकत्रित कर देता है।

आत्माओं तथा पदार्थ दोनों की शाश्वतता प्रतिष्ठापित हो जाने पर, अब उनकी परस्पर-क्रिया के स्वभाव का विश्लेषण करना आवश्यक हो जाता है। इसे पूर्णतः समझने के लिए हमें अगुरुलघुत्व नामक गुण की ओर अपना ध्यान मोड़ना होगा, जिसे उस द्रव्य-गुणधर्म के रूप में परिभाषित किया जाता है जो द्रव्यों को जैसे वे हैं वैसा ही बनाए रखता है, और उन्हें अन्य वस्तुओं में परिवर्तित होने से रोकता है। यह प्रत्येक द्रव्य की उस विशेष लय के अतिरिक्त कुछ नहीं जो उसके स्पंदनों की तीव्रता द्वारा अपनी ही प्रकृति में बनाए रखी जाती है, यद्यपि निश्चित सीमाओं के भीतर तीव्रता के उतार-चढ़ाव के लिए पर्याप्त गुंजाइश दी गई है।

वस्तुओं के इस गुणधर्म के कारण, भिन्न-भिन्न द्रव्यों का संयोग न तो किसी पुराने द्रव्य के विनाश में परिणत होता है, न ही किसी नए द्रव्य की सृष्टि में, क्योंकि वह एक चमत्कार होगा, अपितु उनके तत्त्वों के एक नए रूप में संगलन में।

यह भी उल्लेखनीय है कि प्रकृति के द्रव्यों के बीच परस्पर-क्रिया केवल इस परिकल्पना पर ही संभव है कि उनमें कोई-न-कोई गुण, अथवा गुण, समान रूप से विद्यमान हों, जो उन्हें एक-दूसरे की ओर आकर्षित करते हैं, और रूप तथा कार्य के रूपांतरण के लिए यह आवश्यक है कि दो अथवा अधिक द्रव्य एक-दूसरे के आलिंगन में परस्पर आबद्ध हो जाएँ, जिससे उनके संयोजन के परिणामस्वरूप गुणों का एक नया समुच्चय उत्पन्न हो।

अब, जहाँ तक प्रकृति के दो प्रमुख द्रव्यों, अर्थात् जीव और पुद्गल, का संबंध है, उनके बीच के आकर्षण का निर्धारण इस तथ्य से किया जा सकता है कि पूर्व पदार्थ का ज्ञाता और भोक्ता है, जो, फलतः, ज्ञान और भोग का विषय है। उनके बीच का संबंध विषयी और विषय का है, जिसे सकारात्मक और नकारात्मक का भी कहा जा सकता है, क्योंकि दोनों द्रव्य ज्ञान और हर्ष के दो विपरीत पक्षों को प्रस्तुत करते हैं।

जीव और पदार्थ का संबंध निर्धारित हो जाने पर, अब हम उस बल के स्वभाव की जाँच कर सकते हैं जो उनकी परस्पर-क्रिया को लाता है। स्पष्टतः, ज्ञान वह बल नहीं है, क्योंकि कोई किसी वस्तु को उसके आलिंगन में बंधे बिना भी जान सकता है। और, जहाँ तक सिद्धात्मा की सर्वज्ञता की शक्ति का संबंध है, संपूर्ण ब्रह्मांड उनकी चेतना में, दर्पण के समान, प्रतिबिंबित होता है, बिना उन्हें तनिक भी बंधन में डाले। इस प्रकार, जो बल जीव और पदार्थ के बीच परस्पर-क्रिया लाता है वह केवल वही हो सकता है जो भोग के संबंध में उनके सम्बन्ध से उत्पन्न होता है। किन्तु यह पूर्णतः जीव की इच्छाओं पर निर्भर करता है, क्योंकि पदार्थ को भोग की कोई लालसा नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त, जीव भी अपने स्वभाव से इस बल के प्रति अभेद्य है, क्योंकि प्रत्येक जीव प्रत्येक प्रकार के भोग के पीछे नहीं दौड़ता, और यह भी क्योंकि वह इन्द्रिय-भोग को सर्वथा त्याग भी सकता है। इस प्रकार, जीव और पदार्थ के बीच परस्पर-क्रिया केवल तभी होती है जब पूर्व इन्द्रिय-विषयों के भोग की इच्छा से प्रेरित होता है, और, विपरीततः, पदार्थ आत्मा को केवल तभी प्रभावित कर सकता है जब वह अपनी इच्छाओं से भेद्य बना दी जाती है।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि आत्मा पदार्थ से प्रभावित होने के लिए उत्तरदायी तभी तक रहती है जब तक वह अशुद्धि की अवस्था में विद्यमान है। यह पदार्थगत अशुद्धियों के प्रभाव के कारण ही है कि वह पूर्णता और हर्ष की खोज में संसार में भटकती रहती है। स्वयं ज्ञान का विषय होते हुए, वह एक प्रश्नचिह्न — '?' — के समान भटकती है, स्वयं को परिभाषित करने का प्रयत्न करती हुई, और पदार्थ के अंधकारमय प्रभाव के अधीन, बार-बार, स्वयं को अपनी देह के साथ तादात्म्य में डालती है। इसकी स्वतंत्रता की स्वाभाविक लय फलतः स्वयं को प्रकट करने में असमर्थ रहती है, और संक्रमण के क्रम में समस्त प्रकार के परिवर्तनों से गुज़रती है — जिनके प्रकारों की संख्या ८४,००,००० अनुमानित की गई है। जब जीव की चेतना अपने भौतिक व्यक्तित्व की लय के साथ सामंजस्य में स्पंदित होती है, तो यह जीवन से केवल वे ही सुख निकाल सकती है जो उस निम्न स्तर पर स्पंदित होने वाले जीव के लिए संभव हैं। जीवन का हर्ष तब बढ़ता है जब यह अपनी लय के स्वर को उच्चतर शक्तियों की ओर उठाती है, जिनमें सबसे पूर्ण तीर्थंकर, अथवा ईश्वर-लय, कहलाती है।

आत्माओं में पदार्थ के प्रवाह के विषय के संबंध में, यह ध्यान में रखा जाना चाहिए कि वे अनादि काल से ही बंधन में उलझी हुई हैं। यदि ऐसा न होता, तो हमें या तो आत्माओं की एक

सृष्टि माननी पड़ती, अथवा एक पूर्ण जीव, अर्थात् ईश्वर, का अपनी ही हानि के लिए पदार्थ के साथ अपंग-कारी संबंधों में प्रवेश करने के लिए अवतरण मानना पड़ता। किन्तु ये दोनों ही प्रस्ताव दर्शन में असमर्थनीय हैं। एक तीसरा विकल्प जो प्रस्तुत किया जा सकता है वह यह है कि जीव किसी वायुरोधी कक्ष में बंद हैं, और उनमें से एक निश्चित संख्या को समय-समय पर विकास से गुज़रने के लिए जगत् में भेजा जाता है। यहाँ फिर से प्रश्न उठता है: क्या यह वायुरोधी कक्ष शुद्ध आत्माओं से भरा है, अथवा अशुद्धि में उलझी हुई आत्माओं से? किन्तु पहला विकल्प असमर्थनीय है, क्योंकि आत्मा अपनी स्वाभाविक शुद्धता में एक ईश्वर है, और उसे कहीं भी बंद करके नहीं रखा जा सकता; और दूसरा सीधे हमारे पक्ष का समर्थन करता है, और निगोद की ओर संकेत करता है, जो अविकसित जीवों का भंडार-गृह है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि बंधन को, अर्थात् आत्माओं की नकारात्मकता की अवस्था को, कोई आरंभ नहीं दिया जा सकता। नकारात्मकता का परिणाम यह है कि आत्माएँ पदार्थ से प्रभावित होने के लिए उत्तरदायी हो जाती हैं, जिससे वे अपनी क्षमताओं के अनुसार निरन्तर हर्ष निकालने का प्रयत्न करती रहती हैं। इससे आत्मा का पदार्थ के सूक्ष्म कणों के साथ संगलन होता है, जिसके परिणामस्वरूप आत्मा का बंधन होता है। क्योंकि जैसे गैसीय पदार्थ जल में परिवर्तित होने के परिणामस्वरूप अपनी गैसीय प्रकृति से वंचित हो जाता है, वैसे ही आत्मा पदार्थ के चंगुल में असहाय अनुभव करती है।

आर्य-समाजी की मोक्ष को एक अस्थायी अवस्था मानने की कल्पना, अब यह स्पष्ट हो जाना चाहिए, दार्शनिक दृष्टि से असमर्थनीय है; क्योंकि कोई भी बल मुक्त जीव को निर्वाण में अभिभूत करने और उसे उस उच्च तथा पवित्र आसन से नीचे खींचने में समर्थ नहीं। जहाँ तक इच्छा का संबंध है, सर्वज्ञ सिद्धात्मा न केवल इसे आत्माओं का परम शत्रु जानते हैं, अपितु उनके विषयों की कोई लालसा भी नहीं रख सकते, क्योंकि वे अपनी शुद्ध तथा पवित्रीकृत आत्माओं के स्वाभाविक गुण, आह्लादमय आनन्द की अवस्था के सचेत उपभोग द्वारा, 'देह' के प्रलोभनों से बहुत ऊपर स्थित हैं। इस प्रकार, उनके मामले में 'पतन' की कोई संभावना नहीं। इस संबंध में ध्यान देने योग्य महत्त्वपूर्ण बात वह सिद्धान्त अथवा नियम है कि कर्मों का बंधन वस्तुतः इच्छाओं का बंधन है, अतः जहाँ आत्मा की ओर से स्वयं कोई इच्छा नहीं है वहाँ उसके लिए कोई बंधन नहीं हो सकता। दूसरे शब्दों में, कोई भी किसी आत्मा को बंधन में बलपूर्वक नहीं डाल सकता, जैसे कोई भी उसे उसके बंधनों से मुक्त नहीं कर सकता। हमारा निष्कर्ष, तब, यह है कि निर्वाण को अस्तित्व की

एक अस्थायी अवस्था मानने की धारणा दर्शन में सर्वथा असमर्थनीय है, और इसे गुणहीन मानकर अस्वीकार किया जाना चाहिए।

यह तर्क दिया जा सकता है कि काल और आकाश में जो कुछ भी विद्यमान है वह कार्य-कारणता के अधीन है और अतः परिवर्तन के लिए उत्तरदायी; किन्तु यह तर्क आध्यात्मिक चिंतन की उस विकृति का एक उदाहरण है जो तथ्यों की परवाह किए बिना व्यापक सामान्यीकरण करने में आनन्द लेती है। क्योंकि यह कहना कि काल और आकाश में विद्यमान समस्त वस्तुएँ परिवर्तन के लिए उत्तरदायी हैं, एक निपट अनुमान है, कम-से-कम तब तक जब तक कोई यह सिद्ध नहीं कर देता कि सिद्धात्मा भी अपनी उच्च अवस्था से 'पतन' का अनुभव करने के लिए उत्तरदायी हैं। जहाँ तक कार्य-कारणता का संबंध है, आधुनिक काल में पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग द्वारा इसके विचार को इस सीमा तक भ्रमित किया गया है कि व्यक्ति दार्शनिकों के विद्वत्तापूर्ण प्रवचनों की अपेक्षा सामान्य बुद्धि की आवाज़ पर भरोसा करने में राहत पाता है। आत्म-निरीक्षण यहाँ यह तथ्य प्रकट करता है कि मन में, व्यावहारिक अवलोकन से जन्मी और वास्तविक अनुभव से पोषित, प्रत्येक घटना के कारण अथवा कारणों की खोज करने की एक प्रवृत्ति है, और यह मानने से इनकार करता है कि कारण और कार्य का संबंध जगत् की घटनाओं की संपूर्ण श्रृंखला को शासित नहीं करता। यह उन अर्थों में से एक है जिनमें कार्य-कारणता शब्द का प्रयोग किया जाता है। इसके अतिरिक्त, कार्य-कारणता किसी निकाय पर ऊर्जा की क्रियाशीलता को भी अन्तर्निहित करती है, जैसे सूर्य के ताप द्वारा हिम का पिघलना। इस दृष्टांत में सूर्य का ताप निमित्त कारण कहलाता है और हिम परिणामी जल-धारा का उपादान कारण। कार्य-कारणता का एक और अर्थ है जो एक कर्ता के विचार को अन्तर्निहित करता है, जैसे कुम्हार को मिट्टी से बनाए गए घड़े का कारण कहा जाता है। कार्य-कारणता का सिद्धान्त, तथापि, कुछ द्रव्यों के अस्तित्व पर, और उनके निश्चित विनिर्दिष्ट परिस्थितियों में एक स्थान और एक समय में एकत्र आने पर निर्भर करता है। इससे परे कार्य-कारणता की अवधारणा में ऐसा कुछ नहीं जो इसे तार्किक चिंतन में हस्तक्षेप करने का अधिकार दे।

मोक्ष की शाश्वतता की समस्या पर कार्य-कारणता के सच्चे सिद्धान्तों को लागू करते हुए, यह एक ही दृष्टि में देखा जा सकता है कि जहाँ तक कर्तृत्व के विचार का संबंध है, कोई भी नहीं है जो एक मुक्त आत्मा को पुनः बंधन और संसरण की अवस्था में बलपूर्वक डाल सके, क्योंकि ईश्वरों से

उच्चतर कोई सत्ताएँ नहीं हैं, और वे त्याग के जीवंत मूर्तिमान रूप होने के कारण एक-दूसरे को बंदी बनाने में लगे हुए कल्पित नहीं किए जा सकते। साधन अथवा निमित्त कारण के संदर्भ में भी, ऐसा कोई बल नहीं जो शुद्ध आत्मा पर क्रियाशील हो सके; और पदार्थ उस आत्मा के निकट आकर उसे अभिभूत नहीं कर सकता जिसकी चेतना इच्छा से अकलुषित है। इस प्रकार, कार्य-कारणता का मुक्त आत्मा पर कोई प्रभाव नहीं, जिसे शाश्वत काल के लिए ऐसा ही अस्तित्वमान माना जाना चाहिए। अब हम कह सकते हैं कि मुक्त आत्मा की उच्च तथा उदात्त अवस्था के संबंध में एक आरंभ है किन्तु कोई अन्त नहीं, किन्तु अमुक्त आत्मा के बंधन के संबंध में कोई आरंभ नहीं किन्तु एक अन्त है, सिवाय उस स्थिति के जहाँ व्यष्टि कर्मों की दुष्टता द्वारा निर्वाण की प्राप्ति की संभावना ही अवरुद्ध कर दी गई हो, जिस स्थिति में उसकी दासता का न तो कोई आरंभ है न अन्त।

जगत्-प्रक्रिया के संबंध में यह और भी अवलोकित किया जाना चाहिए कि जीवों का विकास लय, अथवा अवस्थाओं, के निम्नतम से उच्चतम प्रकारों की ओर उसी क्रम में आगे नहीं बढ़ता जो 'पतन' की कथा के असावधान अवलोकन से सुझाया जाता प्रतीत हो सकता है। वह गाथा केवल इस सीमा तक उपयोगी है कि यह आत्मा की गुप्त दिव्यता की ओर संकेत करती है, इससे आगे नहीं। यह सत्य है कि जीव की अवस्था में उसके संक्रमण के क्रम में बहुत उतार-चढ़ाव है, किन्तु रेखा के दो छोर, एक निगोद की अवस्था द्वारा चिह्नित और दूसरा ईश्वरों की पूर्णता द्वारा, अपरिवर्तनीय रूप से स्थिर हैं। वस्तुतः, 'पतन' की गाथा के रचयिता का यह आशय नहीं था कि एक पूर्ण ईश्वर दुर्दशा और पाप की अवस्था में गिर गया, अपितु यह कि उस कथा को आत्मा के भीतर विद्यमान दिव्य गुणों और शक्ति की गुप्तता के स्मारक के रूप में लिया जाना चाहिए। अतः, वह जीव जो, मानव अवस्था प्राप्त कर लेने पर, अपनी दिव्यता को साकार करने का प्रयत्न नहीं करता, अपितु इन्द्रिय-तृप्ति की खोज में लीन हो जाता है, वह सचमुच एक पतन का अनुभव करता है, ऐसा कहा जा सकता है। बुद्धि का पशु-वासनाओं और शारीरिक लालसाओं की सेवा में प्रयोग ही वह है जो पतन का गठन करता है। मनुष्य एक विचारशील सत्ता है और उसके समक्ष महानता का आदर्श रखा गया है, किन्तु जब वह इसे त्यागकर एक पशु के अस्तित्व को अपना लेता है और विचारक की स्थिति से इन्द्रिय-लोलुप की स्थिति में गिर जाता है, तो वह उच्चतर से निम्नतर अवस्था में एक पतन का अनुभव करता है। विकास के क्रम में मनुष्य के रूप में जन्म प्राप्त करना

कठिनाई से होता है; किन्तु उसे प्राप्त कर लेने पर, यदि वह पुनः पशु का जीवन जीता है, तो इसके लिए 'पतन' से बेहतर कोई शब्द नहीं।

कपिल के अनुसार, जो सांख्य दर्शन के प्रवर्तक हैं, विकास वस्तुतः पहले एक अन्तर्विकास है, ताकि पुरुष, अर्थात् शुद्ध चैतन्य, सर्वप्रथम पदार्थ में अवतरित होकर उसमें आत्मायमान हो जाए, और एक के बाद एक बुद्धि, अहंकार, तथा इसी प्रकार के अन्य को विकसित करे। किन्तु, जैसा हमने पिछले अध्याय में कहा, यह सर्वथा असमर्थनीय है, क्योंकि एक सर्वज्ञ सत्ता के पदार्थ में अवतरित होने का, अकल्पनीय रूप से दीर्घकालीन बंधन की पीड़ा और यातना सहने के लिए, कोई भी कारण नहीं खोजा जा सकता। इसके अतिरिक्त, सांख्य दर्शन, यद्यपि ब्रह्मांड की अभिव्यक्ति और विनाश के चक्रों के आवर्तन की परिकल्पना पर आधारित है, फिर भी कहीं भी उन आत्माओं का लेखा-जोखा नहीं देता जो जगत्-चक्र के अन्त में अविकसित रह जाती हैं, न ही उनका जो शाश्वत मुक्ति प्राप्त करती हैं। उत्तरार्ध पुनः संसरण में उलझी हुई नहीं हो सकतीं, और उन्हें संसार के बंधनों से मुक्त होकर कहीं-न-कहीं अस्तित्वमान होना ही चाहिए; और पूर्व सर्वथा अस्तित्व से लुप्त नहीं हो सकतीं। उनकी प्रकृति उन्हें सिद्धशिला तक उठने से रोकेगी, अतः उन्हें संसार में ही कहीं-न-कहीं रहना ही होगा। यह बिन्दु अकेला ही यह दर्शाने के लिए पर्याप्त है कि कपिल की व्यवस्था उतनी ही असंतोषजनक है जितना शुद्ध और सरल अद्वैतवाद।

इसके अतिरिक्त, यह पूछना अनुज्ञेय है कि पुरुष का क्या तात्पर्य हो सकता है? क्या वह एक गुण है, अथवा एक सत्ता? यदि पूर्व, तो वह स्वयं में अस्तित्व नहीं रख सकता, क्योंकि गुणों को अन्तर्निहित होने के लिए द्रव्य के एक आधार-तत्त्व की आवश्यकता होती है। यदि उत्तरार्ध, अर्थात् एक सत्ता, तो आत्माओं की बहुलता की व्याख्या कैसे की जाए? वे निश्चय ही न तो अनस्तित्वमान हैं, न ही किसी विशेष सत्ता के प्रतिबिंब। यदि अब यह स्वीकार किया जाए कि पुरुषों की एक बहुलता है, तो उनके एक ही समय में परस्पर अन्तर्विकास और विकास में उलझने के विषय में महान् कठिनाई उत्पन्न होती है। किन्तु सांख्य के पास इसके उत्तर में कहने के लिए कुछ भी नहीं।

हम इस प्रकार यह निष्कर्ष निकालते हैं कि अन्तर्विकास और विकास के आवर्तन की धारणा उतनी ही असमर्थनीय है जितनी किसी जगत्-रचयिता ईश्वर की इच्छा-मात्र से ब्रह्मांड की सृष्टि की धारणा।

संक्षेप में, अस्तित्व के रहस्य की व्याख्या ने हमें तत्त्वमीमांसा और धर्म के गहनतम रहस्यों में ले जाया है। जगत्-प्रक्रिया के स्वभाव में झाँकते हुए, हमने देखा है कि किस प्रकार विचार के प्रमुख संप्रदायों द्वारा प्रतिष्ठापित प्रत्येक सिद्धान्त संपूर्ण विषय का केवल एक आंशिक दृष्टिकोण है, जिसे उसकी संपूर्णता में केवल जैन धर्म में ही विवेचित किया गया है। इस प्रकार, वेदान्त, प्रक्रिया के औचित्य को प्रस्तुत करने का प्रयत्न करते हुए भी, माया की क्रियाविधि और दृश्य ब्रह्मांड के निर्माण के लिए आवश्यक सामग्री के स्वभाव का वर्णन करने में विफल रहता है। इसकी सत्ता की परिभाषा भी कुछ हद तक जटिल है, और उन बौद्धिक कठिनाइयों से बचने के लिए पर्याप्त निश्चित नहीं जो तत्त्वमीमांसा के क्षेत्र में प्रचुर मात्रा में हैं। बौद्ध धर्म भी वही भूल करता है। परिवर्तन (becoming) के सिद्धान्त पर इसकी पकड़ सचमुच अद्भुत है, किन्तु वहीं इसका संपूर्ण दर्शन समाप्त हो जाता है। विचार-सिद्धान्त (Theory of Ideas) को भी, इसी प्रकार, कोई बेहतर सफलता नहीं मिलती, और यह स्वयं में जगत्-प्रक्रिया की व्याख्या के लिए सर्वथा अपर्याप्त है। जब हम बाइबिल और पवित्र क़ुरान की ओर मुड़ते हैं तो हमें वही कठिनाई मिलती है; इन पवित्र ग्रंथों के पास रहस्यवाद और हठधर्मिता के अतिरिक्त देने के लिए और कुछ नहीं, जिससे बुद्धि इस समय तक सर्वथा उकता चुकी है। यूरोपीय दार्शनिकों के चिंतन के विषय में, वे स्पष्टतः विषय की जड़ तक नहीं जाते, और जहाँ भी वे ऐसा करने का दावा करते हैं, वे सहज ही अपूर्ण और एकपक्षीय सिद्ध होते हैं। भौतिकवाद, अपने स्वरूप से ही, दर्शन के न्यायालय में मुश्किल से खड़े होने योग्य है, और हम उसे तदनुसार छोड़ देते हैं।

इस प्रकार हम प्रत्येक द्वार से निराश होकर मुड़ते हैं, और जैन धर्म से पूछते हैं कि क्या उसके पास उस पहेली का कोई संतोषजनक समाधान है जिसने अपवाद के बिना प्रत्येक को चकित कर दिया है। यह तुरन्त हमें अपनी छह सत्ताओं से परिचित कराता है, जिनकी सहायता के बिना केवल भ्रम ही उत्पन्न किया जा सकता है। उनके स्वभाव, गुणधर्मों, और कार्यशैली की पहले ही पर्याप्त चर्चा की जा चुकी है; और यह जगत् के लिए है कि वह निर्णय करे कि यह जगत्-प्रक्रिया की पूर्ण समझ की स्वाभाविक मानवीय प्यास को, तर्क की सबसे कठोर मांगों के अनुरूप, संतुष्ट करता है अथवा नहीं।

अपने अत्यन्त यथार्थ तत्त्वमीमांसा की सहायता से, जैन धर्म हमें पूर्णतम संभव सीमा तक यह समझने में समर्थ बनाता है कि किस प्रकार ब्रह्मांड शाश्वत है और छह द्रव्यों से बना है, और किस

प्रकार उनकी परस्पर-क्रिया जगत्-प्रक्रिया का कारण है। यह हमें ईश्वर के विचार में एक सच्ची अन्तर्दृष्टि प्रदान करता है, और यह स्पष्ट करता है कि किस प्रकार व्यष्टि आत्मा पवित्रों की उच्च तथा उदात्त अवस्था की आकांक्षा कर सकती है।

जैन धर्म हमें मिथकों और अन्य पवित्र परंपराओं के अर्थ को सुलझाने में भी समर्थ बनाता है, और, अपने दर्शन की बहुआयामिता के कारण, वह एकमात्र साधन है जिसके द्वारा समस्त मतों के मूल में विद्यमान सत्य को प्रतिष्ठापित किया जा सकता है, जिनमें से प्रत्येक अपने दार्शनिक दृष्टिकोण के एकपक्षीय निरपेक्षतावाद के कारण त्रुटि में गिर गया है। संक्षेप में, केवल जैन दर्शन ही वह सामान्य मंच प्रदान करता है जहाँ अन्य समस्त मत मिल सकते हैं, और मैत्री की निष्कपट पकड़ में एक-दूसरे के हाथ थाम सकते हैं।

मुक्ति के एकमात्र साधन के रूप में दर्शन का मूल्य अतिशयोक्ति से परे नहीं है। मिथक हमें केवल अंधविश्वास में डालते हैं, और रहस्यवाद बौद्धिक कोहरा और धुंध उत्पन्न करता है। स्पष्ट चिंतन ही अकेला वह है जो हमें प्रकाश और जीवन के उस क्षेत्र में ले जा सकता है जिसकी प्रत्येक आत्मा प्यासी है। इतिहास दर्शाता है कि मिथक और गाथा की समाधि में गड़ा हुआ सत्य किस प्रकार शीघ्र ही दृष्टि से लुप्त हो जाता है और अपवित्र अंधविश्वास तथा अंधी कट्टरता से प्रतिस्थापित हो जाता है, जिसे प्रायः श्रद्धा समझ लिया जाता है। इन मिथकों का प्रयोजन महान् है, किन्तु, जब सब कुछ कहा और किया जा चुका हो, तो वे केवल उसी के लिए उपयोगी हैं जो उनके महत्त्व को समझ सके। आत्मा पूर्णता के महान् आदर्श, अर्थात् ईश्वरत्व, की साक्षात्कार-प्राप्ति के लिए लालायित है, किन्तु धर्मशास्त्रियों के पास उसे सांत्वना देने के लिए रहस्यमय और धुंधली हठधर्मिताओं के अतिरिक्त और कुछ बेहतर नहीं। उनके पास उस रोटी के स्थान पर, जो हम माँगते हैं, केवल पत्थर के टुकड़े देने को हैं। ईश्वरत्व की साक्षात्कार-प्राप्ति के लिए, तथापि, सत्य की, अर्थात् प्राप्त किए जाने वाले आदर्श की, अवधारणा, और उसे प्राप्त करने के साधनों का ज्ञान, स्पष्टतम संभव रीति में आवश्यक है। यह मिथकशास्त्र, जो अस्पष्टता की भूलभुलैया के अतिरिक्त कुछ नहीं, कभी भी अदार्शनिक व्यक्ति को सत्य की व्याख्या और चिंतन की स्पष्टता में सहायता कर सकता है, यह कल्पना से परे है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि धर्म तभी लाभप्रद हो सकता है जब वह सटीक और स्पष्ट चिंतन के अनुकूल हो। मिथकों और गाथाओं के माध्यम से जनसाधारण को शिक्षित करने का प्रयत्न पर्याप्त परीक्षण से गुज़र चुका है, किन्तु इसने

केवल मनुष्यों को हृदय से अधर्मी बनाने का ही काम किया है। अब समय आ गया है कि सत्य को उसके शुद्ध निर्वेष रूप में उन्हें प्रदान किया जाए। हमारा महान् दोष यह है कि हम सदैव स्वयं को शिक्षक के रूप में प्रतिष्ठापित करने के लिए तत्पर रहते हैं, बिना कभी स्वयं विद्यार्थी रहे। जब हम धर्म के निकट सत्य के विनम्र जिज्ञासुओं के रूप में आते हैं, न कि कट्टरता अथवा दंभ की भावना में, तब यह देखा जाएगा कि सत्य प्रदान करने का दावा करने वाली व्यवस्थाओं में जैन धर्म अद्वितीय है।